हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र



डॉ. रामबहादुर राय

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।



हिन्दी आलोचना
और
आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

•

हिन्दी आलोचना
और
आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

डॉ० रामबहादुर राय
प्राध्यापक हिन्दी
सान्ध्य विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

संस्करण	प्रथम, १९८० ई०
प्रकाशक	मालती प्रकाशन, ५ विजयग्रामकालोनी, नईबस्ती (ईश्वरगंगी), वाराणसी ।
वितरक	विश्वविद्यालय प्रकाशन, विशालाक्षी, चौक, वाराणसी ।
मुद्रक	न्यू कमला मुद्रण एस. ६/२७१, नईबस्ती, पाण्डेपुर, वाराणसी कैण्ट–२.
मूल्य	पचास रुपये मात्र

समर्पण

आचार्यप्रवर

पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र

के कर-कमलों में सादर

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"

पातनिका

शब्दब्रह्म के सिद्ध भाष्यकार मिश्रजी

पूर्वजों का अपनी सन्तति पर बड़ा ऋण होता ह—अतः पूर्वज उत्तमर्ण हैं और सन्तति अधमर्ण। वह सन्तति कृतघ्न है जो इस ऋण को नहीं स्वीकारती। केवल स्वीकार करने से भी क्या होता है—उसकी परिणति की व्याप्ति 'प्रदेय'-बोध और उसके मूल्यांकन तक जानी ही चाहिए, ताकि सन्तति 'प्रदेय' या 'अवदान' की सन्तति को गत्यात्मक रखकर अन्वर्थनामा हो सके—अपने को सार्थक कर सके। कुछ ऐसी ही सात्त्विक भावना से प्रेरित होकर हम सब ऐसे प्रयत्नों में प्रवृत्त होते हैं—रामबहादुर राय उपाधि–प्राप्ति के व्याज से इसी भावना को साकार कर रहे हैं। उनका प्रस्तुत प्रयास पुनीत है—फलतः साधुवाद का भाजन है।

डॉ० राय का संकल्प है कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक अवदान का आकलन किया जाय और उनका वैशिष्ट्य स्पष्ट किया जाय। वे जानते हैं कि पंडित जी कभी सर्जक भी रहे हैं, पर उनका आलोचक रूप उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वथा उल्लेख्य है—फलतः सर्जक पक्ष का सामान्यतः संकेत करते हुए भी उन्होंने अपने प्रयास को उनके आलोचक रूप पर ही केन्द्रित किया है। साहित्य के क्षेत्र में 'आलोचन' की व्याप्ति अब 'पाठ' से लेकर उसके मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति के विश्लेषणात्मक पुनराख्यान तक है। पंडितजी की आलोचनयात्रा 'पाठ से 'पुनराख्यान' तक प्रसृत है। पुनराख्यान जिस सर्जनात्मक अनुभूति का होता है 'शैली वैज्ञानिकों' और 'नए समीक्षकों' का अभिमत है कि उसका अनावरण-प्रकाशन 'शब्द' के ही सहारे होना चाहिए—तभी आलोचन की तटस्थता का सम्यक् और साहित्यिक निर्वाह हो सकता है। इनकी दृष्टि में भाषा काव्य का माध्यम नहीं, वही है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य की जितनी परिभाषाएँ की हैं—सभी 'शब्द' अथवा 'शब्दार्थ' गर्भ हैं। आनन्दवर्धन ने भी कहा है—

> उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
> शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयी भवेत्॥

'चारुता' काव्य का अन्तस्तत्व है—उस अन्तस्तत्व का प्रकाशन अन्वय-व्यतिरेक प्रमाणित जिस 'शब्द' से हो, वही 'शब्द' 'ध्वनि' कहा जाता है—ध्वनिकाव्य या प्रशस्तकाव्य कहा जाता है। काव्य में सटीक शब्द का प्रयोग होना चाहिए—उसकी जगह कोई भी

दूसरा शब्द न ले सके। कुन्तक ने ऐसे ही 'शब्द' को 'वक्र' शब्द कहा है और उसे ही काव्य माना है। सामान्य भाषा से काव्यभाषा को चारुत्वप्रकाशनोपयोगी शब्द-गत वक्रता या सटीकता ही व्यावृत्त करती है। अतः 'सर्जक' और 'आलोचक' दोनों को शब्द-साधना करनी पड़ती है—'शब्द' की अन्तरात्मा की प्रत्यभिज्ञा करनी पड़ती है। महाकवि की पहचान ही बताई गई है कि उसके द्वारा प्रयुक्त 'शब्द' और 'अर्थ' यत्न-पूर्वक प्रत्यभिज्ञेय होते हैं—पुनः पुनः अनुसन्धान या 'भावन' की अपेक्षा करते हैं। शब्द-साधना शब्दब्रह्म की साधना है। कवि और भावक—दोनों को शब्दब्रह्म का मर्मी साधक होना आवश्यक है। आचार्य मिश्र शब्दब्रह्म के मर्मी सिद्ध हैं। कवि के मूल आशय तक केवल 'शब्द' की डोर पकड़ कर किस तरह तह तक उतरा जा सकता है—'घनानन्दभाष्येंदुशेखर' इसका ज्वलन्त साक्षी है—दिवंगत चन्द्रशेखर जी के उद्‌गम आचार्य मिश्र ही हैं। मैंने लेखन और अध्यापन उभयत्र देखा है कि जिस तरह वे शब्द को छोड़ते हुए सर्जक के मूल आशय तक पहुँचते हैं। अपनी इस पद्धति और प्रयास में वे अद्वितीय और अप्रतिम हैं और यहीं विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं—जहाँ वे हिन्दी के आचार्यों के बीच अकेले चट्टान की तरह तन कर खड़े हैं। उनकी इसी विशेषता को लक्षित कर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने उनसे किसी एक ही पद की एक घण्टे तक अभूतपूर्व व्याख्या का समारोह आयोजित किया था। पण्डित जी 'मानस' की शब्दानु-धाविनी व्याख्या सम्प्रति सम्पन्न कर रहे हैं। लोग कहते हैं कि अकेले 'शब्द' क्या कर सकता है? जब तक आलोचक सर्जक के व्यक्तित्व घटक 'अनुवंश' और 'परिवेश' को नहीं जानेगा, तब तक मनोविज्ञान की सहायता से सर्जक के मनोजगत् की बारीकियों का ज्ञान नहीं होगा, जब तक समाजशास्त्रीय बोध के आलोक में उसके परिवेश का अवगमन नहीं होगा, जब तक नीतिशास्त्रीय ज्ञानालोक में उसके आचरण की सम्यक् अवगति न हो, जब तक उससे जुड़े सांस्कृतिक प्रवाह के घटक दार्शनिक विचारधारा आदि का अवबोध न हो—आदि-आदि। इन तमाम सन्दर्भ घटक ज्ञान वैविध्य से निरपेक्ष होकर केवल 'शब्द' के सहारे आलोचक क्या कर सकता है—भावक कैसे नीचे उतर सकता है? सवाल यह खड़ा होता है कि इन सबके आलोक में 'शब्द' को सक्रिय होना चाहिए अथवा 'शब्द' से ही रगड़ करे और उसी से ज्ञान के विविध स्फुलिंग विकीर्ण हों। भारतीय परम्परा—जो शब्द के सहारे व्याख्यात्मक आलोचना की रही है—शैलीविज्ञान और नई समीक्षा के तर्कों से समर्थित है—'शब्द' को ही 'सर्व ब्रह्म' मानकर उसी की साधना करती है और उसी की आराधना से सभी अपेक्षित ज्ञान-वैविध्य फूट पड़ते हैं। आचार्य मिश्र इसी भारतीय परम्परा के शब्द-साधक हैं।

हिन्दी साहित्य का मध्यकाल शब्दसिद्धों का आत्मप्रकाश है और आचार्य जी उसी काल के जहाज हैं—यों बड़े अखाड़े का सिद्ध किसी अखाड़े में जा सकता है और अपने

प्रातिभ-सामर्थ्य का अप्रतिम चमत्कार दिखा सकता है। आचार्यजी तुलसी, घनानन्द, प्रसाद और अज्ञेय की काव्यपंक्तियों का विश्लेषण केवल 'शब्द' के सहारे एक तरह कर सकते हैं--'प्रसाद' की पंक्तियों की व्याख्या तो कम से कम मैंने सुनी है। जिसने यह चमत्कार और क्षमता देखी नहीं, वह शब्द-सामर्थ्य का अन्दाज नहीं लगा सकता। एक शब्द न जाने कितने ज्ञात-अज्ञात सन्दर्भों का वहन करता है--यह उसका साधक ही जानता है। शब्द से होकर अर्थ और प्रत्यक्ष की ओर जाना स्वाभाविक मार्ग है--सच्चा आलोचक यही रास्ता पकड़ता है--अपने 'शब्द' विषयक अज्ञान को छिपाने वाला आलोचक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के चाकचिक्य फैलाता है और 'शब्द' से सीधे बँधी हुई 'सर्जनात्मक अनुभूति' तक तटस्थ ढंग से तादात्म्यापन्न होकर नहीं पहुँच सकता। ताटस्थ्य और तादात्म्य---दोनों ? सो कैसे ? स्वभाव और सहज के बाहर कुछ नहीं है। आलोचक एक तरफ 'परकाय' नहीं, 'परान्तः' प्रवेश करके तादात्म्यापन्न होता है और दूसरी ओर 'शब्द' ब्रह्म का साक्षात्कार कर तटस्थ ढंग से स्वतः उन्मीलित होने वाली अनवग्राह्य अर्थ-रत्नराशि का अनावरण करता चला जाता है। या यह कहें कि उससे अनावरण होता चला जाता है--आलोचक माध्यम भर रह जाता है। लोग समझते हैं कि महाशक्ति के प्रति समर्पित कवि ही माध्यम होता है, नहीं, पहुँचा हुआ शब्द-साधक भी माध्यम बन जाता है--आलोचन के सन्दर्भ में--तभी वह अनायास भीतर से परत-दर-परत अनायास आविष्ट सा लगता हुआ आशय खोलता चला जाता है। पंडितजी जब कभी महाप्राण होते हैं--तब इस आविष्ट दशा का साक्षात्कार किया जा सकता है। यह दशा कभी-कभी आती है। तभी दशरूपकार ने कहा--

> कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः।
> घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३॥

कहा तो सर्जक के लिए है--पर भावक पर भी इसे संचरित किया जा सकता है। किसी-किसी को और वह भी कभी-कभी सरस्वती कुछ ऐसा सुझा देती है कि वह 'विदग्ध' पदवी प्राप्त कर लेता है--साधक भावक के लिए वाग्रूपा सरस्वती वह कामधेनु है--जो स्नेह से द्रवित होकर स्वयम् प्रस्तुत हो जाती है। कहा है--

> वाग्धेनुर्दुग्धएतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
> तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः ॥

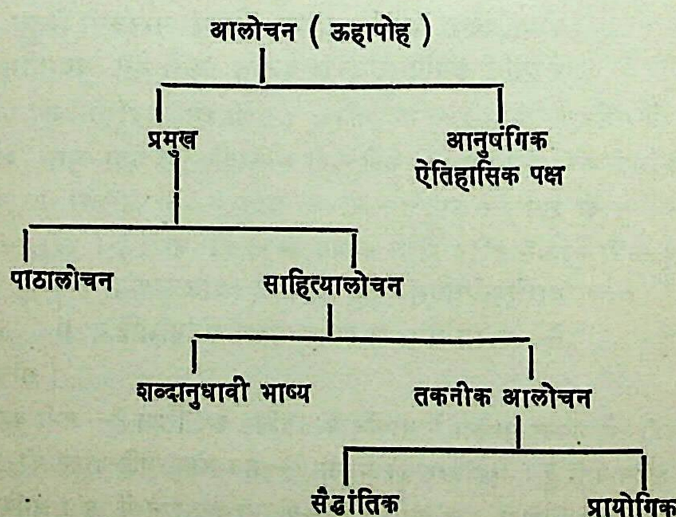
(लोचन में उद्धृत)

पंडितजी ने अपनी साधना से वाग्धेनु को द्रवित कर लिया है--तभी वह अपना 'रस' उन्हें उड़ेल देती है। एक बार की घटना है--हम लोग साहित्यरत्न की कक्षा में 'रस' पर पं० प्रद्युम्न मिश्र से कुछ सुन रहे थे--वे भी अध्यापन में कुछ आविष्ट से हो गए

थे—बगल में गली पार एक मकान था—उस में बैठे सज्जन वह अध्यापन सुन रहे थे—विस्मित होकर अध्यापन कक्ष में आ गए और कहा—'मुझे तो लगा जैसे विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र बोल रहे हैं—वे यहाँ कैसे ? सो, उत्सुकतावश प्रभावित होकर चला आया।' हम लोगों ने यह तो नहीं पूछा कि वे कौन थे, पर निश्चय ही उन लोगों में थे जिन्होंने पंडित जी की आलोचना सुनी थी।

पंडितजी अपने आलोचन में कभी-कभी आविष्ट भी हो जाते हैं—पर अधिकांश अनाविष्ट। उनकी अनाविष्ट दशा निवातनिष्कम्पदीपशिखा की सी होती है—वह भी समाधि ही है। घनानन्द की व्याख्या भी सुनी है और घनानन्द की आलोचना भी सुनी है—आविष्ट भी अनाविष्ट भी—सहजता और स्वाभाविकता-उभयत्र मिली—गांभीर्य उभयत्र निरवधि।

आलोचन, 'पाठ' का भी आलोचन 'पाठ' में निहित 'आशय' का भी। आशय का शब्दानुधावी आलोचन भी होता है—जिसे हम व्याख्या या पुरानी शब्दावली में 'टीका' कह लें—मूर्धास्थित 'तिलक'। इस आलोचन को टेकनिकल बनाने में सैद्धान्तिक प्रतिमानों का प्रयोग किया जाता है—पंडित जी ने सैद्धान्तिक और तकनीकी समीक्षा भी की है। पहले का उदाहरण घनानन्द भाष्येन्दुशेखर का निर्देशन है और दूसरे का 'बिहारी'। उनके आलोचन का एक चोथा पक्ष भी है—जिसे सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। आलोचन के इस क्रम में उन्हें ऐतिहासिक संगतियाँ भी ढूँढ़नी पड़ी हैं—टूटी शृंखलाएँ जोड़नी पड़ी हैं, व्यामोह-भंग करना पड़ा है—'हिन्दी साहित्य के अतीत' में वह सब सुरक्षित। इस प्रकार उनका 'आलोचन' वाङ्मय यों है—



पाठालोचन :

आलोचक सर्जक के मूल आशय का साक्षात्कार करता है—उसे दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है, उसमें निहित चारुता का तकनीकी विश्लेषण भी करता है—पर यह सब तभी सम्भव है–जब 'पाठ' ठीक हो। सुनते हैं कि आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान् धर्मदास जी केवल यही बताते थे कि कहाँ क्या 'पाठ' ठीक है। अब तो, इसका एक व्यवस्थित विज्ञान भी बन गया है। इस दिशा में पण्डित जी ने अथक श्रम किया है—कुछ प्रकाशित है और उससे अधिक अप्रकाशित।

पण्डितजी पाठालोचन की साहित्यिक पद्धति को वैज्ञानिक पद्धति से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। पर महत्त्वपूर्ण मानने का यह आशय भी नहीं है कि वे वैज्ञानिक पद्धति की उपेक्षा करते हैं, नहीं, वे पाठालोचन के लिए केवल वैज्ञानिक पद्धति को अपर्याप्त मानते हैं—साहित्यिक पद्धति के साथ समन्वय को श्रेयस्कर मानते हैं। उन्होंने अपना पक्ष रखते हुए कहा है—"वैज्ञानिक पद्धति पाठशोध के सम्बन्ध में प्रायः सामान्य नियमों की जांच और आँकड़े भर उपस्थित करती है। कहा यह अवश्य जाता है कि पाठशोधक अर्थ पर भी विचार करके पाठ निर्णय करे, किन्तु देखा यह जाता है कि परम्परा का बोध ठीक से न होने से यह पद्धति अनर्थक पाठों का प्रायः संचय कर लेती है"...."वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है, साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूल ग्रन्थ के लेखक होने से लेकर सम्पादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं—अतः चिन्तन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता।" इसके साथ-साथ मिश्र जी ने साहित्यिक सरणि में भी सम्भावित प्रमाद पर विचार किया है और कहा है—"साहित्यिक सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कोई सूझ अपने ढंग की हो गई, कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी तो वह कुछ की कुछ हो जायगी—'गणेश' के स्थान पर 'वानर' हो जायगा।" इस प्रमाद से बचने का रास्ता यह है कि इस आलोचन में भी वह कवि के अन्तः में प्रवेश कर तादात्म्यापन्न हो जाय। आचार्य जी इसके लिए 'परम्परा' का बोध आवश्यक मानते हैं। वैज्ञानिक पद्धति तटस्थता का आग्रह करती है—ठीक भी है—अन्यथा 'गणेश' की जगह अपनी बुद्धि का प्रयोग करने से 'वानर' बन सकता है। वह आँकड़े प्रस्तुत कर तटस्थ ढंग से निष्कर्ष ग्रहण कर लेती है। यद्यपि वह भी पाठ चयन या संशोधन में 'लेखानुसंगति' तथा 'विषयानुसंगति' की बात कहकर बौद्धिक हस्तक्षेप स्वीकार करती है—और यही चेतन प्रक्रिया है—क्वाचित्क 'अनैयत्य' को पकड़ने की पद्धति है, तथापि 'गणेश' को जब 'गणेश' ही बने रहने की जब उठती है—तब साहित्यिक साधना और परम्परा-बोध ही काम देते हैं। इस प्रमाद से बचने का एक ही रास्ता है और वह है—कवि या मूल लेखक से तादात्म्यबोध। इसलिए पण्डितजी की साहित्यिक पद्धति और प्रक्रिया को

अनदेखा नहीं किया जा सकता। उन्होंने तर्क दिए कि समान स्रोत से प्राप्त दो पाठों में से किसे ग्रहण किया जाय? यहाँ आँकड़े निर्णायक होंगे या अंतःप्रविष्ट साधना-सिद्ध साहित्यिक विवेक? "चले मत्त गज, घंट विराजी"—वाला उनका दृष्टान्त प्रसिद्ध है ही।

निष्कर्ष यह कि तादात्म्य-ताटस्थ्य-गर्भ आलोचन का शब्द-साधक-रूप 'पाठालोचन' में भी गहराई से सक्रिय है।

साहित्यालोचन :

(क) शब्दानुधावी मूर्धन्य 'तिलक' कार भारतीय चिन्तकों का पक्ष है—"विचित्राः शब्दशक्तयः"—शब्द की शक्ति विचित्र है,—विचित्र तो है ही अनवग्राह्य भी है। शब्द अभिहित, लक्षित तो करता ही है—इंगित भी करता है। यह अवश्य है कि इंगितज्ञ सब नहीं हो सकते। यह सदसद्-विवेकिनी पण्डा से सम्पन्न लोग ही हो सकते हैं—जो अनभिहित और अलक्षित को भी महसूस कर लेते हैं—

"अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः"

शब्द के उपासकों ने अभिधा और लक्षणा से भी आगे बढ़कर एक शक्ति की खोज की और वह है—'व्यंजना'। इस शक्ति की अर्थ की दृष्टि से कोई नैयत्य और सीमा नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'व्यक्ति' या 'व्यंजना' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कह दिया—"व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्"—भग्नावरण चित् ही शब्द की व्यक्ति है। पण्डित जी इस सिद्धान्त में आस्थावान् हैं और साधना से उसकी सम्भावनाओं को मूर्त करने में आज भी लगे हुए हैं। इसीलिए उन्हें 'शब्द' पर सर्वाधिक आस्था है—उसीके सहारे रहते हैं—

आस्थापूर्वक अपरिमेय शक्ति की उपासना क्या नहीं देती—

करइ त कहहु, कहा बिस्वासा

शब्द पर उन्हें भरपूर विश्वास है। उनके सामने लोग 'शब्द' के प्रयोग में डरते हैं और वे भी हैं कि बर्दाश्त नहीं कर पाते। अपने आराध्य की टाँग खींची जाय—और आराधक चुप रहे—यह हो भी कैसे सकता है? अस्तु! कहना यह है कि सर्जक से भावक की प्रणाली उलटी है। सर्जक 'अनुभूति' से चलकर 'शब्द' तक आता है और भावक 'शब्द' से चलकर 'अनुभूति' तक पहुँचता है। कवि के ठीक आशय तक पहुँचने के लिए तदन्तःप्रवेश या तादात्म्य आवश्यक है—'गणेश' का साक्षात्कार तभी हो सकता है। आनन्दवर्द्धन कहते हैं—

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते ॥

जिस सचेतस्क वत्स पर वाग्धेनु प्रीत है—उसकी तत्वार्थदर्शी बुद्धि में 'गणेश' शीघ्र अवभासित हो उठता है—वहाँ 'वानर' की सम्भावना ही नहीं होती। शब्दानुधावी व्याख्या आलोचकों के असामर्थ्यवश लुप्त होती जा रही है—जिसके दो दुष्परिणाम हो रहे हैं—पहला तो यह कि 'गणेश' की जगह 'वानर' भी नहीं मिलता—अर्थात् पंक्ति की व्याख्या ही नहीं हो पाती, दूसरे यह कि इस असामर्थ्य को छिपाने के लिए साहित्येतर ज्ञान-शाखाओं का आवरण डाल दिया जाता है—एक तीसरी अराजकता यह भी फैलती है कि आलोचक का शासन शिथिल हो जाने से सर्जक भी शब्द-साधना में शिथिल हो जाते हैं। दौर्बल्य को ढँकने के लिए तर्क यह देते हैं कि कविता अनुभव-संवेद्य ही होती है--उसकी व्याख्या सम्भव नहीं। यह ठीक है कि परिणत स्तर पर सर्जक की ओर से 'कविता' में जैसे कुछ 'अनकहा' रह जाता है उसी प्रकार व्याख्यान के स्तर पर कुछ अव्याख्येय भी रह जाता है—लेकिन असमर्थ लोग इन तर्कों का उपयोग दुरभिसंधिपूर्वक करते हैं। इस शब्दानुधावी तिलक पद्धति के दुष्कर होने का परिणाम यह हो रहा है कि नये साहित्य के पक्षधर समीक्षकों में से एक भी ऐसा नहीं है जो यह कह सकने का साहस रखता हो कि अज्ञेय, मुक्तिबोध या शमशेर बहादुर की प्रत्येक पंक्ति की व्याख्या वह विश्वसनीय ढंग से कर सकता है। व्याख्येय कवि जिस परम्परा से जुड़ा हो—उस 'परम्परा' का सम्यक् बोध उसकी व्याख्या के लिए अपेक्षित है। बारह वर्ष के अनवरत श्रम का परिणाम है कि जिस घनानन्द का पंक्त्यर्थ आचार्य शुक्ल जैसे मेधावी नहीं कर सके--आचार्य मिश्र ने उसे सफलतापूर्वक विश्वसनीय ढंग से संपन्न किया। यद्यपि घनानन्द ने अपने समय की क्षुण्ण परम्परा से हटकर अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नये 'प्रयोग' किए थे। हिन्दी की परम्परा से हटकर फारसी साहित्य की अभिव्यक्ति की परम्परा उसमें विद्यमान है—

कृपाकानमधि नैन ज्यों त्यों पुकार मधि मौन।

फारसी लिपि का असर अभिव्यक्ति में आ गया है। वस्तुतः जिसने 'परम्परा' को ठीक ढंग से आत्मसात् किया है—वही उसमें निहित संभावनाओं को मूर्त करने के लिए 'प्रयोग' करता है और उसका 'प्रयोग' अभिव्यक्ति की लोक-क्षुण्ण जड़ता तोड़ता है और भाषा के स्तर पर भी सर्जना करता है। घनानन्द वर्ण्य एवं माध्यम—दोनों स्तर पर सर्जक थे। 'परम्परा' और 'प्रयोग' जुड़कर ही स्वस्थ विकास करते हैं—छिन्नमूल 'प्रयोग' पकड़ में नहीं आते और वे सर्जना का सातत्य में नहीं निभा पाते। 'परम्परा' और 'रूढ़ि' में अन्तर है। रूढ़ि सम्भावनाहीन होती है और 'परम्परा' सम्भावना-गर्भ—'प्रयोग' इसी सम्भावना को विकसित करता है। 'परम्परा' परात् परम है—'परात्परम' का उपासक ही 'प्रयोग' कर भी सकता है और पकड़ भी सकता है। यदि मिश्रजी ने शब्द-साधना के संदर्भ में यह सब न किया होता, तो 'घनानन्द' शून्यानन्द हो गए होते।

उनका नियम है कि जितने भी कवियों के ग्रन्थों या ग्रन्थावली का सम्पादन किया जाय— अर्थविवोधपूर्वक ही किया जाय। 'मानस लहरी' की साहित्यिक व्याख्या इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। मानसकार के शब्द-प्रयोग और तन्मूलक शब्द साधना पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में उनका व्याख्यान, जो सम्प्रति मुद्रित होकर लोकभारती से प्रकाशित है— उद्धरणीय है। उसमें उनका वह अथक श्रम जो शब्द से अर्थ तक पहुँचने में होता है— देखने लायक है। गोस्वामी जी किस प्रकार सूक्ष्म–अर्थ–सम्पन्न पर्यायवाची शब्दों का अर्थ–भेद–पूर्वक प्रयोग करते हैं और कैसे सन्दर्भ में उसे प्रयुक्त करते हैं—इसके उदाहरण उस व्याख्यान में भरे पड़े हैं। 'मानस' की भाषा, विशेषकर भरत की भाषा 'दर्पण भाषा' है। जिस प्रकार दर्पणगत प्रतिविम्ब कर-गत होकर भी अग्राह्य होता है— उसी प्रकार—

'गहि न जाय अस अद्भुत बानी'

पण्डितजी की शब्द साधना है कि वे गह लेते हैं। लोगों ने भी 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' की व्याख्या की है और पण्डित जी ने भी की है—अंतर स्पष्ट है। सामान्यतः वर्ण, अर्थसंघ, रस, छंद तथा मंगल का अर्थ किया है·—पर पण्डितजी ने शब्दों में विद्यमान उत्तरोत्तर अर्थगत उत्कर्ष का जैसा अनुसन्धान 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञा'— पूर्वक किया है—वह उन्हीं की तपस्या है। 'वर्ण' से 'अर्थ' का, अर्थ से 'रस' का महत्त्व ग्राहक को दृष्टि से काव्य में उत्कृष्ट है—पर 'रस' की अपेक्षा 'छन्द' गत क्या उत्कर्ष है ? जो 'यत्नतः प्रत्यभिज्ञा'—प्रयत्नपूर्वक पुनः पुनः अनुसंधान नहीं करेगा—वह तुलसी की अपरोक्षानुभूति नहीं कर सकता। अपरोक्षानुभूति के लिए श्रवण, पठन-मनन के बाद निदिध्यासन की भी अपेक्षा होती है। एक साहित्यिक शब्द—मर्मज्ञ के लिए ही प्रताप्रकर्षत्व से बचने-बचाने को चिन्ता हो सकती है। मध्यकालीन साहित्य की समझ अब क्वाचित्क होती जा रही है। उसके लिए व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र, तत्कालीन सन्दर्भ और सन्दर्भ-सन्दष्ट –अर्थ की अपेक्षा है—अत्र दुर्लभ होती जा रही है। रीतिकाल पर काम करने वाली बड़ी-बड़ी अहम्मन्य प्रतिभाएँ भी पङ्क्त्यर्थ के बीहड़ वन की दुरवगम्यता देखकर किनारे से ही लौट आई हैं। आज का हिन्दी-जगत् तो उसे हिन्दी-साहित्य से काटकर अलग करना चाहता है। वास्तव में इन सबके मूल में अनुरूप शब्द-साधना का अभाव ही है। इसके लिए अनेक कोणों से शब्द को देखना और पहचानना पड़ता है। तिलक-पद्धति की आलोचना का यह जहाज अप्रतिम है।

(ख) प्रातिमानिक प्रायोगिक आलोचन :

तिलकात्मक आलोचन के अतिरिक्त आलोचन की अन्य प्रणालियाँ भी प्रचलित हैं— निर्णयात्मक, प्रभावात्मक, तुलनात्मक। अब तो विज्ञान और समाजशास्त्र की निष्पत्तियों

पर आधारित आलोचनाएँ भी होती हैं--आज कल शैली-वैज्ञानिक आलोचना भी खूब जोर पकड़ रही है। पण्डितजी ने तिलकेतर आलोचना भी की हैं, पर आधार तिलक-प्राप्त आलोच्य सर्जक की उपलब्धियाँ रही हैं। वे 'तिलक' की मथानी से आलोच्य का मन्थन करते हैं --उसके अपने निष्कर्ष होते हैं और उसी से आत्म-विश्वस्त होकर वे त ा नीकी आलोचन को ओर बढ़ते हैं। प्रभावात्मक आलोचना नहीं करते--प्रतिमानों और ढांचों को ध्यान में रखकर वस्तुमुखी आलोचना करते हैं। मैं मानता हूँ कि रचनागत अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया सर्जनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पुनराख्यान ही आलोचना है। सामान्यतः समझा जाता है आलोचना या समीक्षा आलोच्य कृति का सम्यक् ईक्षण है--बुद्धिपूर्वक ग्रहण है, बुद्धिपूर्वक ग्रहण ही नहीं, ग्रहण कराना भी है। ग्रहण करना और कराना ही नहीं, उसकी त्रुटियों, सीमाओं, संभावनाओं और उपलब्धियों का निरूपण भी है। यह निरूपण निराधार होने की जगह साधार हो--तो उचित हो। अतः तदर्थ आचार्यों द्वारा निर्धारित प्रतिमान से आलोचक अपनी बुद्धि का परिष्कार करता है-- इस परिष्कृत बुद्धि से वह कृति का मन्थन करता है--और गुण-दोष निरूपण करता है--चारुता का आख्यान करता है। कुछ लोगों का कहना है कि रचना चारु होती है और चारुता में बासीपन नहीं होता--वह नवननायमान होती है। प्रतिमान किसी अन्य प्रतिमेय से निकाले गए होते--फिर अन्य प्रतिमेय से निकाले गए प्रतिमान प्रतिमेयान्तरगत चारुता जो कि अभूतपूर्व है--का निकष कैसे बन सकता है? फलतः हर नई रचना की चारुता के अपने प्रतिमान हों--जो उसी से निकलेंगे। ऐसी स्थिति में पुरातन शास्त्रीय प्रतिमानों की आलोचन में कोई उपयोगिता नहीं है। फलतः आलोचन में शास्त्रीय प्रतिमानों का प्रयोग ही निरर्थक नहीं हैं, प्रत्युत मूल्यांकन और गुण-दोष का निर्णय भी अयुक्तिसंगत है। मूल्यांकन में उपादेयता निहित है और उपादेयता में आलोचक की विषयीपरकता। इसी प्रकार गुण-दोष जिन प्रतिमानों पर आधारित हैं--एक तो वे प्रतिमान ही अग्राह्य हैं--और जब वे ही अग्राह्य हैं तो उन पर आधारित खरा-खोटा का निर्णय और भी अतर्कसंगत है। अतः सर्वोत्तम है तिलकात्मक व्याख्या या व्याख्यात्मक आलोचना।

पण्डितजी तिलकात्मक आलोचना के जहाज तो हैं ही, प्रतिमानाधृत शास्त्रीय और व्यवस्थित आलोचना के पक्ष में भी उनका कहना है कि सृष्टि में प्रत्येक वृक्ष की पत्ती नई निकलती है--पर महज इतने से ही वह नई जाति नहीं होती--व्यक्ति हो सकती है। प्रतिमान परिणत काव्यमात्र को ध्यान में रखकर निकाले जाते हैं--अतः एक ओर वह परिणत काव्यजातीय रचना पर लागू भी हो सकती है--और दूसरी ओर अवशिष्ट नवता अपने परीक्षण और आलोचन के लिए आलोचक की सूझ-बूझ को भी अवसर दे देती है। इसीलिए आचार्यगण कहते हैं शास्त्रीय नियमों का अन्धानुधावन न

तो सर्जक को करना चाहिए और न ही आलोचक को। उसे कुछ भी करने से पहले तिलकात्मक आलोचन के माध्यम से रचनाकार की मनःस्थिति--सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार करना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि उसमें ग्राह्य प्रतिमान की सम्भावना है या नहीं ? यदि है तभी उसका उपयोग करें, अन्यथा नहीं। यदि सर्जक की सर्जना रसात्मक चित्तवृत्ति का प्रसव हो--तभी रसात्मक प्रतिमान का प्रयोग किया जाय। आलोचन की इस पद्धति के स्वीकार का परिणाम यह होगा कि ऊपर के तर्क--प्रतितर्कों की सम्भावना ही न होगी। जो दृष्ट और अपरोक्षानुभूत है--उसके प्रति तर्क-प्रतितर्क क्या ? नैषधकार कहते हैं--'अनुभवं वचसा सखि लुम्वसि ?' अनुभव-साक्षिक का तर्क क्या बिगाड़ सकता है ? प्रातिमानिक तकनीकी समीक्षा खतरनाक उसके लिए है जिसने तिलकात्मक पद्धति से आलोच्य सर्जक के रचनात्मक मानस का साक्षात्कार नहीं किया--परान्तःप्रवेश नहीं किया--तादात्म्यापन्न नहीं हुआ--जो इस रास्ते चल कर प्रतिमानों का प्रयोग करता है वह नीमहकीम की भाँति नश्तर तो नहीं चलाता--जानकार की भाँति विश्लेषण करता है।

पंडितजी का प्रमुख क्षेत्र मध्यकाल है—अनुषंगतः अध्यापक के नाते वे आधुनिक रचना संसार में भी आते जाते हैं—और वहाँ भी उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा सक्रिय होती है—पर आलोचन की व्यवस्थित पद्धति सर्वत्र लक्षित होती है। प्रत्येक सुन्दर रचना व्यवस्थाबद्ध होती है--व्यवस्था और सौन्दर्य का अविनाभाव सम्बन्ध है—पंडितजी की प्रतिभा उस 'व्यवस्था', 'प्रतिमान' अथवा 'रुचि' को पकड़ लेती है और विन्दु दर-विन्दु उसे उघाड़ कर रख देती है। इसीलिए इनकी समीक्षा शास्त्रीय और व्यवस्थित मानी जाती है। ये भारतीय काव्यशास्त्र, दर्शन और शब्द-शात्र के अभ्यासी हैं—अतः उसी सरणि पर इनकी आलोचना चलती है। 'बिहारी' को ही लें। उसमें रीतिशास्त्रीय सभी प्रतिमानों का प्रयोग है। भारतीय काव्यशास्त्र के साथ-साथ पंडितजी पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी प्रभाव है। शुक्ल जी का प्रभाव इनकी रग-नस में उतर आया है—अतः उनकी विधेयवादी पद्धति के भी इनमें दर्शन होते हैं। प्रयत्न करते हैं कि तात्कालिक परिस्थितियों और आलोच्य कृति में कार्य-कारणभाव की संगति दिखाई जाय—'बिहारी' में वह भी है। मध्यकाल 'प्रेम' का गान, 'शृंगार' की अभिव्यक्ति क्यों करता है—बिहारी 'दोहा' और घनाआनन्द 'कवित्त'—जैसे मुक्तक क्यों लिखते हैं ? रीतिकालीन कवि कृष्ण और राधा के व्याज से लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति क्यों करते हैं—पंडितजी विधेयवादियों से प्रभावित शुक्ल-पद्धति का प्रयोग करते हैं और तत्कालीन परिस्थिति में उसके कारण ढूँढ़ते हैं। कभी-कभी पंडित जी शुक्ल जी के प्रभाव से मुक्त होकर भी बात कह जाते हैं—तब उनमें अद्भुत दीप्ति दिखाई पड़ती है। एक बार विक्रम विश्वविद्यालय की हिन्दी अध्ययनशाला में

में 'सूरवल्लभ पंचशती' पर भाषण देते हुए कह गए कि तुलसी से सूर और सूर से कबीर अधिक मौलिक हैं। पर जब वे सूर साहित्य में वात्सल्य को ही सर्वोपरि कहते हैं तब शुक्ल जी का मर्यादावाद या शुद्धतावाद हावी हो जाता है। घनानन्द पर उन्होंने कम लिखा, पर कक्षाओं में उससे अधिक धारावाहिक मन्तव्य प्रकाशित किया है। उससे लगता है कि घनानन्द की समीक्षा के लिए घनानन्द की रचनाओं से ही प्रतिमान निकाल कर उपस्थापन और विश्लेषण किया है। प्रशस्तिकार ब्रजनाथ द्वारा निर्दिष्ट प्रतिमानों का सहारा लिया है। नादचित्र और अर्थचित्र के धनी पद्माकर की समीक्षा में पुनः शास्त्रीय प्रतिमान आ गए हैं। मुझे स्मरण है और मेरे पास नोट भी है—श्री रामादास के पास पण्डितजी की 'प्रसाद' पर अपनी आलोचनात्मक धारणाएँ लिखित थी। उसमें 'प्रसाद' को समझने के लिए नूतन-पुरातन दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय प्रतिमानों का अपने ढंग के नितान्त आवर्जक विश्लेषण हैं। परम्परागत प्रतिमानों का विश्वसनीय ढंग से आवर्जक प्रयोग करने के ही कारण ये 'नव्य शास्त्रीय आलोचक' माने जाते हैं। उन्हें विश्वास है कि क्रमागत मान्यताएँ कुछ ऐसी हैं जो आत्मनिहित संभावनाओं की युगीन व्याख्या चाहती हैं—इस प्रकार भारतीय मान्यताएँ स्थिर भी हैं और अपनी युगीन संभावनाओं में परिवर्तनशील—फलतः प्रगतिशील।

सैद्धान्तिक आलोचना :

मिश्रजी की मूल साधना अन्तःप्रवेशपूर्वक सृष्टि का रहस्य जानना और जनाना रहा है। प्रायः उनकी यही वृत्ति काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी सक्रिय रही है। भारतीय काव्यशास्त्र के वे अध्येता रहे हैं और काशी के दिग्गज आचार्य पण्डित दामोदर जी शास्त्री से भी इस क्षेत्र में काफी कुछ अर्जित किया है। उनकी विशेषता पहली तो यह रही है कि वे गहराई से पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक, भेदक विशेषताओं के साथ शास्त्रीय सिद्धान्तों को समझ लेते हैं। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि समझी हुई बात को, चाहे वह जितनी भी जटिल हो, हिन्दी की प्रकृति में नितान्त बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि इस प्रस्तुति में आधुनिक शब्दावली और शैली का, जो उनके द्वारा उद्भावित है—प्रयोग करते हैं। मध्यकालीन साहित्य की गहरी समझ के लिए विशेषकर उत्तर मध्यकालीन साहित्य के लिए भारतीय काव्यशास्त्र की गहराई से पकड़ अनिवार्य है—इसलिए काव्यशास्त्र के तो पण्डित हैं ही, आधुनिक साहित्य की विधाओं और प्रवृत्तियों को विश्लेपित करने के लिए पाश्चात्य काव्य-चिन्तन का ज्ञान भी करना पड़ा और वाङ्मय विमर्श में उसकी संक्षिप्त, बोधगम्य किन्तु सारवान् स्थिति उपलब्ध है। उनकी काव्यशास्त्रीय समझ पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी अमिट प्रभाव है। शुक्ल जी का हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक सुस्पष्ट उपस्थापन यदि कोई

कर सकता है—तो यह आचार्य मिश्रजी हैं। शुक्लजी की तमाम निष्पत्तियों और मान्यताओं को उन्होंने बड़े कौंड़े से समझाया है।

आचार्य मिश्र रसवादी हैं। इसलिए वे काव्य को 'कला' के अन्तर्गत नहीं मानते। वे मानते हैं कि कला का उद्देश्य है—मनोरंजन और काव्य का लक्ष्य है—मनोरमण। मनोरमण सुख और दुःख—उभयविध भावों में होता है—फलतः ग्राहक सहृदय की चित्तवृत्ति का लोकमंगलोपयोगी विस्तार होता है। सुखदुःखात्मक अनुभूति काव्य की परिधि में आकर रसात्मक हो जाती है—उसमें वह विशेषता आ जाती है कि सहृदय के हृदय को रमा ले। इनकी दृष्टि में 'काव्य' सामाजिक वस्तु है—उसकी व्यावहारिक सत्ता है—उसमें सत् का प्रतिबिम्ब है—वह कवि के 'सत्त्व' से सृष्ट 'सत्ता' है—'सत्त्व' ही 'सत्ता' की संधायिक है। उनकी धारणा है कि कर्ता की रसमयी काव्यानुभूति वर्ण्य के माध्यम से व्यक्त होकर सहृदय में रसात्मक चरितार्थता पाती है और उसके हृदय का विस्तार करता है। काव्य में जो 'अर्थ' और 'भाव' वर्ण्य के रूप में गृहीत होते हैं—उनका स्रोत 'समाज' है—इसीलिए उससे प्राप्त सामग्री सामाजिक—समाजानुमोदित अथवा उचित होती है। भारतीय रसवाद या रससिद्धान्त पश्चिम के सौन्दर्यवाद से इसलिए महनीय है कि जहाँ 'रस' ग्राहक के चित्त की 'अहंता' को मिटाकर सार्वभौमता प्रदान करता है—व्यष्टि हृदय को समष्टि हृदय से एकरस कर देता है—आत्म-प्रत्यभिज्ञा करा देता है—मानवता को उद्रिक्त करता है—वहाँ 'सौन्दर्य' अनुभूत होकर केवल प्रशस्तिगान के लिए मुखर करता है और अपेक्षाकृत क्षणिक भी होता है—इसीलिए तुलनात्मक दृष्टि से उनकी आस्था भारतीय रसवाद में है। उन्हें अलंकार, रीति, वक्रता और व्यंजना इसी के मेल में रुचिकर हैं। औचित्य के वे पक्षधर हैं। अलकारों की बारीकियाँ जानते हैं और शब्दशक्ति-बोध के सम्बन्ध में पण्डित रामदहिन मिश्र को परास्त कर चुके हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए इन्होंने दो प्रवाहों का उल्लेख किया है—चारुत्व-प्रवाह और अनुभूति-प्रवाह। प्रथम का सम्बन्ध श्रव्य काव्य से है और द्वितीय का दृश्य काव्य या नाट्य से है। प्रथम का सम्बन्ध कर्ता और वर्ण्य से तथा द्वितीय का ग्रहीता और अनुकार्य से है। प्रथम प्रवाह में अलंकार, रीति तथा वक्रता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष और द्वितीय प्रवाह में रस तथा उस तक पहुँचने के अनुमितिवाद, ध्वनिवाद, तात्पर्यवाद और भावनावाद का उन्मेष है। शुक्ल जी के साथ वे काव्य को मनोमय कोष तक ही रखना चाहते हैं और पाश्चात्य समीक्षकों के उस अध्यात्म और व्यक्तिवैचित्र्य का विरोध करते हैं—जो काव्य में समष्टि की जगह व्यष्टि को महत्त्व दिलाते हैं।

काव्य प्रभेद को समझाने में उनका सर्वथा अपना ढंग है। वे अन्तःकरण को काव्य का उत्स मानते हैं (पहले ही कहा गया कि वे काव्य को मनोमय कोश तक ही रखना

चाहते हैं)—और उसके चतुर्विध व्यापारों को केन्द्र में रखकर काव्य-प्रभेद करते हैं। उनका कहना है कि अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं--मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। मन संकल्प-विकल्पकात्मक है--भावमय है, अतः उसका प्राधान्य नाट्य एवम् काव्य में रहता है। चित्त का स्वरूप है--अनुसन्धानात्मक। अनुसंधान घटनाक्रम में रहता है--फलतः इस वृत्ति का प्राधान्य होता है--कथा (उपन्यास-कहानी) में काव्य में, बुद्धिवृत्ति उदग्र रहती है- निबन्ध और आलोचना में। पहला रचनात्मक होता हुआ भी विचारोत्तेजन पर्यवसायी होता है और दूसरा समीक्षात्मक प्रभेद है। अहंता व्यक्तित्व है जो शैली के रूप में सर्वत्र जागरूक भेदकतत्त्व के रूप में परिणति प्राप्त करता है। निश्चय ही इस तरह से काव्य रूप पर किसी ने भी प्रकाश नहीं डाला।

काव्यनायक भेद का उल्लेख साहित्य दर्पणकार ने अवश्य किया था, पर काव्य का भेद 'काव्य'—कुछ जँचता नहीं था, अतः उसकी मुख्य विशेषता के परिचायक विशेषण 'एकार्थ काव्य'—जैसी संज्ञा के हिन्दी में सोदाहरण प्रवर्तन का श्रेय आचार्य मिश्र की ही सूझ बूझ को है।

भारतीय परम्परा अपने चिन्तन को अपना न कहकर 'परम्परा' से जोड़ती है। गीताकार ने 'कर्मयोग' को परम्पराप्राप्त ही कहा था, बुद्ध ने भी अपने बोध का उत्स परम्परा में ही स्वीकार किया था—जैनों के तीर्थंकर 'परम्परा' में ही हैं। काव्यशास्त्र तो दर्शनशास्त्र और भारतीय प्रणाली ही है—अपने चिन्तन को अनादि परम्परा-प्राप्त कहने का। भारतीय चिन्तक मूल मान्यता को 'व्यक्ति' से नहीं, परम्परा से जोड़ता है—स्वयम् को वह व्याख्याकार मात्र कहता है। इसी परम्परा में पण्डित जी भी अपने को व्याख्याकार कहते हैं—वे 'आचार्य' होने का दंभ नहीं भरते। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में लोग 'नवीन मान्यता' लेकर आचार्यत्व की बुभुक्षा शान्त करते हैं—पर उनका क्षोदक्षम विचार हो तो धुर्रे-धुर्रे उड़ जाँय। विचार की नींव बड़ी गहरी होती है--हर मान्यता उससे जुड़ी होती है और गहरी नींव सबके बूते की बात नहीं है। पण्डितराज जैसी प्रातिभ विभूति ने भरत मुनि के वचनों के समक्ष अपने को झुका दिया और अतिरिक्त रस-प्रकल्पन की बात अस्वीकार कर दी। मैं यह नहीं कहता कि 'नया' कहना केवल दंभ है—पर इतना अवश्य कहता हूँ कि कपिल की 'समाधि' नई स्थापना के लिए अपेक्षित है। भारतीय प्रकृति का चिन्तक मानता है कि 'सत्य' पूर्ण है जो पहले से ही विद्यमान है—वह युगानुरूप सम्भावनाएँ विशिष्ट प्रतिभाओं द्वारा मूर्त कराता है। वह इतना 'सामान्य' है कि हर विशेष उसमें से निकाले जा सकते हैं--यह काल विशेष में नई व्याख्या के माध्यम से व्यक्त किए जाते हैं। इस गहरी और भारतीय प्रकृति की समझ से जुड़े रहने के कारण पण्डितजी अपने को 'व्याख्याकार' ही मानने में औचित्य समझते हैं--जो अन्तःप्रवेश से ही सम्भव है।

इतिहासलेखन तथा प्रकीर्णक :

पण्डितजी निरन्तर ऊहापोहात्मक आलोचना में लगे रहते हैं--सर्जक आचार्यों को समझने में लगे रहते हैं। इस समझ को साफ करने के संदर्भ में कई आनुषंगिक उपलब्धियाँ हुई हैं--जिनका उल्लेख 'हिन्दी साहित्य का अतीत' और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य'—में हुआ है। कहा गया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्
× × × ×
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

इतिहास और पुराण का ज्ञान वेद के समुपवृंहण में अपेक्षित है। ज्ञानमय वेद ज्ञानी से नहीं, अज्ञानी से डरता है कि पता नहीं अपनी अज्ञता का पत्थर कहाँ फेंक दें और वह क्षत-विक्षत हो जाय। सो, पण्डितजी सर्जक आचार्य-प्रणीत 'वेद' को समझने के लिए अपने ज्ञान के क्षितिज का निरन्तर विस्तार करते रहते हैं--इस क्षेत्र में उनके असन्तोष के 'भूमा' का दर्शन करने लायक है। जहाँ से जो भी नूतन जानकारी मिल जाय – इसके लिए वे निरन्तर जागरूक रहते हैं। राजनीति, मनोविज्ञान, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि प्राचीन-नवीन ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में तो रहते हैं ही, दैनन्दिन की गतिविधियों को भी संचार माध्यमों से पकड़ते रहते हैं। अस्तु, आलोच्य साहित्य और उसमें निहित प्रवृत्तियों को समझने-समझाने के लिए अनेकविध गुत्थियों को देखना और सुलझाना पड़ता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जहाँ एक ओर एक ही नाम के अनेक लेखक सर्जक ढूँढ़ निकाले और किसकी कौन सी कृति है – यह भी स्पष्ट किया। स्पष्ट यह भी किया कि विद्यापति को 'हिन्दी' का क्यों माना जाय। भाषा की प्रकृति को पकड़ सबको नहीं होती। हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालखण्डों की संज्ञा साहित्यिक भेदक आधार अन्तरंग वर्ण्य-भाव को बनाकर किया—वीरकाल, भक्तिकाल, श्रृंगारकाल तथा प्रेमकाल जैसी संज्ञाएँ आविष्कृत कीं। श्रृंगारकाल के बहु प्रचलित रीतिसिद्ध, रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त—जैसे उपभेदों का आविष्करण और स्थापन आपने ही किया। इनके अनुसन्धान-लब्ध-रत्नों की एक लम्बी तालिका है— जिसका विवरण 'अतीत' से प्राप्त किया जा सकता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट होता है कि पंडितजी का मूल व्यक्तित्व 'सर्जक' और 'आचार्यसमीक्षक'—के अन्तस् में 'शब्द' की डोर पकड़कर न केवल गहरे उतरने का है—अपितु इस प्रक्रिया से उपलब्ध रत्नों को अपनी प्रतिभा से खराद कर नव ज्योति भरने का भी है। वे अपने को 'व्याख्याकार' कहने में गौरव का अनुभव करते हैं और तदर्थ शब्द-ब्रह्म की साधना उनके लिए ऐहिक-आमुष्मिक लोकों के बीच का

सेतु जान पड़ता है—जिस पर चढ़कर पिपीलिकाएँ भी बिना श्रम पार जा सकती हैं। रामचन्द्र शुक्ल उनके आचार्य हैं—पर उनके चिन्तन सूत्रों को मिश्र जी ने न केवल समझा-समझाया, प्रत्युत आगे भी बढ़ाया। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का क्षेत्र मुख्यतः आधुनिक साहित्य है—उसमें भी छायावादी विशेष। इनकी विशेषता मान्यताओं को लेकर स्वतन्त्र चिन्तन की है—शब्दानुधावी-मर्म-दर्शन की नहीं। निराला की कतिपय रचनाओं में शब्दानुधावी होने का प्रयत्न है। पर प्रभावी नहीं हो सका। डा० नगेन्द्र ने आधुनिक साहित्य की समीक्षा से अपना कार्य आरम्भ किया, पर धीरे-धीरे सैद्धान्तिक समीक्षा के भारतीय पक्ष को अपने प्रातिभसंरम्भ का भाजन बनाया। देव पर काम अवश्य किया, 'रीति काव्य की भूमिका' अवश्य लिखी—पर यहाँ भी मान्यता-केन्द्रित विवेचन ही प्रमुख रहा--सर्जनात्मक साहित्य के अन्तर्दर्शन का प्रयास नगण्य ही रहा। उनके ऊहापोह की मुख्य भूमि भारतीय काव्यशास्त्र बना। प्रायोगिक समीक्षा में मनोविज्ञानमुखी हो गए। पं० हजारीप्रसाद जी का पक्ष है कि सर्जक का 'सत्य' प्रथम स्तर है और आलोचन का परवर्ती--दूसरे दर्जे का। अतः उनका प्रातिभसंरम्भ रचनात्मक साहित्य की सृष्टि पर है--शेष ऊहापोह उसी की तैयारी है। वे निबन्ध-कारों के पथप्रदर्शक हैं—हिन्दी में। संस्कृत साहित्य को मेघ की तरह बरसा कर उपन्यासों की सृष्टि की है--उन्होंने। सो, इन सब सामाजिक समीक्षकों के बीच अपना स्थान—जो मिश्रजी ने बनाया है—वह शब्द-ब्रह्म-साधक, परान्तःप्रवेशी योगी भाष्य-कार का है।

राममूर्ति त्रिपाठी
एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०
आचार्य एवम् अध्यक्ष
नवीन शोधपीठ, हिन्दी अध्ययन केन्द्र,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म० प्र०)

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोधग्रन्थ सन् १९७८ में काशी विद्यापीठ, वाराणसी की पीएच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध का ही यत्किंचित् परिवर्तित एवम् परिवर्धित रूप है। शोध प्रबन्ध का शीर्षक था — 'हिन्दी आलोचना को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की देन', परन्तु यहाँ इसका शीर्षक परिवर्तित कर 'हिन्दी आलोचना और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र' कर दिया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हिन्दी आलोचना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य मिश्र के समीक्षात्मक कार्यों का मूल्यांकन किया गया है।

भारतेन्दु युग की राष्ट्रीय-भावात्मक एवम् द्विवेदी युग की उपयोगितावादी दृष्टि से आगे बढ़कर भारतीय साहित्यशास्त्रीय एवम् पाश्चात्य समीक्षात्मक दृष्टि के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नवीन समीक्षा-सिद्धान्तों की स्थापना की। आधुनिक वादों से बोझिल व्यक्तिवादी आलोचनाओं का बोलबाला होने के समय भी आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र की अनुसन्धायिनी दृष्टि गम्भीर व्याख्यात्मक 'शुक्ल समीक्षा-पद्धति' को प्रतिष्ठित करने में सफल रही। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न आचार्य मिश्र की दृष्टि का पूर्ण विश्लेषण किये बिना ही उनके विषय में विभिन्न भ्रामक दृष्टियाँ प्रचलित रही हैं, जिनके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में उनको उचित स्थान नहीं दिया गया। आचार्य शुक्ल की दृष्टि का विमर्श एवम् मूल्यांकन करने का प्रयास हुआ ही, साथ ही उनकी परवर्ती विभिन्न विभूतियों पर भी पोथे लिखे गये जो कि शुक्ल जी की एक दृष्टि में ही उलझे रहे। दुःख की बात यह है कि आचार्य शुक्ल की सम्पूर्ण दृष्टि को पकड़कर, भारतीय साहित्यशास्त्रीय दृष्टि में रँगकर यथास्थान नवीनता के साथ हिन्दी आलोचना को समृद्ध बनानेवाली आचार्य मिश्र की दृष्टि का व्यापक रूप से अभी तक आलोकन एवम् मूल्यांकन नहीं हुआ।

हिन्दी आलोचना पर अनेक पुस्तकें लिखी गयीं, पर किसी आलोचक ने उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व का ठीक से निरूपण नहीं किया। 'हिन्दी का गद्य साहित्य' में डॉ० रामचन्द्र तिवारी, 'हिन्दी आलोचना; उद्भव और विकास' में डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, 'आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य' में डॉ० शिवकरण सिंह, 'आधुनिक हिन्दी आलोचना पर पाश्चात्य प्रभाव' में डॉ० रामचन्द्रप्रसाद, 'काव्य-शास्त्र की रूपरेखा' में श्यामनन्दन शास्त्री, 'समीक्षाशास्त्र' में डॉ० कृष्णलाल 'हंस' आदि विद्वानों ने उनके कार्यों पर संक्षेप में विचार किया है। इससे यह आभास मात्र मिलता है कि वे भी आलोचक हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'हिन्दी साहित्य

का वृहत् इतिहास' सत्रह भागों में सम्पादित एवम् प्रकाशित करने की व्यवस्था की गयी। इसके अधिकांश भाग प्रकाशित भी हो गये हैं। इस इतिहास के आलोचना भाग में मिश्र जी के ऊपर संक्षिप्त रूप में ही विचार किया गया। साथ ही इसके षष्ठ भाग--'रीतिकाल' (रीतिबद्ध)--में उनकी मान्यताओं को तोड़-मरोड़ कर ध्वस्त करने तक का भी प्रयत्न किया गया। इसके लेखकों में कुछ ने तो प्रत्यक्ष रूप से उनका विरोध किया, पर प्रकारान्तर से उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं को उन्हें स्वीकार भी करना पड़ा। उदाहरणार्थ --डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ने मिश्रजी द्वारा दिये गये 'रीतिकाल' नाम के स्थान पर 'श्रृंगारकाल' को समीचीन नहीं माना। पर मिश्रजी का प्रभाव स्पष्ट रूप से इन पर परिलक्षित होता है, क्योंकि इन्होंने साहित्य के इतिहास के कालविभाजन का आधार कृति, कर्ता, पद्धति, व्यक्ति या विषय को बताया, यह मिश्रजी की इनसे पूर्व की मान्यता है, जो उनकी 'विहारी' पुस्तक में वर्णित है। इसी प्रकार उनकी 'विहारी' पुस्तक में वर्णित कवियों, उनकी कृतियों एवम् समय को ही किंचित् परिवर्तन के साथ हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास (षष्ठ भाग) में प्रस्तुत किया है। इसका स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है, क्योंकि तालिका में मिश्र जी द्वारा की हुई भूलें इन्होंने भी दुहरायी है। आधुनिक वादों से ग्रसित आलोचकों ने तो मिश्र जी की पूर्णतः उपेक्षा की।

कतिपय शोधकर्ताओं के मस्तिष्क में यह अभाव अवश्य खटक रहा था। पचपन वर्ष से भी अधिक कालावधि तक निरन्तर हिन्दी-साहित्य-सेवा में रत आचार्य मिश्र के व्यक्तित्व एवम् कर्तृत्व को परखने का प्रयास लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व सागर विश्वविद्यालय, सागर के हिन्दी विभाग के अन्तर्गत श्री दीनानाथ पाण्डेय द्वारा और लगभग बारह वर्ष पूर्व श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति के हिन्दी विभाग के अन्तर्गत बी० रामकृष्ण रेड्डी द्वारा किया गया। स्नातकोत्तर परीक्षा में प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखे गये इन लघु-शोध-प्रबन्धों में आचार्य मिश्र की प्रतिभा का पूर्णरूपेण प्रस्फुटन नहीं हो सका।

अद्यतन कालिक भारतीय समीक्षा-सिद्धान्त के पोषक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र) की समीक्षात्मक प्रतिभा को प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में परीक्षित एवम् मूल्यांकित कर इस अभाव की पूर्ति करने का प्रयास किया गया है। उनकी प्रतिभा का उदय तो बहुविध रूपों में हुआ, पर हिन्दी जगत् में उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा ही अधिक प्रकाशित हुई। इसलिए प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का उद्दिष्ट विषय भी उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा की परख ही है। आचार्य मिश्र के समीक्षात्मक व्यक्तित्व के निर्माण का आधार प्राधान्येन भारतीय साहित्यशास्त्रीय दृष्टि ही रही है, इसलिए इस ग्रन्थ के आरम्भ में भारतीय-सैद्धान्तिक मान्यताओं को निरखा-परखा गया है। उन्होंने पाश्चात्य

समीक्षा पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं, इसलिए पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर भी दृष्टि डाली गयी है। 'प्रबन्ध' का विभाजन आठ अध्यायों में किया गया है। यहाँ अध्यायों का क्रमशः संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

प्रथम अध्याय 'विषय-प्रवेश' है। इसको तीन भागों में विभाजित किया गया है। (क) 'काव्य की प्रक्रिया एवं आलोचना का स्थान' है। इसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से साहित्य और काव्य के अर्थ, काव्य-लक्षण, काव्य हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-सर्जना के तत्त्व, काव्य-प्रक्रिया एवं काव्य में आलोचना के स्थान पर विमर्श है। काव्य-सर्जना के रूप में भावतत्त्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धितत्त्व, शब्द और अर्थतत्त्व एवं शैलीतत्त्व गृहीत किये गये हैं। इसमें काव्य-प्रक्रिया के चक्र को कृति, कर्ता और ग्राहक (पाठक) के मध्य चालित बताया गया है। काव्य के विकास में आलोचना को साधक सिद्ध किया गया है।

(ख) 'आलोचना का स्वरूप, व्याख्या एवं उद्भव' में भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से आलोचना के स्वरूप का निरूपण है। संस्कृत काव्यशास्त्र में आलोचना के उद्भव का विचार करते हुए सक्षिप्त रूप में रस-सम्प्रदाय, अलकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय एवं औचित्य-सम्प्रदाय की चर्चा कर उनकी मूल दृष्टि की व्याख्या है। इसमें हिन्दी आलोचना के उद्भव पर भी विचार किया गया है। इसमें भारतीय धारणा--श्रेष्ठ सर्जक श्रेष्ठ समीक्षक और श्रेष्ठ समीक्षक श्रेष्ठ सर्जक--को दृष्टि में रखकर हिन्दी के आदि कवि और आदि समीक्षक के रूप में विद्यापति को माना गया है। इसी दृष्टि से जायसी और तुलसीदास में भी कवि-समीक्षक-व्यक्तित्व का अवलोकन किया है। इसमें रीतिकाल के सभी प्रतिनिधि आचार्यों एवं कवियों की काव्यशास्त्रीय दृष्टि का संक्षेप में उल्लेख है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आलोचना के उद्भव और अफलातूँ, अरस्तू, लौंजाइनस आदि की आलोचनात्मक दृष्टि के उद्घाटन के साथ रोमीलातीनी सिद्धान्त का संक्षेप में विवेचन है।

(ग) 'आधुनिक हिन्दी आलोचना : विकास एवं उपलब्धि' में आधुनिक हिन्दी आलोचना के ऐतिहासिक विकास को सात पहलुओं में देखा गया है, जिनमें क्रमशः हिन्दी आलोचना का आरम्भिक युग, द्विवेदीयुगीन समीक्षा, शुक्लयुगीन समीक्षा, सौष्ठववादी समीक्षा, मनोविश्लेषणवादी समीक्षा, प्रगतिवादी समीक्षा और हिन्दी आलोचना की अन्य पद्धतियाँ हैं। इन पद्धतियों के प्रतिनिधिक समीक्षकों के वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए वर्तमान समीक्षात्मक उपलब्धि का निर्धारण किया गया है।

द्वितीय अध्याय 'आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व' में उनके जीवन एवं कार्यों पर संक्षेप में विचार है। इसमें उनके जन्म एवं जन्मस्थान से लेकर आरम्भिक

शिक्षा सामाजिक, क्रान्तिकारी, साहित्यिक जीवन आदि के साथ ही धार्मिक, दार्शनिक, आयुर्वेदिक, ज्योतिषिक दृष्टियों का भी उत्कथन है। इसी प्रसंग में उनकी प्रमुख कृतियों का परिचय भी दे दिया गया है।

तृतीय अध्याय 'आचार्य मिश्र के समीक्षात्मक व्यक्तित्व के नियामक तत्त्व एवं सैद्धान्तिक मान्यताएँ' में उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व के नियामक तत्त्वों एवं उनकी भारतीय और पाश्चात्य समीक्षात्मक दृष्टि का विवेचन है। आलोचक के प्रकार, गुण आदि पर विचार करते हुए लाला भगवानदीन 'दीन' एवं आचार्य शुक्ल द्वारा उनके व्यक्तित्व-निर्माण में दिये गये योगदान का उल्लेख है।

चतुर्थ अध्याय 'समकालीन समीक्षा और मिश्रजी की दृष्टि' में मिश्र जी की समकालीन विभिन्न समीक्षा-पद्धतियों के मान्य प्रतिनिधि समीक्षकों के मत बताकर 'हिन्दी-समीक्षा' के क्षेत्र में इनका स्थान एवं महत्त्व दर्शाने का प्रयत्न है। इसी प्रवाह की दृष्टि से आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी और डॉ० रामविलास शर्मा की समीक्षात्मक दृष्टि आलोचित की गयी है।

पंचम अध्याय 'इतिहास परक लेखन एवं कवियों का मूल्यांकन' में मिश्रजी के ऐतिहासिक कार्यों का निर्धारण है। इसकी पूर्व पीठिका में प्रचलित इतिहास लेखन की पद्धति पर विचार करने के साथ ही साहित्येतिहास लेखक एवं साहित्यालोचक की दृष्टि के स्वरूप का भी संकेत हैं। कालविभाजन एवं नामकरण पर प्रचलित विभिन्न दृष्टियों के साथ मिश्र जी की दृष्टि की भी समीक्षा है। विभिन्न प्रचलित मतों के उल्लेख के साथ हिन्दी साहित्य के आदिकाल, पूर्वमध्यकाल, उत्तरमध्यकाल और आधुनिककाल से सम्बद्ध इनकी स्थापनाओं के महत्त्व का प्रतिपादन है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में भाषा के इतिहास का विवेचन भी उपयुक्त माना है। इसलिए उनकी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि का भी परीक्षण किया गया।

षष्ठ अध्याय 'ग्रन्थ प्रस्तावना एवं समीक्षात्मक प्रतिभा' में मिश्रजी के उन कार्यों का विवेचन है जो उनके साहित्यिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। उनके इस प्रकार के कार्यों को दो उपविभागों में विभाजित कर व्याख्यायित किया गया है--पहला है 'स्वलिखित ग्रन्थों की भूमिकाएँ' एवं दूसरा है 'अन्य विद्वानों के ग्रन्थों पर लिखी गई भूमिकाएँ'। ये भूमिकाएँ सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचनाओं से पुष्ट हैं।

सप्तम अध्याय 'पाठसम्पादन की शैली एवं टीका कार्य' में उनकी सम्पादन शैली का निरीक्षण है। इसमें पाठ सम्पादन की अब तक प्रचलित विविध शैलियों के आलोक में उनकी सम्पादन शैली का विवेचन करते हुए पाठ सम्पादन की प्रक्रिया पर विचार

है। प्राचीन काव्यों को अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से सरल बनाने के लिए ही उन्होंने टीका-टिप्पणी का कार्य किया। टीका के विविध रूपों का भी विमर्श है।

अष्टम अध्याय से मिश्र जी की 'अभिव्यक्ति शैली और भाषा' का निरूपण है उनकी इन शैलियों के स्पष्टीकरण हेतु सर्वप्रथम शैली के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन किया गया है।

उसंहार में भारतीय समीक्षा की दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण समीक्षात्मक उपलब्धियों का निष्कर्ष रूप में विश्लेषणकर हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में उनके योगदान एवं स्थान का निर्धारण किया गया है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत मिश्रजी की कृतियों एवं सहायक ग्रन्थों की सूची दी गयी है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में मिश्र जी के समीक्षात्मक कार्य प्रस्तुत कर उनके विषय में व्याप्त भ्रांतियों के निराकरण का प्रयास है। उनके कार्यों की समीक्षा में व्याख्यात्मक पद्धति अपनायी गयी है। यहाँ तथ्यों को प्रस्तुत कर उसकी व्याख्या करते हुए अपना विचार प्रस्तुत किया गया है। जहाँ निर्णय-स्वरूप कुछ कहना पड़ा है वहाँ तर्क, विवेक एवं निष्पक्षता पर विशेष ध्यान रखा गया है। वस्तुतः ऐसे स्थल अल्प ही हैं।

परम श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का वन्दन करता हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मेरी समस्याओं का समाधान किया, जिससे मेरा कार्य सदैव गति-शील रहा। उनका अपना विशाल पुस्तकालय भी है। जिससे मेरे जैसे अनेक शोधकर्ता एवं साहित्यकार सदैव लाभान्वित होते रहते हैं। मैं साहित्यशास्त्राचार्य डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी का अभिनन्दन करता हूँ जिन्होंने प्रस्तुत शोधग्रन्थ की 'पातनिका' के रूप में भूमिका लिखकर इसकी गरिमा बढ़ाई है। मैं गुरुवर डॉ० युगेश्वर पाण्डेय के चरणों में नतमस्तक होता हूँ जिनके प्रोत्साहन एवं निर्देशन से यह ग्रन्थ प्रस्तुत हो सका है। डॉ० रामकुँवर राय का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मेरी समस्याओं का समाधान करते हुए मुझे सदैव प्रोत्साहित किया। मुद्रण शोधन हेतु मैं पं० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' का भी आभारी हूँ। मैं उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिनकी कृति एवं दृष्टि से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में मुझे सहायता मिली। मैं उन विद्वानों से क्षमा याचना करता हूँ जिनके मतों का तटस्थ भाव से खण्डन करना पड़ा है।

—रामबहादुर राय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

(क) काव्य की प्रक्रिया एवं आलोचना का स्थान

साहित्य और काव्य का अर्थ

'वाङ्मय', 'साहित्य' और 'काव्य' शब्द प्रारम्भिक काल से ही विद्वानों में विचिकित्सा के विषय रहे हैं। कभी 'वाङ्मय' एवं 'साहित्य' समानार्थक रूप में स्वीकार किये गये तो कभी 'साहित्य' और 'काव्य'। वास्तविकता यह है कि इनके मूल अर्थों में परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, विस्तार और संकोच अवश्य हुआ। सर्वप्रथम राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में 'वाङ्मय' शब्द के दो भेद किये—शास्त्र तथा काव्य।[1] उन्होंने काव्य-ज्ञान के लिए शास्त्र-ज्ञान उसी प्रकार आवश्यक माना, जिस प्रकार पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए दीपक की आवश्यकता होती है। उनकी दृष्टि में शास्त्र दो प्रकार के होते हैं—अपौरुषेय और पौरुषेय। अपौरुषेय के अन्तर्गत 'श्रुति' और 'वेदांग' अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्ति, ज्योतिष और अलंकारशास्त्र आते हैं। पौरुषेय शास्त्रों में पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और स्मृति महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार 'शास्त्र' के चौदह भेद हुए—चार वेद, छः वेदांग और चार शास्त्र। इन्हीं को विद्यास्थान कहा गया है। 'काव्य' के अन्तर्गत वह सब सर्जनात्मक साहित्य आता है, जो कविता, नाटक, कादम्बरी (उपन्यास), कथा आदि के नाम से प्रचलित हैं।

राजशेखर ने शब्द और अर्थ के सहभाव को लेकर चलने वाली समस्त मानवचेष्टा को 'वाङ्मय' अथवा 'साहित्य' कहा है। उन्होंने विद्या की चौसठ उपविद्याओं अथवा कलाओं को काव्य-जीवन माना है।[2] उनके मत के आधार पर ही आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने भी 'वाङ्मय' शब्द का व्यवहार 'साहित्य' के लिए किया है और इसके अन्तर्गत काव्य एवं शास्त्रपक्ष, इतिहास, भाषा और लिपि को स्थान दिया है।[3] डॉ०

---

१. 'वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च'।—काव्यमीमांसा, पृ० ६।

२. 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। उपविद्यास्तु चतुःषष्ठिः। ताश्च कला इति विदग्धवादः। स आजीवः काव्यस्य।—वही, पृ० १२।

३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, (प्रवेशक—ख)।

धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य कोश'[१] (प्रथम भाग) में 'साहित्य' से 'वाङ्मय' को अधिक व्यापक बतलाया गया है। इसके अनुसार काव्य तथा शास्त्र के बीच की चेष्टाएँ भी, जैसे पत्रकारिता, वाङ्मय के अन्तर्गत आ जाती हैं। विशेषण के रूप में 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग मूल वचन, प्रमाण अथवा वाचिक (शब्दमय) अर्थ में होता है। इस प्रकार 'वाङ्मय' में समस्त लिपिबद्ध मानव-चेष्टाएँ आ जाती हैं।

'साहित्य' शब्द की उत्पत्ति 'सहित' शब्द से हुई है अर्थात् 'सहित' + यत् प्रत्यय = 'साहित्य'। अतः 'सहित' होने का भाव 'साहित्य' है—सहितस्य भावः साहित्यम्। 'सहित' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) सह अर्थात् साथ होना और (२) 'हितेन सह सहितं' अर्थात् हित के साथ होना। जहाँ शब्द और अर्थ का, विचार और भाव का, परस्परानुकूलता के साथ सहभाव हो, वही साहित्य है। शब्द और अर्थ का सहित होना स्वाभाविक रूप से विद्वानों में मान्य है।

कालिदास ने 'रघुवंश' के मंगलाचरण में शब्द और अर्थ को शिव-पार्वती की भाँति संपृक्त माना है।[२] आचार्य भामह ने भी शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य माना—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[३]। भामह की भाँति रुद्रट ने भी काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है—'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'[४]। प्राचीन आचार्यों में कौटिल्य आदि की दृष्टि में लोक-व्यवहार तथा प्रतिष्ठा के निमित्त चार विद्याएँ प्रमुख थीं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति। राजशेखर ने इसी क्रम में 'साहित्य' को पंचमी विद्या माना और पूर्ववर्ती चारों विद्याओं का उसे सार बतलाया—'पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः।'[५] इस विद्या की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।'[६] अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव को बतलाने वाली विद्या साहित्यविद्या है।

राजशेखर के पश्चात् भोजराज ने साहित्य की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की—

---

१. हिन्दी साहित्य कोश (प्र० भाग)—सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ७६८।
२. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
   जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥—रघुवंश, १।१।
३. काव्यालंकार—भामह, १।१६।
४. काव्यालंकार—रुद्रट, २।१।
५. काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृ० १०।
६. वही, पृ० १२।

'किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा, (१) अभिधा, (२) विवक्षा, (३) तात्पर्यम्, (४) प्रविभागः, (५) व्यपेक्षा, (६) सामर्थ्यम्, (७) अन्वयः, (८) एकार्थीभावः, (९) दोषहानम्, (१०) गुणोपादानं, (११) अलंकारयोगः, (१२) रसावियोगः।'[1]

उन्होंने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बारह प्रकार का बतलाया है और इसी सम्बन्ध को 'साहित्य' नाम दिया है।

'साहित्य' के विषय में कुंतक का कहना है—

'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व - मनोहारिण्यवस्थितिः॥'[2]

अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त, परस्पर श्रद्धापूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो, वह 'साहित्य' है।

तुलसीदास ने भी अपनी वाणी और अर्थ का सम्बन्ध जल और उसकी तरंग की भाँति एक-दूसरे से भिन्न और अभिन्न दोनों ही माना है—

'गिरा अरथ, जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीता राम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥'[3]

इस प्रकार 'साहित्य' का भाव सहभाव में ही है।

'हितेन सह सहितं' का तात्पर्य है कि साहित्य में मानव-हित का प्रकाशन हो। यह 'हित' धन का ही नहीं, आनन्दानुभूति का भी होता है। 'साहित्य' के लिए अँगरेजी में लिटरेचर शब्द का प्रयोग होता है। लिटरेचर (Literature) अक्षरों (Letters) से बना है। अक्षरों का जितना विस्तार है वह सब लिटरेचर है। 'साहित्य' के इस अर्थ को ग्रहण करने पर इसका अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। यह अर्थ इसे 'काव्य' से दूर सम्पूर्ण 'वाङ्मय' के निकट ले जाता है। 'वाङ्मय' भी अँगरेजी के लिटरेचर शब्द का ही पर्याय है।

कवि द्वारा सम्पन्न कार्य ही 'काव्य' है—'कवेरिदं कार्यं भावो वा'। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'ध्वन्यालोक-लोचन' में 'कवनीयं काव्यं' महाकाव्य लिखा है, जिससे इसी अर्थ की पुष्टि होती है। काव्य उस मनीषी की सृष्टि है, जो स्वयं सम्पूर्ण और सर्वज्ञ

---

१. देखिये—भारतीय साहित्यशास्त्र, (प्र० भाग), बलदेव उपाध्याय, पृ० ४३२।
२. वक्रोक्तिजीवित—कुंतक, १।१७।
३. रामचरितमानस (प्रथम सोपान)—२४।

हो। श्रुति कहती है 'कविर्मनीषोपरिभूः स्वयम्भूः'। वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि समानार्थक हैं और वेदों के प्रकाशक ब्रह्मा को 'आदि कवि' कहा गया है। लौकिक साहित्य में कवि शब्द अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थों में प्रयुक्त होता है और विशिष्ट रमणीय शैली में काव्य रचनेवाले के लिए वह रूढ़ हो गया है। 'वाल्मीकि रामायण' को 'आदि-काव्य' और 'महाभारत' को 'काव्य' की संज्ञा दी गयी है, क्योंकि वाल्मीकि 'आदि-कवि' हैं और व्यास 'कवि'। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उत्तरवैदिककाल में 'कवि' शब्द विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न एक विशेष प्रकार की शैली में रचना करने वाले विद्वान् के अर्थ में रूढ़ हो गया था और बाद में इसी अर्थ में प्रत्युक्त हुआ। कवि के लिए 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' और 'वर्णननिपुणता' धर्म हैं। परन्तु यह निपुणता असाधारण होनी चाहिए—"काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कवि-कर्म····।" कवि-कर्म को काव्य-संसार कहा गया है और कवि को इस संसार का स्रष्टा या प्रजापति—'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' (अग्निपुराण, ३३९:१०)।[1] इस प्रकार कवि-कर्म होने के फलस्वरूप इसे काव्य कहा गया।

प्राचीन आचार्यों ने 'साहित्य' शब्द के प्रयोग मूलरूप में 'शास्त्र' के अर्थ में किये हैं, परन्तु बाद में 'काव्य' के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत, कला की त्रयी में 'साहित्य' को 'काव्य' का समानार्थक माना है।[2] उनका समय ६५० ई० के लगभग माना जाता है। अतः ईसा की सातवीं शताब्दी में 'साहित्य' शब्द काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा था। उसी समय के आसपास भामह ने 'काव्यालंकार' में 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' लिखकर इसकी पुष्टि की। उनकी इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मस्तिष्क में 'साहित्य' शब्द की कल्पना थी, क्योंकि 'सहितौ' विशेषण शब्द से भाववाचक 'साहित्य' शब्द की निष्पत्ति हुई है और 'सहितयोः भावः साहित्यम्' हो गया। भामह के अनन्तर कुंतक ने भी 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के निमित्त किया है—

"साहित्यार्थसुधासिन्धोः सारमुन्मीलयाम्यहम्।"[3]

भोजराज ने 'साहित्य' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। उसके पश्चात् के सभी आचार्यों ने 'साहित्य' और 'काव्य' के प्रयोग एकार्थवाची रूप में किये हैं।

---

१. देखिये—हिन्दी साहित्य कोश (भाग १), सम्पादक, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३४९।
२. 'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।—भर्तृहरि।
—देखिये, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० १।
३. वक्रोक्तिजीवित—कुंतक, प्रतिज्ञा में।

इसी प्रकार 'साहित्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश' आदि ग्रन्थों के नाम से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है।

बाबू गुलाब राय ने काव्यशास्त्रीय परम्परा के अवलोकनानंतर 'साहित्य' के व्यापक और संकुचित अर्थों का उल्लेख किया है। व्यापक रूप में 'साहित्य' सारे 'वाङ्मय' का पर्याय है। जितना शब्द-भंडार और वाणी का विस्तार है सब इसके अन्तर्गत आ जाता है। साहित्य अपने संकुचित और रूढ़ अर्थ में 'काव्य' का पर्याय है। इसका व्यापक अर्थ इसकी व्युत्पत्ति के अर्थ पर आश्रित है और संकुचित अर्थ रूढ़ि पर। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो विभाग हो जाते हैं—एक काव्य और दूसरा शास्त्र। काव्य रसात्मक होता है और शास्त्र ज्ञान-प्रधान—'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। डीक्विंसी ने भी ऐसा ही विभाग किया है—Literature of Knowledge (शास्त्र ज्ञान-प्रधान) और Literature of Power (काव्य)। पहले का उद्देश्य सिखाना है और दूसरे का प्रभावित करना।[१]

बाबू श्यामसुन्दर दास ने साहित्य और काव्य में केवल व्यावहारिक भेद माना है। उनकी दृष्टि में "भिन्न-भिन्न काव्य-कृतियों का समष्टि-संग्रह ही साहित्य है।.... संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूलरूप में वही काव्य है। किसी देश-विशेष में किसी काल-विशेष में अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे जाते हैं। वे ही उस देश के उस काल का साहित्य कहलाते हैं।"[२] उन्होंने काव्य के अन्तर्गत गद्य-काव्य, पद्य-काव्य और चम्पू-काव्य को स्थान दिया है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी सभी श्रव्य एवं दृश्य काव्यों को उसके अन्तर्गत ही माना। उनका मत है कि "काव्य और उसका विवेचन अर्थात् शास्त्र इन्हीं का योग 'साहित्य' है।"[३]

'काव्य' शब्द भी व्यापक एवं संकुचित दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्यापक अर्थ में यह 'साहित्य' शब्द के संकुचित अर्थ के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है और संकुचित रूप में 'कविता' के निमित्त। इसका व्यापक अर्थ परम्परा-पोषित है और संकुचित अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से। 'काव्य' और 'कविता' दोनों का सम्बन्ध कवि-कर्म से है। 'काव्य' शब्द का प्रयोग अधिकांश व्यापक रूप में ही होता है। 'कविता' का प्रयोग भी दो दृष्टियों से हुआ है। पहला कवि-कर्म होने से 'काव्य' के निमित्त और दूसरा पद्यबद्ध रचना के लिए। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता को गद्य-पद्यमय माना है।

---

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाब राय, पृ० ३-४।

२. साहित्यालोचन—बाबू श्यामसुन्दर दास, पृ० ५७।

३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० क–ख।

उनका कहना है कि "नाना प्रकार के विकारों से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् मनोभाव शब्दों के रूप धारण करते हैं। यह कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो या गद्यात्मक।"[१] आचार्य शुक्ल ने भी कविता को व्यापक दृष्टि से ही देखा है। उनकी दृष्टि में "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"[२] जयशंकरप्रसाद ने कवि-कर्म को संगीतमय माना है। उनका मत है—"कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है ? कविता ही न।"[३]

रीतिकालीन आचार्यों और कवियों ने काव्य-लक्षण अधिकतर कविता अर्थात् पद्य-बद्ध काव्य के रूप का दिया है। संस्कृत के अधिकांश आचार्यों ने भी काव्य को पद्यबद्ध रचना के रूप में ही परिभाषित किया है। पाश्चात्य विद्वान् 'साहित्य' के लिए 'लिटरेचर' और 'काव्य' के लिए 'पोएट्री' शब्द प्रयुक्त करते हैं। हमारे यहाँ के विद्वान् भी उससे प्रभावित होकर इनके अर्थों में भेद करने लगे।

निष्कर्षतः जिस प्रकार विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि साहित्य को प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार काव्य को भी। 'साहित्य' अपने व्यापक अर्थ में 'वाङ्मय' है और संकीर्ण अर्थ में 'काव्य' का पर्यायवाची। उसी प्रकार 'काव्य' अपने व्यापक अर्थ में 'साहित्य' (लिटरेचर) का और संकीर्ण अर्थ में 'कविता' अर्थात् पद्यबद्ध (पोएट्री) रचना का पर्याय है। वही स्थिति 'कविता' की भी है। यह भी व्यापक रूप में 'काव्य' का पर्यायवाची है और मूलरूप में पद्यमय रचना।

काव्य-लक्षण

भारतीय समीक्षा-क्षेत्र में काव्य के स्वरूप के निर्धारण का प्रश्न काव्यात्मा के विवेचन से सम्बद्ध रहा है। शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना जाता है, पर उसकी आत्मा के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। उन्होंने अपने सम्प्रदायों के अनुसार काव्यात्मा का निर्धारण करते हुए काव्य-लक्षण दिये।

---

१. रसज्ञ-रंजन—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३८।
२. चिंतामणि (प्रथम भाग)—आचार्य शुक्ल, पृ० ११३।
३. स्कन्दगुप्त—प्रसाद, पृ० २०।

भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम भामह ने स्पष्ट रूप में काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया। उन्होंने शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य कहा—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"[१] उनसे पहले भरत मुनि ने काव्य के छत्तीस लक्षण गिनाये,[२] पर वे लक्षण 'काव्य' को परिभाषित नहीं करते। भामह मूलतः अलंकारवादी हैं। इसलिए शब्द और अर्थ के सहभाव में शब्दालंकार और अर्थालंकार के सहभाव का भी संकेत मिलता है। इसी परम्परा के अनुयायी दण्डी ने इष्ट या चमत्कृत अर्थपूर्ण पदावली को काव्य-शरीर कहा है—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"[३]

काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार वामन ने अलंकार के कारण ही काव्य को ग्रहणीय बतलाया और सौन्दर्य को ही अलंकार माना। काव्य में सौन्दर्य दोषों के त्याग एवं गुणों के ग्रहण से आता है। गुण एवं अलंकार से युक्त शब्दार्थ को ही वे काव्य कहते हैं—

"काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।
स दोषगुणाऽलंकारहानादानाभ्याम्।
काव्यशब्दोऽयं गुणाऽलंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते।"[४]

वामन ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिक स्पष्ट रूप में काव्य-लक्षण प्रस्तुत कर परवर्ती आचार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। मम्मट आदि इससे अधिक प्रभावित हुए। मम्मट ने उस रचना को जो दोषरहित एवं गुणसहित हो और जिसमें कहीं-कहीं अलंकार न भी हो उसे काव्य कहा—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"[५]

प्रश्न यह उठता है कि बहुत-सी उच्चकोटि की कविताओं में भी कुछ-न-कुछ दोष निकल आता है, फिर क्या वे काव्य नहीं कहलाएँगी? मम्मट ने गुणों को रस का उत्कर्षक और दोषों को अपकर्षक कहा है। काव्य-दोष के सम्बन्ध में उनका कहना है कि काव्य-रस के विघातक तत्व ही दोष हैं।

---

१. काव्यालंकार—भामह, १।१६।
२. नाट्यशास्त्र—भरत, १६।५-४।
३. काव्यादर्श—दण्डी, १।१०।
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—वामन, १।१।१,२,३।
५. काव्यप्रकाश—प्रथम उल्लास, कारिका ४, सूत्र १।

मम्मट के पश्चात् कतिपय आचार्यों ने भामह के काव्य-लक्षण से प्रभावित होकर अपने काव्य-लक्षण प्रस्तुत किये। इन आचार्यों में रुद्रट,[१] हेमचन्द्र,[२] वाग्भट (द्वितीय),[३] विद्यानाथ,[४] विद्याधर[५] एवं जयदेव[६] प्रमुख हैं।

कुंतक ने भामह द्वारा प्रयुक्त वक्रोक्ति शब्द को अधिक महत्व देते हुए उसे काव्य की आत्मा बतलाया। उन्होंने शब्द और अर्थ को अलंकार्य एवं वक्रोक्ति को अलंकार वीस्कार किया है। उनका मत है—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥"[७]

अर्थात् सहृदय जनों को आह्लादित करने वाली वक्रतामय, कवि-कौशल-युक्त रचना में स्थित शब्द और अर्थ काव्य कहे जाते हैं।

भोजराज ने काव्य में अलंकार को महत्वपूर्ण स्थान देते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण किया है—

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥"[८]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य के अभ्यंतर पक्ष को महत्व देते हुए 'रस' को उसकी आत्मा स्वीकार किया। इसी आधार पर उन्होंने काव्य-लक्षण भी प्रस्तुत किया है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"[९]

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य मानकर विश्वनाथ के काव्य-लक्षण को अधिक व्यापक बना दिया है—"रमणीयार्थः

---

१. 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'—काव्यालंकार २।१।
२. 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्'—काव्यानुशासन, पृ० १६२।
३. 'शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ च काव्यम्'—काव्यानुशासन, पृ० १४।
४. 'गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ'—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ४२।
५. 'शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः'—एकावली, १।१३।
६. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥" चन्द्रालोक, १।७।
७. वक्रोक्तिजीवितम्—कुंतक, १।७।
८. सरस्वतीकण्ठाभरण—भोजराज, १।५।
९. साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, १।३।

प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"[१] रमणीयार्थ में रस और अलंकार दोनों के ही चमत्कार आ जाते हैं, किन्तु रमणीयता में हृदयानंद की ओर ही अधिक संकेत है।

हिन्दी-रीतिकाव्य-परम्परा में प्रस्तुत काव्य-लक्षण भी संस्कृत-काव्यशास्त्र पर ही आधृत है। केशवदास ने स्वच्छंदरूप से काव्य-लक्षण तो नहीं दिया, पर उनकी कही हुई उक्तियों द्वारा इसके लक्षण का बोध हो जाता है। उनके काव्य-लक्षण पर मम्मट के 'अदोषौ'[२] और उनके परवर्ती आचार्यों के 'सालंकारौ'[३] की छाप दिखायी देती है। चिन्तामणि द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण पर विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का और मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का प्रभाव दिखाई देता है—

१. 'बतकहाउ रसमै जु है कबित कहावै सोइ।
गद्य पद्य द्वै भाँति सौं सुरबानी मैं होइ ॥[४]

२. 'सगुनालंकारन सहित दोष रहित जौ होइ।
शब्द अर्थ ताकौ कबित कहत बिबुध सब कोइ ॥'[५]

देव ने काव्य में शब्द, अर्थ एवं रस को क्रमशः जीव, मन और शरीर माना है जो छंद गति में रीतिपूर्वक चलता है। उसमें अलंकार गम्भीरता के समान हैं—

'शब्द जीव जिहि अरथ मनु, काव्य सुसरस शरीर।
चलै रीति सौ छंद गति, अलंकार गम्भीर ॥'[६]

कुलपति मिश्र ने काव्य या कवित्त की परिभाषा अलौकिक आनंद के रूप में दी है—

'जग ते अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कबित्त ॥[७]

श्रीपति मिश्र नें 'काव्यप्रकाश' के आधार पर काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है—

'शब्द अर्थ बिनु दोष, गुण अलंकार रसवान।
तासों काव्य बखानई श्रीपति परम सुजान ॥'[८]

अर्थात् दोष-रहित, गुण, अलंकार एवं रसयुक्त शब्दार्थ काव्य है।

---

१. रसगंगाधर (प्रथम आनन)—पंडितराज जगन्नाथ, पृ० १३।
२. 'राजत रंच न दोषयुत कबिता बनिता मित्त।'
—केशव-ग्रंथावली (खंड–१), पृ० १०१।
३. 'भूषन विनु न विराजहीं कविता बनिता मित्त।'—वही, पृ० ११५।
४. कविकुलकल्पतरु—चिन्तामणि, १।१४,७।
५,६. शब्दरसायनं—देव, सातवाँ प्रकाश, पृ० ७५।
७. रसरहस्य—कुलपति मिश्र, १।५०।
८. काव्यसरोज—श्रीपति मिश्र, १।६।

आधुनिक युग की साहित्य या काव्य की परिभाषाएँ मानव-जीवन और रचना-कौशल पर आधृत हैं। जयशंकर प्रसाद ने काव्य को आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति माना है, जिसमें हृदय-तत्व की प्रधानता होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य का आधार मानव-जीवन को माना है। उनका कहना है कि 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ।'[१] काव्य को मानव-जीवन से जोड़ते हुए बाबू श्यामसुंदरदास ने भी कहा है कि 'काव्य को हम मानव जाति के अनुभवों, कार्यों अथवा उसकी अन्तर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं।'[२] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने रसदृष्टि से भावों की योजना करके रसमग्न करने वाली रचना या थोड़े में रमणीयता[3] उत्पन्न करने वाली रचना को काव्य कहते हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने साहित्य को जीवन से सम्बद्ध मानते हुए कहा है कि 'साहित्य का सर्वोच्च तथा सबसे अधिक शक्तिशाली तथा रसवान् अंश समाज के तदनुरूप मूल्यवान और शक्तिशाली अंश से सम्बद्ध होता है।'[४] पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने भी जीवन और साहित्य के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को स्थापित करते हुए 'साहित्य का जन्म-स्थान जीवन'[५] को ही माना है। डॉ० नगेन्द्र ने जीव-जगत् के संघर्ष की अभिव्यक्ति को ही काव्य कहा है। उनके अनुसार 'मैं जीव के अहं का जगत् से या आत्मा का अनात्मा से संघर्ष मानता हूँ।....साहित्य इसी संघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है।'[६] पंत जी रस की आनंदमयी चेतना को विशेष स्थान देते हैं। उनका कहना है—

'लहराता आनन्द अमृत रे, इसमें शाश्वत उज्ज्वल।
यह रेती की चमक न, प्यासा रखता जिसका मृगजल॥'[७]

अधिकांश पाश्चात्य विचारक भी साहित्य या काव्य को मानव-जीवन की दृष्टि से देखने के पक्षपाती रहे हैं। वर्ड्स्वर्थ ने भाव को प्रधानता देते हुए कहा है कि 'काव्य

---

१. अशोक के फूल—आचार्य द्विवेदी, पृ० १७९।
२. साहित्यालोचन—बाबू श्यामसुन्दरदास, पृ० ३०।
३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ३।
४. आलोचना, अंक २२, पृ० २ (उद्धृत-आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य—डॉ० शिवकरण सिंह, पृ० ४७१)।
५. सामयिकी—पंडित द्विवेदी, पृ० ६५।
६. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ९।
७. अमिता–'गीतों का दर्पण'—पंत, पृ० ९।

शाँति के समय में स्मरण किये हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।'[1] मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की सौन्दर्य एवं आनंदपूर्ण व्याख्या माना है। आई० ए० रिचर्ड्स ने कला को मुख्यतः रागात्मक अभिव्यक्ति माना है। हडसन ने साहित्य को जीवन दर्शन का अनुगामी माना है। उनका मत है कि किसी युग का साहित्य उन सभी तत्वों के द्वारा गढ़ा और सँवारा जाता है जो उस युग की सभ्यता के अंग रहे हैं।[2] साथ ही उन्होंने काव्य को कल्पना एवं मनोवेगों के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति माना है।[3]

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्यात्मा और काव्य-लक्षण का निर्धारण उस समय के प्रचलित साहित्य-सम्प्रदायों पर आधृत हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य-परम्परा भी उन्हीं से प्रभावित रही। आधुनिक युग के विचारकों ने शास्त्रीयता से मुक्त होकर मानव-जीवन की दृष्टि से काव्य-लक्षण दिये हैं, पर उनमें भी अधिकांश रहस्यवाद, छायावाद, मनोविश्लेषणवाद, कलावाद आदि से प्रभावित रहे हैं।

काव्य-हेतु

काव्य कवि की सर्जना है। वह संसार में साधारण मनुष्य की भाँति द्रष्टा ही नहीं स्रष्टा भी होता है। वह अपने काव्य-संसार का प्रजापति होता है एवं अपने इच्छानुसार विश्व को परिवर्तित करता है।[4] कवि को इस सर्जना-शक्ति के उपादानों के के विषय में संस्कृताचार्यों में काफी मतभेद रहा। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' में काव्य के उपादानों की चर्चा की है।[5] उन्होंने प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की ओर संकेत करते हुए प्रतिभा को अधिक महत्व दिया है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में काव्यहेतु के रूप में प्रतिभा, शास्त्रज्ञान और अभ्यास तीनों को तो अनिवार्य रूप में

---

१. काव्य के रूप—बाबू गुलाब राय, पृ० २६।

२,३. देखिये—काव्यशास्त्र की रूपरेखा—श्यामनंदन शास्त्री, पृ० ३६।३५।

४. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥
—ध्वन्यालोक, पृ० ४४२।

५. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥
—काव्यालंकार, १।५।

स्वीकार किया, पर प्रतिभा के अभाव में भी काव्य-सर्जना को संभव माना।[1] वामन ने लोक, विद्या एवं प्रकीर्ण को काव्य-निर्माण का हेतु माना।[2]

मम्मट ने शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास के समन्वित रूप को काव्यहेतु माना है।[3] रुद्रट ने भी शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य-सर्जना में आवश्यक माना पर अधिक महत्व शक्ति को ही दिया। एकाग्रचित होने पर भावनाओं का अनेक प्रकार से स्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं जिसके द्वारा ऐसी अपूर्व घटना घटित होती है, उसी का नाम शक्ति है।[4]

यह शक्ति दुर्लभ है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार संसार में मनुष्यत्व दुर्लभ है, मनुष्य होने पर विद्या दुर्लभ है, विद्या की प्राप्ति होने पर कवित्व दुर्लभ है और कवित्व प्राप्त होने पर भी शक्ति दुर्लभ है।[5] शक्ति के दो प्रकार हैं—सहजा (जो जन्मजात होती है) और उत्पाद्या (उपार्जित)। राजशेखर ने शक्ति को ही काव्य के

---

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥
न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
—काव्यादर्श, १।१०३, १०४।

२. लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्यांगानि।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।३।१।

३. शक्तिर्निपुणता-लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥
—काव्यप्रकाश, १।३।

४. तस्यासार निरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥
मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभांति यस्यामसौ शक्तिः॥
—काव्यालंकार, १।१४, १५।

५. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥
—अग्निपुराण, ३२७।३।

उन्मीलन में प्रधान हेतु माना है। वे समाधि और अभ्यास दोनों को शक्ति का उद्भासक एवं शक्ति के द्वारा प्रतिभा और व्युत्पत्ति का विकास मानते हैं।[1] उन्होंने प्रतिभा को दो प्रकार की बतलाया—कारयित्री और भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा में कवि में एवं भावयित्री प्रतिभा भावक (पाठक, ग्राहक या दर्शक) में होती है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्यहेतु के रूप में स्वीकार किया है। कुलपति मिश्र रीतिकाल के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्ट रूप से काव्य हेतु पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में उस शब्द और अर्थ की सुधि देनेवाला कवि का समर्थ चित्त होता है जिससे अच्छे काव्य की रचना होती है—

> शब्द अर्थ जिनतें बने नीकी भाँति कवित्त।
> सुधि द्यावन समरथ्थ तिन कारण कवि को चित्त॥

कवित्त का कारण शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों यथास्थान हो सकते हैं।[2]

सूरति मिश्र ने देवप्रसाद अथवा शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्य-सर्जना के हेतु के रूप में स्वीकार कर इनके महत्व का प्रतिपादन किया है—

> जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन।
> तबही तरु उपजें सुत्यों इनते कविता जान॥[3]

श्रीपति मिश्र ने शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा को काव्य हेतु बताते हुए इनके स्वरूप की चर्चा भी की है—

> शक्तिनिपुणता लोकमत बितपति अरु अभ्यास।
> अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास॥
> शक्ति सुपुन्य विशेष है जा बिन कवित न होय।
> जो कोऊ हठ सों रचै हँसी करैं बुध लोय॥

---

१. 'सा केवलं काव्यहेतुः' इति यायावरीयः।
विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्।
शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी।
शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।
—काव्यमीमांसा, पृ० २७।

२. रसरहस्य—१।३३ (वृत्ति)।

३. देखिए—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ९३।

पदपदार्थं पावै तुरत ताहि निपुनता मान।
जो जग को ब्यौहार है वहै लोकमत जान॥
परग्यान बहुशास्त्र में बितपति ताहि बखान।
रचै कबित्त नित सुघर ढिग सो अभ्यास प्रमान॥
नूतन तरक प्रसन्न पद जुक्तिबोध करतार।
प्रतिभा ताहि वषानई श्रीपति सुमति अगार॥[1]

भिखारीदास ने अपनी रचना 'काव्य निर्णय' में शक्ति, शास्त्र और अभ्यास तीनों को काव्य-रथ के रूपक द्वारा निम्नलिखित सवैये में प्रकट किया है—

सक्ति कबित्त बनाइबे की जिहि जन्मनछत्र में दीनी बिधातैं।
काव्य की रीति सिख्यो सुकबीन सों देखी सुनी बहु लोक की बातैं।
'दासजू' जामें एकत्र ये तीन्यौ बनै कबिता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलैं रथ जैसें धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं॥[2]

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने काव्य-सर्जना में दैवी शक्ति को अधिक महत्व दिया है। होमर को विश्वास था कि 'देवी की कृपा द्वारा ही काव्य सफल होगा तथा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी।'[3] सिसरो ने प्रतिभा को जन्मान्तरीय संस्कार कहा और काव्यहेतु के रूप में प्रतिभा के अनन्तर अभ्यास को स्थान दिया। प्राचीन यूनानी कवि पिण्डरा ने काव्य के निर्माण में प्रेरणा को अधिक महत्व दिया है। होरसे ने अपने काव्य 'आर्स पोयटिका' में काव्य के लिए प्रतिभा और अभ्यास दोनों को अपेक्षित माना है। फ्रायड ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कला की प्रेरणात्मिका शक्ति कामवासना को माना। कविवर शेली ने तो काव्य को प्रतिभा की अभिव्यंजना ही कहा।[4]

निष्कर्षतः काव्य-सर्जना के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों आवश्यक हैं। प्रतिभा-सम्पन्न काव्य अपेक्षाकृत अन्यों से श्रेष्ठ होता है। इन तीनों का काव्य-हेतु के रूप में महत्व तारतमिक है।

काव्य-प्रयोजन

काव्य का विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसके प्रसार-सीमा में काव्य के कर्ता और उसके ग्रहीता प्रमुख भूमिका निभाते हैं। इसी से काव्य के प्रयोजन पर विचार

---

१. काव्यसरोज—१।७, ८, ९, १०, ११।
२. देखिए, वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० १२।
३. देखिए, आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत, डा० खत्री एवं डा० चौहान, पृ० ३६।
४. देखिए, भारतीय साहित्यशास्त्र (प्र० भा०)—बलदेव उपाध्याय, पृ० ३२४।

इन्हीं दोनों की दृष्टियों से किया जाता है। कर्ता की दृष्टि से काव्य का मुख्य प्रयोजन है यश की प्राप्ति और गौण है अर्थ या कार्य का लाभ।[1] काव्य-सर्जना द्वारा प्राप्त कर्ता का यश ही उसके न रहने पर भी युगयुगान्तर तक बना रहता है।[2] भरत ने नाट्य-प्रयोजनों की चर्चा करते हुए कहा है—

दुःखार्त्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥[3]

अर्थात् नाटक दुःखी, शोकपीड़ित एवं परिश्रांत जनों को विश्रांति प्रदान करने वाला होता है। साथ ही यह धर्म, यश और आयुसाधक, कल्याणपरक, बुद्धिवर्द्धक एवं लोकोपदेशक होता है। उन्होंने दृश्यकाव्य के प्रमुख प्रयोजन जनमानस को मनोरंजन प्रदान करने की ओर भी संकेत किया है।[4]

भामह ने काव्य-प्रयोजनों को परिष्कृत एवं परिवर्द्धित रूप में प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि में काव्य चारों पुरुषार्थों, विभिन्न कलाओं, यश एवं आनन्दलाभ का साधक होता है।[5] भामह के अनन्तर आने वाले अलंकरवादी आचार्यों ने भी उनके ही जैसा काव्य-प्रयोजन के रूप में कीर्ति एवं प्रीति को ही स्वीकार किया है। वामन[6] एवं भोजराज[7] ने

---

१. स्वार्थश्चतुर्विधः कीर्तिसम्पत्तितृप्तिमुक्तिवपुः क्रमात्।
—देखिए, वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० ४।

२. जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥
—भर्तृहरि, वही।

३. नाट्यशास्त्र—१।११४, ११५।

४. विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। —नाट्यशास्त्र, १।११६।

५. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबंधनम्॥
—काव्यालंकार, १।२।

६. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।
काव्यं सत् चारु, दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात्।
अदृष्टप्रयोजनं कीर्तिहेतुत्वात्।
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।१।५।

७. कविः कीर्ति प्रीतिञ्च विन्दति। —सरस्वतीकण्ठाभरण, १।२।

प्रीति अथवा आनन्द एवं कीर्ति को ही काव्यप्रयोजन बताया। ध्वनिवादी आचार्यों ने तो प्रीति को ही काव्य का एक मात्र प्रयोजन स्वीकार किया।[1] कुंतक ने चतुर्वर्गफल प्राप्ति के अतिरिक्त व्यवहारौचित्य एवं हृदयाह्लाद को काव्यप्रयोजन बतलाया।[2] मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की तत्सम्बन्धी दृष्टियों को समेट कर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इसमें उन्होंने यश की प्राप्ति, सम्पत्तिलाभ, व्यावहारिकज्ञान, अमंगलनाश, शीघ्र आनन्दलाभ एवं कान्तासम्मित उपदेश की चर्चा की है।[3] उनके परवर्ती आचार्यों ने किसी-न-किसी रूप में इन्हें ही स्वीकार किया है।

हिन्दी के कवियों का काव्य-प्रयोजन भक्ति, यश, अर्थ, आनन्द, लोकहित आदि रहा है। हिन्दी के आदि कवि विद्यापति के काव्य का उद्देश्य साहित्यिकता के साथ इष्टसिद्धि और मनोरंजन था—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हरसिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥[4]

जायसी का काव्यादर्श पूर्ण यश था। कबीर ने मानव-जीवन के कल्याण की ओर ध्यान दिया, पर जायसी को यश की भूख बराबर बनी रही। उन्होंने पदमावत के अन्त में लिखा है—

जोरी लाइ रक्त के लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन जल भेई॥
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यहु रहै जगत महँ चीन्हा॥[5]

कतिपय विचारक तुलसीदास के 'मानस' की प्रस्तावना में उल्लिलिखित 'स्वान्तः-

---

१. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीयते तत्स्वरूपम्। —ध्वन्यालोक, १।२।

२. धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्दनसौन्दर्य - व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
—वक्रोक्तिजीवित, १।३, ४।

३. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥
—काव्यप्रकाश, १।२।

४. कीर्तिलता—संपादक बाबूराम सक्सेना, प्रथम पल्लव, पृ० ४।

५. जायसी-ग्रंथावली—संपादक आचार्य शुक्ल, पृ० ३४१।

सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति'[1] को देखकर कह देते हैं कि उन्होंने रचना स्वांतःसुखाय की है। पर उनकी दृष्टि उस अंश पर नहीं जाती जहाँ वे अपने सुख से अधिक इस ग्रन्थ द्वारा लोककल्याण की कामना करते हैं—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥[2]

यहाँ उनका सर्वजनसुखाय स्वांतःसुखाय से कम नहीं है।

हिन्दी के रीतिकाव्यकारों के काव्य-प्रयोजन संस्कृत काव्यशास्त्रियों से प्रभावित हैं। कुलपति मिश्र के पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्य-प्रयोजन की स्पष्ट रूप से चर्चा नहीं की है। कुलपति मिश्र ने यश, अर्थ, आनन्द, ज्ञान, चातुर्य, दुःखशमन आदि को काव्य-प्रयोजन बतलाता—

जस संपति आनंद अति, दुरितन डारै खोइ।
होत कबित ते चतुरई, जगत राम बस होइ॥[3]

उनके परवर्ती आचार्यों के काव्य-प्रयोजन भी यश, अर्थ, आनंद, अशुभ का नाश आदि ही रहे हैं।

आधुनिक युग के हिन्दी साहित्यकारों की काव्य-प्रयोजन-संबंधी दृष्टि में कुछ परिवर्तन हुआ। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कविता के दो प्रयोजनों—आनंद और उपयोगिता पर बल दिया। विशेष रूप से कविता को समाज का हितसाधक माना।[4]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता का उद्देश्य मनोरंजन प्रदान करना एवं उपदेश देना मात्र नहीं स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में 'कविता का अंतिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।'[5] इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'काव्य का चरम लक्ष्य मनोवृत्तियों का परिशोधन'[6] माना है।

---

१. रामचरितमानस के उपसंहार में भी इसे दुहराया गया है—
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वांतस्तमःशांतये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसं॥
—रामचरितमानस (का० सं०) संपा० आचार्य मिश्र, सप्तम सोपान, श्लोक—१, पृ० ४५८।

२. वही, प्रथम सोपान, १३।८-९।

३. रसरहस्य—१।३२।

४. रसज्ञ-रंजन, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० २-३८।

५. चिन्तामणि (प्र० भा०), आचार्य शुक्ल, पृ० १२९।

६. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० ५।

इस युग में यश, धन आदि के स्थान पर देश-प्रेम, समाजसुधार, लोकहित आदि ने प्रयोजनरूप में स्थान ग्रहण किया। मैथिलीशरण गुप्त ने काव्यादर्श के रूप में मनोरंजन के साथ उपदेश को भी स्वीकार किया है—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥[१]

सी प्रकार—

'सद्भाव जीवित रह नहीं सकते सुकविता के बिना।'[२]

छायावादी कवियों ने जीवन के अव्यक्त रहस्य की भावना को व्यक्त करना ही काव्य-प्रयोजन स्वीकार किया। लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने केवल मनोरंजन को काव्य का उद्देश्य नहीं, साधन मात्र माना है। उनकी दृष्टि में इसका अंतिम उद्देश्य जगत् के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य है।[३]

पंत जी समाज को प्रगतिशील रूप में देखना चाहते हैं और उसी का वर्णन करना लेखक का कर्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि "आज के संक्रांतिकाल में मैं साहित्य-स्रष्टा एवं कवि का यह कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक-मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव-हृदय के मंच पर जिन विश्व-निर्माण, विश्व-एकीकरण की नवीन सांस्कृतिक शक्तियों का प्रादुर्भाव तथा अंतःक्रीड़ा हो रही है, उन्हें अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-संगीत में झंकृत कर सकें और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धांतिकता के मृगजल-मरु में भटकती हुई अंतःशून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर उपेक्षित अन्तर्जगत् तथा अंतर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके।"[४]

पाश्चात्य विद्वानों ने भी आनंदानुभूति को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। होरेस ने रसोद्भूति के साथ ही मंगलकारी शिक्षाप्रद काव्य-सर्जन को अपना लक्ष्य बनाया। अरस्तू की दृष्टि में काव्य साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा दर्शन का विशेष आधार ग्रहण करता है और उसका लक्ष्य है सत्य का प्रदर्शन।[५] कुछ विचारक अफला-तून को कविता का विरोधी मानते हैं, पर वह उस कविता का विरोधी है जिसके द्वारा ज्ञान का न तो आविर्भाव होता है न विकास, और वह नैतिक आचार-विचार एवं आचरण का संरक्षण नहीं कर सकती।[६] वह काव्य द्वारा सत्य के उद्घाटन का इच्छुक था। होमर ने काव्य का ध्येय आनंद प्रदान करना माना[७] और हिसियाड ने इसके विपरीत शिक्षादान अथवा किसी मार्मिक संदेश द्वारा जनकल्याण।[८] वर्ड्सवर्थ ने काव्य-

---

१,२. भारत-भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १७७, १७८।

३. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत, 'सुधांशु', पृ० ७०।

४. गद्य-पथ, पंत, पृ० १०७।

५-८. देखिए, आलोचना : इतिहास और सिद्धांत, पृ० ५५८, ४८, ३६, ३७।

प्रयोजन आनंद प्रदान करने के साथ ही मानव-अनुभूति का परिष्कार करने और उसे ऐसी अनुभूतियों को उपलब्ध कराने में निहित माना है जिनके प्रकाशन में वह अधिक उपयुक्त एवं प्राकृतिक ज्ञात हो सके।[1] कालरिज ने वर्ड्स्वर्थ के उद्देश्य को उद्घाटित करते हुए काव्य का उद्देश्य-संबंधी अपना विचार भी व्यक्त किया है। उनका प्रमुख उद्देश्य काल्पनिक सर्जन में निहित मौलिक निरूपण की गवेषणा करना है।[2]

पाश्चात्य विद्वानों के काव्य-प्रयोजन-संबंधी अन्य विचार भी प्रकाश में आये। जैसे—कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, कला जीवन से पलायन के लिए, कला जीवन में प्रवेश के लिए, कला सेवा के लिए, कला अनुभूति के लिए, कला आनंद के लिए, कला विनोद के लिए, कला सर्जन की अदम्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए आदि सिद्धांत प्रचलित हुए। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य को कला के अन्तर्गत ही स्थान दिया है। अतः ये सिद्धांत 'कला' के लिए ही नहीं 'काव्य' के लिए भी प्रचलित हैं।

काव्य-सर्जना के तत्त्व—काव्य-सर्जना में सर्वप्रथम हृदय में अस्पष्ट रूप से भाव या विचार उत्पन्न होता है। यदि उस भाव पर चित्त केंद्रित हो गया और मनन सभव हो सका तो उसके रूप या आकार का निर्माण आरम्भ होता है। यह मनन कल्पना-तत्त्व के सहारे रूपायित होता है। काव्यकार अपनी इस कल्पना को बुद्धि द्वारा शब्दों में ढालता है और शास्त्रज्ञान के आधार पर अपनी विशिष्ट शैली द्वारा शब्दों को वाक्य-बद्ध करता है। शब्द पहले नाद या लय के रूप में उठता है जो किसी-न-किसी छंद के माध्यम से अपनी अर्थवत्ता को प्रकट करता है।

इस नानारूपात्मक जीव-जगत् के विभिन्न व्यापारों के प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर पड़ते हैं। कुछ प्रभाव ऐसे होते हैं जो 'हमारी चेतना को अधिक प्रेरित करते हैं, कुछ अनुभूतियों को जागृत कर देते हैं और कुछ कल्पना पर अपना गहरा प्रभाव डाल देते हैं।'[3] काव्य-सर्जना के समय सभी संस्कार रचनाकार के मस्तिष्क में चलचित्र की भाँति चलते रहते हैं। काव्यास्वाद की प्रक्रिया रचना की प्रक्रिया से विपरीत होती है। पहले शब्दतत्त्व नाद-सौन्दर्य के साथ प्रकट होता है, जो अर्थ को प्रकट करता है। यह कल्पना-तत्त्व के माध्यम से श्रोता या पाठक के विचार या भाव तक पहुँचता है और काव्यानंद लेते हुए ग्राहक काव्यकार के अन्तस्तल तक पहुँच जाता है। उपर्युक्त विवेचन से काव्य के निम्नलिखित तत्त्व प्रकाश में आते हैं—भावतत्त्व, कल्पनातत्त्व, बुद्धितत्त्व, शब्दतत्त्व, अर्थतत्त्व और शैली।

१-२. देखिए, आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य, पृ० १८८,१८९।
३. काव्य-मनीषा—डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० ८२।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि काव्यतत्त्व के सम्बन्ध में समन्वयात्मक है। उन्होंने भारतीय काव्य-तत्त्व—रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य तथा पाश्चात्य काव्य-तत्त्व—अनुभूति, कल्पना, सौंदर्य तथा बुद्धितत्त्व का रस से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने भारतीय काव्य-तत्त्व—रूपविधान, अलंकार, रीति, भाषा, छंद आदि को अपने मत से परिष्कृत किया तथा इन्हें काव्य का साधन ही माना, साध्य नहीं। पाश्चात्य समीक्षकों ने कल्पित रूपविधान को ही एक प्रकार से काव्य का लक्ष्य माना, पर शुक्ल जी ने कल्पित रूपविधान को साधन की कोटि में रखा और साध्य रसानुभूति को ही माना। उनकी दृष्टि में रस के अतिरिक्त अन्य काव्य-तत्त्वों से काव्य का ढाँचा मात्र ही तैयार होता है, पर प्राण का काम रस-तत्त्व ही करता है। इसी से उनके काव्य के तत्त्व रससंतृप्त हैं। उन्होंने मुख्य रूप से वर्ण्य-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व, सौंदर्य-तत्त्व, सदाचार-तत्त्व, शैली-तत्त्व आदि पर विचार किया है।

भाव-तत्त्व—जगत् के अनेक रूपात्मक व्यापारों से जब रचनाकार प्रभावित होता है तब उसके आभ्यंतर में संवेदना शक्ति जागरित होती है। यह वही भाव होता है जो कल्पना का प्रेरक बनता है। भावतत्त्व के कारण ही सर्जक अपने काव्य के ग्राहक को विश्व की उस परिमित सीमा को पार कर भावों के असीम प्रदेश में ले जाता है, जहाँ वह स्वयं विचरण करता है। भाव-तत्त्व साहित्य का प्राण है। इसी भावतत्त्व पर 'साधारणीकरण' की इतनी विशाल मंजिल खड़ी है। इसके अभाव में निश्चित ही साहित्य निष्प्राण हो जायगा।

कल्पना-तत्त्व—आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कहना है कि "प्रत्यक्ष देखे हुए पदार्थों के रूप, रंग, गति आदि के आधार पर खड़े किए हुए नए वस्तु-व्यापार-विधान या मूर्ति-विधान को कल्पना कहते हैं।"[1] उन्होंने उसी कल्पना को ग्राह्य बताया, जिसमें भावों को इस रूप में जागरित करने की क्षमता हो कि वे रस कोटि में आ सकें।[2] उन्होंने कल्पना को लौकिक मानते हुए कहा है कि "संसार-सागर की रूप-तरंगों से मनुष्य की कल्पना का निर्माण होता है और इसी की रूपगति से उनके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।"[3] इसके द्वारा अतीत को वर्तमान के रूप में रचनाकार प्रस्तुत करता है, दूरस्थ वस्तुएँ तथा व्यक्ति को सामने लाता है। कवि की बिम्ब-योजना कल्पना का प्रसाद है। कल्पना के माध्यम से काव्य में जीवन और सत्य का प्रत्यक्षीकरण होता है। शुक्ल जी ने भावना और कल्पना को एक ही माना है। उनका कहना है कि 'जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में

१-३. चिन्तामणि, प्र० भाग, आचार्य शुक्ल, पृ० १६५, १२९।

लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही 'उपासना' है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आज कल के लोग 'कल्पना।'[1]

बुद्धि-तत्त्व—काव्य अपना उचित रूप बुद्धि-तत्त्व से ही प्राप्त करता है। डॉ० भगीरथ मिश्र का कहना है कि "काव्य में बुद्धि-तत्त्व का मुख्य कार्य औचित्य संपादन है। इसके द्वारा शब्द-प्रयोग, भाव और कल्पना तत्त्वों के ठीक नियोजन में कोई दोष न हो ऐसा प्रयत्न होता रहता है।"[2] कथा-संघटन, चरित्र-चित्रण, भाव-निरूपण आदि में बुद्धि-तत्त्व का ही प्रयोग होता है। भाव, कल्पना, शब्द, अर्थ, शैली आदि बुद्धि के द्वारा नियोजित होकर काव्य को भव्य एवं आकर्षक बनाते हैं।

शब्द तथा अर्थ-तत्त्व—शब्द काव्य का वाह्य स्वरूप है और अर्थवत्ता के कारण ही शब्द की सार्थकता है। शब्द द्वारा ही काव्य लय-गति ग्रहण करता है। कवि के भाव शब्द के द्वारा ही काव्य में व्यवस्थित होते हैं। शब्द के फलस्वरूप ही अलंकारों में शब्द-गत चमत्कार आता है। छंदों के आकार की सृष्टि शब्द द्वारा ही होती है। 'अर्थ, भाव और कल्पना का साधन है और सत्य का वाहक है। शब्द की प्रधान शक्ति अर्थ ही है।'[3] आचार्यों द्वारा अर्थ—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों द्वारा प्रकट किया गया है। अभिधा के द्वारा अर्थ का सर्व सामान्यरूप, लक्षणा के द्वारा शब्द का शक्य अर्थ और व्यंजना के द्वारा उसकी रमणीयता अभिव्यक्त होती है। अर्थ का सम्यक् संयोजन बुद्धि-तत्त्व द्वारा सिद्ध होता है और आकार कल्पना तत्त्व द्वारा।

शैली-तत्त्व—भाव-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, शब्द-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व सभी मिलकर और शैली द्वारा सँवर कर काव्य में निवद्ध होते हैं। काव्य के सँवारने, सुधारने, सुसंगत बनाने और उसमें प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने में शैली का विशेष योगदान रहता है। भावों की अभिव्यक्ति में प्रौढ़ता एवम् गम्भीरता शैली द्वारा ही आती है।

शुक्ल जी ने सदाचार को काव्य के तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने काव्य में सदाचार-विरोधियों का खण्डन कर इसके समर्थक प्रो० ह्विपल, रिचर्ड्स आदि का समर्थन किया है। उनका मत है कि हमारे यहाँ रसाभास तथा साधारणीकरण का निरूपण सदाचार-तत्त्व पर अवलंबित है।[4] रस के स्वरूप के विवेचन में उन्होंने

---

१. चिंतामणि, प्र० भा०, आचार्य शुक्ल, पृ० १३९।
२. काव्य-मनीषा, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० ६९।
३. काव्य-मनीषा, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० ६३।
४. आचार्य शुक्ल का इन्दौरवाला अभिभाषण, पृ० ३७।

सत्वोद्रेक का विश्लेषण करते हुए कहा है कि रसानुभूति के समय रजोगुण और तमोगुण का लोप हो जाता है और शुद्ध सत्त्वगुण ही रह जाता है। उनके सदाचार-तत्त्व और रस-सिद्धांत में गहरा सम्बन्ध है।

काव्य-प्रक्रिया—काव्य की प्रक्रिया में कल्पना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत तथा अभिव्यक्ति में[1] भी कल्पना का विशेष योगदान है। "काव्य कल्पित रूपविधान है तो कल्पना सर्वत्र रहे यह ठीक ही है। काव्य के निर्माता में कल्पना होती है। उसके ग्राहक में होती है, अभिनेता में होती है।"[2] जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं।[3] पाठक भी इसी के अवलम्ब से कवि के मानस तक पहुँचता है और उसके अवलम्ब से अनेक प्रकार का रसानुभव करता है।[4] सभी प्रकार की कल्पना काव्य नहीं कही जा सकती। कवि द्वारा वर्णन करते समय वर्ण्यवस्तु सामने उपस्थित नहीं रहती, पर कल्पना के सहारे वह उसका चित्रण करता है। 'कल्पना की वही प्रक्रिया काव्य-प्रक्रिया कही जा सकती है, जो भावना द्वारा परिवर्तित हो।'[5]

काव्य की प्रक्रिया कवि और पाठक या श्रोता (ग्रहीता) के मध्य चलती है। दोनों के बीच का माध्यम रचनाकार की कृति होती है। इस प्रकार काव्य के ये तीन पक्ष हुए—कृति, कर्ता और ग्रहीता। इन्हीं तीनों के मध्य काव्य-व्यापार चलता है। काव्य एक हृदय से निकल कर दूसरे हृदय तक पहुँचता है। अतः इसमें प्रेषक हृदय कर्ता का होता है और ग्राहक हृदय ग्रहीता (पाठक, श्रोता या दर्शक) का। प्रेषक अर्थात् कर्ता अपनी कृतियों के माध्यम से अपनी अनुभूतियों को ग्राहक तक प्रेषित करता है। अतः कर्ता और ग्रहीता का माध्यम कृति ही होती है।

कर्ता और ग्रहीता दोनों के हृदयों का एकीकरण आवश्यक है। इसके लिए कर्ता और ग्रहीता दोनों का 'सहृदय' होना आवश्यक है। यही सहृदयता काव्य की प्रक्रिया का प्रमुख आधार है। कृति की प्रेषणीयता भी प्रमुख रूप से इसी पर आधृत है। 'सहृदय' शब्द का अर्थ केवल हृदयवाला नहीं, हृदयवाले तो सभी होते हैं पर सभी सहृदय नहीं होते। 'सहृदय' का अर्थ विशेष प्रकार के हृदय से युक्त होता है।[6] विशेष प्रकार के हृदय से तात्पर्य उस हृदय से है जिसमें भावों को ग्रहण करने की क्षमता हो।

---

१. चिंतामणि-मंजूषा, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७१।

२. चिंतामणि-मंजूषा, आचार्य मिश्र, पृ० ७१।

३,४. चिंतामणि, प्र० भाग, आचार्य शुक्ल, पृ० १९७।

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इन्दौरवाला अभिभाषण, पृ० ३३।

६. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० ३।

कर्ता के हृदय पर जीव या जगत् का जो प्रभाव पड़ता है उससे प्रेरित होकर वह अपनी अन्तर्वृत्ति काव्य-रचना के रूप में उपस्थित करता है।[1] रचनाकार काव्य-रचना तक अनुभूति और प्रज्ञा से पहुँचता है। कर्ता की प्रज्ञा अनुभूति को यथातथ्य व्यक्त करने में तथा प्रेषणीयता लाने में प्रयत्नशील रहती है। कर्ता के काव्य की सार्थकता पाठक या ग्रहीता के हृदय तक अनुभूति को पहुँचाने में है। इसके लिए कर्ता को अपनी अन्तर्वृत्ति की अभिव्यक्ति काव्य में इस प्रकार करनी चाहिए कि उसके काव्य के माध्यम से ग्रहीता उसकी अनुभूतियों तक पहुँच सके। इसके लिए उसे काव्य-रचना के तत्त्वों पर विशेष ध्यान देना होगा। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति पहले कवि को होती है फिर उसके वर्णित पात्र में और तब उसके श्रोता या पाठक को।[2]

जिस प्रकार कर्ता हृदय की मुक्तावस्था में काव्य की रचना करता है उसी प्रकार ग्रहीता हृदय की मुक्तावस्था में पहुँचकर आनन्दानुभूति करता है। 'हृदय' की मुक्तावस्था से तात्पर्य हृदय का स्वार्थ-सम्बन्धों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठकर लोकसामान्य भावभूमि पर पहुँचना है जहाँ जगत् के अनेक रूपात्मक व्यापार क्रियाशील रहते हैं। शुक्ल जी का मत है कि "जिस प्रकार यह जगत् अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है।"[3] जब तक मुक्त हृदय से, अर्थात् द्वेषरहित हृदय से ग्रहीता कर्ता के काव्य कर्म के अनेक रूपों से सामंजस्य स्थापित नहीं करता तब तक वह न सहृदय कहा जायेगा और न वह कर्ता के हृदय तक पहुँच पायेगा।

कर्ता के काव्य-सर्जन की प्रक्रिया के विपरीत ग्रहीता की काव्य के भाव-ग्रहण की प्रक्रिया होती है। कर्ता की कृति अन्त में प्रज्ञा के द्वारा पूर्ण की जाती है उसके विपरीत 'पाठक अपनी प्रज्ञा के द्वारा पहले काव्यार्थ का ग्रहण करता है तदुपरान्त उस अनुभूति तक पहुँचता है जिसकी प्रेरणा से कवि ने रचना की है।'[4]

अतः कर्ता का ग्रहीता तक अपनी अनुभूतियों को पहुँचाने का और ग्रहीता का कर्ता की अनुभूतियों तक पहुँचने का साधन काव्य है। कर्ता की कृति ऐसी होनी चाहिए कि वह कर्ता के भावों को स्पष्टरूप से व्यक्त कर सके और ग्रहीता में यह क्षमता होनी चाहिए कि काव्य को समझ कर काव्य के प्रयोजन तक पहुँच सके। इस

---

१. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० २०६।
२. रस-मीमांसा, आचार्य शुक्ल, सं०, आचार्य मिश्र, पृ० ९९।
३. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्रथम भाग, पृ० ११३।
४. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, २०७।

प्रकार काव्य के माध्यम से जीवजगत्, सर्जक और ग्रहीता के बीच चलनेवाले अनेक भावात्मक व्यापारों को ही काव्य की प्रक्रिया कहते हैं।

काव्य में आलोचना का स्थान

जिस प्रकार साहित्य मानव-जीवन से सम्बद्ध है उसी प्रकार आलोचना भी। अधिकांश भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य को मानव-जीवन से जोड़ा और उन्होंने उसको आलोचना की कसौटी पर परख कर उसमें और निखार उत्पन्न किया। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि 'यदि हम साहित्य को मानव-जीवन की व्याख्या मानें, तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।'[1] डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र ने भी समीक्षा को मानव की मूलभूत प्रवृत्ति स्वीकार किया है।[2] साहित्य में जिस विषय का वर्णन हो उसके ऊपर विचार करना आलोचना का कार्य है, चाहे वह मानवजीवन से सम्बद्ध हो यां प्रकृति-जगत् से। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कथन है कि "साहित्य के क्षेत्र में जो भी उपज हुई हो उसे भलीभाँति देखना या उसपर विचार करना ही आलोचना है।"[3] साहित्य के लिए आलोचना अमृत का कार्य करती है। साहित्य इसी से जीवित रहता है। साहित्य को मधुर बनाने में इसका योगदान रहता है।[4]

काव्य को सौन्दर्याभिव्यक्ति माननेवालों ने भी आलोचना को भी सौन्दर्याभिव्यक्ति ही माना है। काव्य जीव-जगत् की सौन्दर्याभिव्यक्ति है और काव्य की इस सौन्दर्याभिव्यक्ति को निखार कर प्रकाशित करना आलोचना है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य विचारो को ध्यान में रखकर कहा है कि साहित्य की अनुपस्थिति में आलोचना की कल्पना नहीं की जा सकती और आलोचना के अभाव में साहित्य पंगु रह जायेगा। आलोचना के विषय में आर्नल्ड का मत है कि उसमें संसार भर में ज्ञात और विचार की जाने वाली आलोचना की बातों के सर्वश्रेष्ठ अंश को सीखने और उसके प्रचार करने का निष्पक्ष प्रयत्न होना चाहिए।[5] उसने आलोचना के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी आलोचना को साहित्य

---

१. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ ३१८।
२. हिन्दी आलोचना; उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र पृ० १।
३. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १३५।
४. संगीतमयसाहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम् ॥ —वही
५. अंग्रेजी साहित्य का इतिहास, हडसन, अनु० जगदीशविहारी मिश्र, पृ० २९५।

की विशेषताओं का उद्‌घाटक ही माना है। उनका मत है कि "आलोचना किसी रचना का गुण, उसकी विशेषता स्पष्ट करती है, उसका स्वास्थ्य कहलाती है।"[१]

आज के युग में समीक्षा, साहित्य की अन्य विधाओं से विशेष प्रभावशाली है। साहित्य की सम्पूर्ण विधाएँ अपने स्वरूप को ही सँवारने में लगी हुई हैं पर आलोचना इन सभी के उद्धार में सहयोग दे रही है। अर्थात् आलोचना साहित्य की उन्नति में विशेष योगदान देती है जिसके परिणामस्वरूप वह स्वयं उन्नतिशील है। समालोचना से ही साहित्य की उन्नति होती है और पाठकों को लाभ भी होता है।[२] आलोचना द्वारा किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या कर उसके सम्बन्ध में कोई मत निर्धारित किया जाता है। कतिपय पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि आलोचना का काम केवल कृति की व्याख्या करना है, उसे अपना कोई मत प्रकट नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से आगे चलकर आलोचना से बाधा उत्पन्न होती है।

साहित्य के क्षेत्र में कुछ विद्वानों ने आलोचना को बाधक माना है जो उचित नहीं है। बाबू श्यामसुन्दरदास का इस सम्बन्ध में कहना है कि "बाधक तत्त्व भी प्रकारान्तर से साधक ही सिद्ध होते हैं।[3] साहित्य में युग की जो धारणाएँ काव्य-रचना का प्रेरक तत्त्व बनीं वही समीक्षा का भी मानदण्ड बनीं। आलोचना का विकास भी काव्य के विकास के समानांतर होता रहा है। जो प्रथम कवि अर्थात् आदि कवि वाल्मीकि हुए वे ही प्रथम आलोचक भी हैं। तब से लेकर आज तक काव्य और आलोचना दोनों धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। हाँ, युगानुसार किसी का संकोच तो किसी का अपेक्षाकृत विस्तार होता रहा। उदाहरणस्वरूप हम हिंदी साहित्य के अद्यतनकाल को ले सकते हैं। जिस प्रकार इस युग में छायावादी, प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, प्रयोगवादी आदि काव्यधाराएँ प्रवाहित हुईं उसी प्रकार उन्हीं पर आधृत समालोचनाएँ भी विकसित हुईं। इस प्रकार सर्जनात्मक एवं समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। जहाँ समीक्षा में रूढ़िवादिता आ जाती है वहाँ वह अवश्य साहित्य के सर्जन में बाधक होती है।

आलोचकों की साहित्य-सेवा तथा उनकी उपादेयता पर विचार करते हुए यह मत स्थिर किया गया कि आलोचना के बिना कलाकार की कला का सही मूल्य निर्धारित

---

१. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० १३५।

२. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुन्दर दास पृ० ३२३।

३. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० ३:५।

नहीं हो सकता। आलोचकों के द्वारा ही हमारी काव्यानुभूति तीव्र होगी। कलाकार स्वतः अपनी रचना की श्रेष्ठता का निर्णय नहीं कर सकेंगे।[1]

आलोचना व्यावहारिक रूप में किसी ग्रंथ के सम्बन्ध में दो कार्य करती है— प्रथम उस ग्रंथ की व्याख्या करना और द्वितीय उस पर अपना निर्णय देना। कुछ आलोचकों की दृष्टि में 'कलात्मक सौन्दर्य तथा तज्जनित आह्लाद' के प्रभाव को ग्रहण करना तथा उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा पाठक के आह्लाद में सहयोग देना[2] ही समीक्षा का चरम लक्ष्य है।

आलोचना साहित्य के क्षेत्र में ऊटपटांग लिखी जाने वाली बातों पर अंकुश लगाती है। यह साहित्यकारों की पथ-प्रदर्शिका होती है। बाबू श्यामसुंदरदास ने कहा भी है कि आलोचना को 'सदा पथ-प्रदर्शक और सहायक समझना चाहिए।'[3] जहाँ साहित्यकार अपने पथ से विचलित होते हैं वहाँ समीक्षा उन पर नियन्त्रण करती है। "आलोचना सदा साहित्य के पीछे-पीछे चलेगी और उसका नियन्त्रण तथा शासन करती रहेगी।"[4] काव्य का स्वरूप क्या है? साहित्य क्या है? कविता क्या है? उसका लक्ष्य क्या है? प्रत्यक्ष सामग्री को कला किस रूप में और किन माध्यमों से ग्रहण करती है? काव्य कैसा है? उसे कैसा होना चाहिए? आदि को आलोचना स्पष्ट करती है। इस दृष्टि से कालरिज के इस मत को स्वीकार किया जा सकता है—साहित्य सृष्टि की प्रक्रिया में आलोचना का हाथ है।

[ख] आलोचना का स्वरूप, व्याख्या एवं उद्भव

आलोचना का स्वरूप और व्याख्या

आलोचना के लिए समालोचना और समीक्षा दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। आलोचना और समालोचना शब्दों के बनने का आधार 'लोचन' है, जिसका अर्थ 'देखना' है। जैसे—साहित्य की आलोचना या समालोचना के लिए 'साहित्यालोचन' शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है साहित्य को भलीभाँति देखना। 'आलोचना' और 'समालोचना' में केवल 'सम्' उपसर्ग का अन्तर है।

---

१. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, डॉ० खत्री और शिवदानसिंह चौहान, पृ० १४०।
२. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० १७।
३-४. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुंदरदास, पृ० ३२६।

प्रयोग में कोई अन्तर नहीं।[1] 'समीक्षा' शब्द भी इन्हीं शब्दों के निकट ठहरता है। 'समीक्षा' सम्यक् प्रकार से ईक्षा या देखना ही है। किसी काव्यकृति का सांगोपांग विचार करना समीक्षा है।[2] ये तीनों शब्द यूरोपीय 'क्रिटिसिज्म' के पर्यायवाची हैं। क्रिटिसिज्म की मूलधातु 'क्रिटीज' है, जिसका अर्थ निर्णय या मूल्यांकन करना है। राजशेखर ने अन्तर्भाष्य[3] को समीक्षा कहा है। अन्तर से तात्पर्य भीतरी या गहरी एवं 'भाष्य' का तात्पर्य व्याख्या है, अर्थात् व्याख्या ऐसी होनी चाहिए कि उसमें अवान्तरार्थ का विच्छेद भी हो।

आलोचना के वास्तविक रूप का बोध साहित्य में ही होता है। 'साहित्य के क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों एवं दोषों का विवेचन करना, उसके सम्बन्ध में मत प्रकट करना आलोचना है।'[4] पूर्वग्रहग्रस्त आलोचक अपनी आलोच्य कृति के मूल्यांकन में विफल होता है। डॉ० नगेन्द्र ने आलोचना को साहित्य का अग बनाने के लिए उसमें वैयक्तिक प्रभाव को आवश्यक माना है। उनका मत है कि "आलोचना कितनी ही वैज्ञानिक और राग-द्वेष-हीन होने का दावा क्यों न करे, आलोचक की काव्यगत धारणा और प्रतिक्रिया उसमें प्रमुख कार्य करेगी ही। तभी वह वास्तव में साहित्य का अंग बन सकती है।"[5] साहित्य की आत्मा, अनेक मतभेदों के पश्चात्, 'रस' निर्धारित हुआ। इसी रस की परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य है।[6] जिस प्रकार काव्य में साधारणीकरण आवश्यक है उसी प्रकार आलोचना में भी। क्योंकि सफल आलोचना वही हो सकती है जो ग्राहक या पाठक को भावों—आलोच्य विषय के धरातल तक पहुँचाने में सफल हो। 'स्वभावतः साहित्य के अन्य अंगों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण अनिवार्य है।'[7]

कार्लाइल की दृष्टि में आलोचना प्रेरित और अप्रेरित के बीच में व्याख्याता का काम करती है।[8] इसका वास्तविक उद्देश्य साहित्य के नियमों का निर्धारण मात्र है।[9] पाश्चात्य विद्वानों में दान्ते, वर्ड्स्वर्थ, टी० एस० इलियट आदि ने स्वयं अपनी कृतियों को समझाने एवं समर्पित करने के लिए समीक्षा लिखी। इस प्रकार की आलोचना

१,२. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १३५।
३. 'अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा।—काव्यमीमांसा, पृ० १२।
४. साहित्यालोचन, डॉ० श्यामसुंदरदास, पृ० ३१८।
५,६,७. विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १४।
८. देखिये, पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, लीलाधर गुप्त, पृ० ९५।
९. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत, डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ५५९।

व्यावहारिक महत्त्व प्राप्त कर सकती है, पर साहित्यिक नहीं। सेंट बोवे ने आलोचना को साधारण पाठक वर्ग की मंत्रिणी माना है जो उसकी अभिरुचि तथा मत का लेखा रखेगी।[१] कतिपय विचारकों ने आलोचना का उद्देश्य कलाकार और कलाकृति के गुणों का विवेचन ही माना है, पर यह ऐकांतिक दृष्टि आलोचना के लिए उपयुक्त नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना के प्राचीन एवं वर्तमान स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए उसके उद्देश्य पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में, आरम्भ में समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुण-दोष-विवेचन ही समझा जाता रहा है। संस्कृत साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य या साहित्यमीमांसक कोई नया लक्षण-ग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य-रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस, अलंकार आदि के उद्धरणों के रूप में उद्धृत करता था, जिन्हें निम्नकोटि की समझता था उन्हें दोषों के उद्धरणों में स्थान देता था।[२] आलोचना के विकास के साथ ही इसके स्वरूप और उद्देश्य में भी परिवर्तन होता गया। शुक्ल जी ने इसके दो प्रधान मार्गों का उल्लेख किया—'पहला निर्णायक (जुडिशियल मेथड) और दूसरा व्याख्यात्मक (इन्डक्टिव क्रिटिसिज्म)। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचनाकार के गुणदोष निरूपित करके उसका मूल्य-निर्धारण करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निन्दा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आयी हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उसका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है।[३]

साहित्य के रूप में परिवर्तन के साथ ही समालोचना के मानदण्ड में भी परिवर्तन हुआ। आलोचना का कार्य है—किन्हीं मानदण्डों के आधार पर कृति की विशेषताएँ बताना, व्याख्या करना अथवा मूल्यांकन करना।[४] कृति की व्याख्या और मूल्यांकन के लिए मानदण्ड आवश्यक है। टी० एस० इलियट का विचार है कि किसी काल की आलोचना शैली उस काल की सांस्कृतिक दशा से निश्चित होती है और इसी से प्रत्येक नया काल अपनी आलोचना आप लिखता है और लेखकों तथा उनकी कृतियों के मूल्यांकन के लिए नये निर्देश देता है।[५] इस प्रकार आलोचना का एक निश्चित मानदण्ड होता है, जिसके आधार पर वह अपने प्रयोजन की सिद्धि करती है।

---

१. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत, डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ५६९।
२,३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० ५८१, ५८२।
४. काव्यशास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० १३५।
५. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत, लीलाधर गुप्त, पृ० १०४।

भारतीय काव्यशास्त्र

(अ) संस्कृत काव्यशास्त्र

प्राचीन काल में साहित्य और साहित्यालोचन में अधिक अन्तर नहीं रहा। आरम्भ में किसी भी विषयवस्तु के उद्गम को लोग अलौकिक शक्तियों से सम्बद्ध मानते रहे हैं। राजशेखर ने काव्यविद्या का उपदेश भगवान् श्रीकंठ द्वारा सर्वप्रथम परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौंसठ शिष्यों को दिया गया माना। उनमें प्रथम शिष्य भगवान् स्वयंभू ब्रह्मदेव ने इसका द्वितीय उपदेश अपने मानस-जन्मा शिष्यों को दिया। उन्हीं में काव्य-पुरुष सर्वशास्त्रवेत्ता सरस्वती पुत्र सारस्वत भी थे। उन्होंने अपने अट्ठारह शिष्यों को पारंगत कर इससे अट्ठारह अधिकरणों का प्रणयन कराया।[1] इससे स्पष्ट होता है कि आदि शक्तियों में भी काव्य-विद्या का प्रचलन था।

वैदिक काल में समालोचना या समीक्षा शास्त्र और रस के स्वरूप के दर्शन नहीं हुए, पर इस काल के ऋषियों में सौन्दर्य-समीक्षा की प्रवृत्ति का सूक्ष्म रूप अवश्य था। उनका सौंदर्यभाव वेदों की ऋचाओं की सुन्दर उक्तियों में दर्शनीय है। काव्य-समीक्षकों को रस के स्वरूप-निर्धारण में उपनिषद् के 'रसो वै सः' से प्रेरणा मिली, पर इसमें रस का विकसित रूप मानना समीचीन नहीं है। कुप्पु स्वामी ने ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टा में समालोचक का स्वरूप स्वीकार किया है।[2] डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने आलोचना को काव्य का समकालीन माना है—'सौन्दर्यानुभूति का प्रकाशन काव्य है और काव्य के सौन्दर्य का प्रकाशन आलोचना, जिसका प्रादुर्भाव मौखिक तथा लिखित रूप में काव्य के समान प्राचीन है।'[3]

प्राचीन वैयाकरणों ने काव्य-सिद्धांत के निर्माण में सहयोग दिया है। पाणिनि (ई॰ पू॰ ६ शती) ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालिन् तथा कृशाश्व द्वारा रचित नट-सूत्रों का उल्लेख किया है, पर उसका अधिक विवरण अलभ्य है।[4] 'यास्क' में उल्लिखित पाँच प्रकार की उपमाओं—भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा, लुप्तोपमा—को पाणिनि ने अलंकारशास्त्र की परिभाषा में बाँधा।[5] कात्यायन पाणिनि के अनुयायी थे। पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों का अपने भाष्य में विवेचन किया है। ध्वनि का सिद्धांत व्याकरण के स्फोट-सिद्धांत से ही ग्रहण किया गया है।

---

१. काव्यमीमांसा, राजशेखर, पृ॰ ३।
२. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ॰ भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ॰ २५।
३,४. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, पृ॰ ६।
५. आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य, डॉ॰ शिवकरण सिंह, पृ॰ ८६।

भारतीय काव्यशास्त्र ने दर्शन से भी सामग्री ग्रहण की है। "इसकी शब्द-शैलियों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—का संकेत न्यायशास्त्र में मिलता है....शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध में न्याय और मीमांसा दोनों में शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन है। वास्तव में एक प्रकार से न्याय एवं मीमांसा से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए।"[1]

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के आदिकवि थे। उनमें कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा भी विद्यमान थी। व्याध के बाण से बिंधे क्रौंच के लिए विलाप करनेवाली क्रौंची के करुणक्रन्दन को सुनकर महर्षि के मुँह से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

श्लोक निकला। यह उन्हें सच्चे कवि होने का अधिकार देता है। इसकी व्याख्या करते समय—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥[2]

लिखकर 'शोक' का 'श्लोक' के साथ समीकरण करनेवाला महान् भावक है, आलोचक है। महाकवि कालिदास तथा आनन्दवर्धन ने शोक और श्लोक का समीकरण करने वाले वाल्मीकि को महान् कवि होने के साथ महान् आलोचक भी माना है।[3] वाल्मीकि रामायण को उपजीव्य मानकर उनके बाद के कवियों ने महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्राप्त की। इस परम्परा ने काव्यशास्त्र को भले ही प्रभावित किया हो, पर उसका समुचित एवं व्यवस्थित विकास-क्रम भरतमुनि से ही दृष्टिगोचर होता है।

भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक चलने वाली काव्यशास्त्र की इस व्यवस्थित परम्परा के मध्य आलोचना एवं प्रत्यालोचन के फलस्वरूप ही विभिन्न सम्प्रदायों का जन्म हुआ। भरत का 'नाट्यशास्त्र' भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रंथ माना जाता

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ३२।
२. रामायण, बालकाण्ड, २।४०।
३. [क] 'तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः, श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥'
—रघुवंश, १४।७०।
[ख] 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः, तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥'—ध्वन्यालोक, १।८।

हैं, पर 'नाट्यशास्त्र' की प्रौढ़ता और भरत द्वारा प्रयुक्त शब्दों (अन्यः अन्यैः) से यह स्पष्ट होता है कि यह परम्परा उनके पूर्व भी प्रचलित थी। कतिपय विद्वानों ने 'अग्नि-पुराण' को काव्यशास्त्र का प्राचीन ग्रंथ माना है, जिसमें काव्यभेद, अलंकार, रस, रीति, गुण, दोष, ध्वनि इत्यादि विषयों पर विचार किया गया है। लेकिन इस ग्रंथ के रचना-काल पर मतभेद होने से 'नाटचशास्त्र' की ही प्राचीनता सिद्ध होती है।

नाटचशास्त्र में भरत ने काव्य की स्वच्छंद परिभाषा तो नहीं दी, पर दृश्य-काव्य की विशेषताओं का उल्लेख किया है—

'बहुरसकृतमार्गं संधिसंधानयुक्तम् भवति जगति योग्यम् नाटकं प्रेक्षकाणाम्।'[1] इसके साथ ही उसमें काव्य के छत्तीस लक्षणों का भी उल्लेख है।[2]

भारतीय काव्यशास्त्र में विभिन्न सम्प्रदायों के आविर्भाव और उनकी उत्कृष्टता का कारण काव्यात्मा की खोज कहा जा सकता है। सभी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का पूर्णरूप से बिना विरोध किये अपने नवीन मतों का प्रतिपादन किया है। भरत के पश्चात् रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और औचित्य सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ।

रस सम्प्रदाय—रस सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक भरतमुनि को माना जाता है। रामशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से रस का सर्वप्रथम निरूपण किया, पर प्रमाण और ग्रंथ के अभाव में इसे अस्वीकार किया जाता है। भरत ने अपने नाटचशास्त्र में अभिनय, नृत्य, संगीत और रस पर अपना प्रमुख मत व्यक्त किया है। उनके अन्य विचार रस के स्पष्टीकरण हेतु प्रस्तुत हैं। उनकी दृष्टि में आठ रस और आठ स्थायी भाव ही नाटक में होते हैं, क्योंकि नवें भाव 'शम' का अभिनय संभव नहीं है, जो बाद में मान्य हुआ। उनके नाटचशास्त्र का प्रमुख ध्येय रस का अनुभव कराना है। उन्होंने रससम्प्रदाय को मूलभूत सूत्र दिया, जिसकी व्याख्या परवर्ती आचार्यों ने की—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[3] अर्थात् विभाव, अनु-भाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस का आस्वाद्य होना ही इसको प्रमुख विशेषता है।

उन्होंने व्यभिचारी भाव ३३ बताये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व,

---

१. नाटचशास्त्र—१७।१५३।
२. 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विता।' —वही, १६।१६९।
३. नाटचशास्त्र, ६।३१।

विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार (मिर्गी), सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[१]

सात्त्विक भावों की संख्या आठ बताई है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय।[२] साथ ही आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्त्विक को अभिनय का प्रकार बताया है।[३]

उन्होंने प्रयोग दो प्रकार के—लोकधर्मी, नाटयधर्मी—बताये। चार वृत्तियाँ—भारती, सात्वती, कौशिकी, आरभटी[४] एवं पाँच नाटच-प्रवृत्तियाँ—आवंती, दाक्षिणात्या, ओड्रमागधी, पांचाली और मध्यमा[५] बतायी। इस प्रकार उन्होंने रस के अधिकांश स्वरूप पर विचार किया है।

भरतमुनि के रससूत्र में आये विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव, रसनिष्पत्ति, संयोगादि शब्दों की व्याख्या अनेक आचार्यों ने की। इसमें आये 'संयोग' एवं 'निष्पत्ति' शब्द इस सूत्र के व्याख्याकारों के वैमत्य की जड़ हैं। मम्मट नें इनके सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि लोक में रति आदि रूप स्थायी भाव के जो (आलंबन-उद्दीपन) कारण, कार्य एवं सहकारी होते हैं वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव आदि से व्यक्त वह स्थायीभाव 'रस' कहलाता है।[६] भरत के रससूत्र के प्रमुख व्याख्याकार हैं—भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्ताचार्य। संक्षेप में इसके मत पर विचार किया जा रहा है।

भट्ट लोल्लट—भट्ट लोल्लट भरतसूत्र के प्रथम व्याख्याता हैं। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ 'सम्बन्ध' एवं 'निष्पत्ति' का 'उत्पत्ति' बताया। उनके अनुसार विभावों से रस की उत्पत्ति, संचारियों से पुष्टि तथा अनुभावों से अभिव्यक्ति होती है। वे मीमांसा दर्शन से जुड़े हुए हैं। उनका मत है कि कारण रहने पर कार्य अवश्य होगा, कार्य होने पर फल की प्राप्ति अवश्य होगी। विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से रागादि में रस की उत्पत्ति होती है। वे अभिनेताओं में भी रस की प्रतीति मानते हैं। इसीलिए उनके सिद्धांत को उत्पत्तिवाद कहा गया है।

भट्ट शंकुक—शंकुक ने लोल्लट के मत के विरोध में अपने अनुमितिवाद की स्थापना की। वे 'निष्पत्ति' का अर्थ अनुमिति तथा 'संयोग' का 'अनमान' मानते हैं।

१-५. नाटयशास्त्र, १८-२१,२२,२३,२४,२५-२६।

६. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटचकाव्ययोः॥
विभावाऽनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः॥—काव्यप्रकाश, च० उ०, सू० ४३।

रस की सामग्री—विभाव, अनुभाव, संचारी के आधार पर पाठक या दर्शक रस का अनुमान करते हैं। वे न्याय दर्शन से सम्बद्ध हैं। उनका कहना है कि कारण से कार्य तक पहुँचा जा सकता है। जैसे धुँए को देखकर आग (अग्नि) का अनुमान करना। अस्तु, रस की उत्पत्ति नहीं अनुमिति या प्रतीति होती है। वे 'चित्रतुरग-न्याय' के आधार पर अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार घोड़े के चित्र को देखकर घोड़े की अनुभूति होती है उसी प्रकार अभिनेता के अभिनय से मूल पात्रों की प्रतीति होती है। इसी दृष्टि से उनके मत को अनुमितिवाद कहा जाता है।

भट्टनायक—भट्टनायक सांख्य दर्शन से सम्बद्ध हैं। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक' सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' या 'भोग' करते हुए भोगवाद की स्थापना की। उनके अनुसार काव्य का रूप शब्दात्मक है, जिसकी अभिधा, भावकत्व (भावना) और भोजकत्व (भोग) तीन क्रियाएँ हैं। अभिधा द्वारा सामान्य अर्थ को ग्रहण करेंगे। भावकत्व शक्ति के द्वारा उस अर्थ की अनुभूति हमारे हृदय को होगी। भावकत्व द्वारा साधारणीकरण होता है। भोजकत्व में विभावों के द्वारा रसानुभूति होती है। भावकत्व द्वारा नायक-नायिका, नट-नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व समाप्त हो जाता है और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसी परिस्थिति में रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। प्रेक्षक या पाठक आनंद का उपभोग करता है।

अभिनवगुप्त—अभिनवगुप्त ने भावकत्व और भोजकत्व के शब्द की वृत्ति मानने का शास्त्रीय आधार न मिलने से उन्हें अस्वीकार कर दिया। उन्होंने सिद्ध किया कि रति आदि स्थायी भाव पाठकों के अंतःकरण में वासना या संस्काररूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। उनके ही विभावादि के श्रवण या दर्शन से व्यंजनावृत्ति के अलौकिक व्यापार द्वारा रसानुभूति होती है। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ व्यंजना और 'निष्पत्ति' का अभिव्यक्ति लिया है। उनका सिद्धांत दर्शन के आनंदवाद पर आधृत है। उनके सिद्धांत को व्यक्तिवादी या व्यंजनावादी माना जाता है।

भरतमुनि ने रस की अनुभूति लौकिक मानी है, जो आगे चलकर अलौकिक कही गई। अलौकिक रसात्मक अनुभूति में प्रत्यक्षानुभूति की भाँति मन की सुखदुःखात्मक स्थिति नहीं रह जाती। प्रत्यक्षानुभूति में मन सुख में प्रवृत्त होकर उसके लिए अनुकूल संवेदना उत्पन्न करता है और दुःख प्रतिकूल। रसास्वाद में मन लीन रहता है चाहे वह दुःखात्मक हों या सुखात्मक। कहा जाता है कि करुणरसात्मक प्रसंग में आँसू क्यों आते हैं जबकि रस सुखात्मक है? आँसू करुणा में ही नहीं आते, आनंद में भी आते हैं। रसानुभव के कारण चित्तद्रुति से आते हैं। विश्वनाथ का कहना भी यही है—

'अश्रुपातादयस्तत्तद्द्रुतत्वाच्चेतसो मताः ।[१] इस प्रकार यह रसानुभूति लोक की सामान्य रसानुभूति से विलक्षण है। अतः अलौकिक है। उसे अनिर्वचनीय कहा गया है।[२] रस के सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ का मत है—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।[३]

अर्थात् रस अखण्ड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यांतरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर और लोकोत्तर चमत्कार प्राण हैं। काव्य-नाट्य का एकीकरण हो जाने पर रस मत इतना प्रबल हुआ कि 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' कहा गया।

२. अलंकार सम्प्रदाय—साहित्य या लोक में कथन के अनेक रूप होते हैं। इसी वाणी या कथन के विविध प्रकारों का नाम ही अलकार है।[४] दण्डी ने काव्य के शोभा-धायक धर्मों को अलंकार कहा है।[५] इस सम्प्रदायवालों ने काव्य का धर्म अलंकार को ही माना है। चन्द्रालोककार जयदेव ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का धर्म है उसी प्रकार अलंकार भी काव्य का धर्म है।[६] मम्मटाचार्य ने काव्य-लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहा, अर्थात् कहीं-कहीं अलंकार के अभाव में भी काव्य होता है। राजशेखर ने जिस प्रकार साहित्य को पंचमी विद्या कहा उसी प्रकार उपकारक होने के कारण अलंकार को सप्तम अंग भी माना।[७] उनका यह भी मत है कि अलंकार के बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती।[८]

अलंकार का प्रचलन कब से हुआ, इसका ठीक-ठीक उल्लेख नहीं मिलता। महर्षि यास्क ने निरुक्त में गार्ग्य के उपमा-लक्षण की आलोचना करते हुए उपमा अलंकार के

---

१. साहित्यदर्पण, तृ० परि० ८।
२. वाङ्मय-विमर्श, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १७७।
३. साहित्यदर्पण, तृ० परि०, २-३, पृ० १०५।
४. अनन्ता हि वाग्विकल्पाः तेषां प्रकारा एव अलंकाराः। —ध्वन्यालोक।
देखिये—वाङ्मय-विमर्श, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ १६२।
५. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श, २।१।
६. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।।' —चन्द्रालोक, १।८।
७. उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः। —काव्यमीमांसा, पृष्ठ ७।
८. ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। वही, पृष्ठ ७।

उदाहरण में अनेक ऋचाएँ उद्धृत की हैं। पाणिनि ने भी उपमान, उपमेय आदि के विषय में अनेक सूत्रों का प्रणयन किया है। 'अग्निपुराण' में भी अलंकारों की चर्चा है। इनकी प्रामाणिकता में सन्देह होने से सबसे प्राचीन ग्रन्थ भरत के नाटयशास्त्र को प्रमाण माना जा सकता है। इसमें उन्होंने चार प्रकार के अलंकारों का उल्लेख किया है—

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥[1]

इसमें प्रथम तीन अर्थालंकार और अन्तिम शब्दालंकार है। उनके यहाँ अलंकार का विस्तृत विवेचन तो नहीं मिलता, पर उपमा पाँच प्रकार की—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी, किंचित्-सदृशी—अवश्य मिलती है।[2]

भामह और दण्डी के यहाँ अलंकारों की संख्या में सर्वप्रथम वृद्धि मिलती है। भामह के यहाँ काव्य का प्राण अलंकार है और अलंकार का प्राण वक्रोक्ति। उन्होंने अलंकारों की संख्या ३९ मानी है और उन्हें चार वर्गों में रखा है।

दण्डी ने अलंकारों की संख्या उतनी ही बतायी जितनी भामह ने। हाँ, कुछ का निषेध अवश्य किया, तो कुछ नवीन जोड़कर संख्या पूरी कर दी। भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर दण्डी ने 'अतिशयोक्ति' कहा है। अलंकार सम्प्रदाय के तीसरे आचार्य उद्भट हैं, जिन्होंने भामह के 'काव्यालंकार' की व्याख्या और 'काव्यालंकारसारसंग्रह' ग्रन्थ की रचना की। भामह की मान्यताओं को ज्यों की त्यों अपनाते हुए अनुप्रास के—वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास और छेकानुप्रास—तीन भाग किये हैं तथा साथ ही अनुप्रास को परुषा, नागरिका और उपनागरिका वृत्तियों से जोड़ा है। उद्भट का 'काव्यालंकारसार-संग्रह' अलंकार-विषयक ग्रंथ होते हुए भी रस के प्रति अधिक उदार है।

उद्भट के अनन्तर, 'काव्यालंकार' के रचयिता रुद्रट के समय तक रीति, रस, ध्वनि पर पर्याप्त विचार हो चुका था, जिसका प्रभाव उनके सिद्धान्तों पर पड़ा। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दी गई अलंकारों की संख्या में वृद्धि कर उन्हें ७० के लग-भग पहुँचा दिया। वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण उनकी समता और विषमता के आधार पर किया। उनकी दृष्टि में सामान्य अर्थालंकार के मूल चार ही हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अन्य सम्पूर्ण अलंकार इन्हीं के विशेष-

---

१. नाटयशास्त्र, १७।४३।
२. प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा बुधैः॥ —नाटयशास्त्र, १७।५०।

रूप होते हैं।[1] रुद्रट की अलंकारगत मान्यता से आगे के अधिकतर आलंकारिक प्रभावित मिलते हैं।

'अलंकारसर्वस्वकार' रुय्यक मूलरूप से ध्वनिवादी हैं, पर उनके द्वारा किये गये मनोवैज्ञानिक आधार पर अलंकारों के वर्गीकरण को उनके अनन्तर आनेवाले सभी आलंकारिकों ने स्वीकार किया। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है— ।[2]

१. सादृश्य—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, स्मरण, सन्देह आदि।
२. विरोध—विरोधाभास, विषमालंकार, विभावना आदि।
३. शृंखलाबंध—कारणमाला, एकावली, सार आदि।
४. तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, हेतु आदि।
५. वाक्यमूलक—यथासंख्य अलंकार।
६. लोकन्यायमूलक—समाधि, अर्थापत्ति आदि।
७. गूढ़ार्थ प्रतीति—वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, छेकोक्ति आदि।
८. चित्तवृत्तिमूलक—प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, रसवत् आदि।

उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त में अलंकार को समेटने का प्रयत्न किया है। उनके अनन्तर आनेवाले आलंकारिकों के प्रतिनिधि जयदेव ने काव्य के लिए अलंकार को अनिवार्य तत्त्व माना। उनके 'चन्द्रालोक' के आधार पर अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' की रचना की, जिसमें अलंकारों की संख्या १२० है। इनमें १७ नवीन अलंकार हैं। उनकी संख्या-वृद्धि किसी विशेष वैज्ञानिक आधार पर नहीं है।

३. रीति-सम्प्रदाय——रीति-सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिपादक आचार्य वामन हैं। उनसे पहले भी रीति पर विचार किया गया था। भामह ने दो प्रकार के काव्य कहे—वैदर्भ और गौड़। दण्डी ने इन दोनों को रीति की संज्ञा दी। उन्होंने अपने काव्य में 'मार्ग' शब्द का प्रयोग 'रीति' के ही अर्थ में किया है। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[3] तक कहकर रीति की श्रेष्ठता का उल्लेख किया है। उन्होंने 'विशिष्ट पद-रचना रीतिः'[4] कहा है। इसमें 'विशेषो गुणात्मा' है।[5] वामन ने इसके तीन प्रकार बताए हैं—'सा त्रेधा वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली चेति।'[6] उनसे पहले भरत ने गुण पर विचार किया है। उनका मत है—

---

१. अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेष अन्ये सु भवन्ति निःशेषाः॥ —काव्यालंकार, ७।६
२. डॉ० भोलाशंकर व्यास का व्याख्यान, सन् १९७५,
हिन्दी—विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
३-६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, १।२।६, २।१।७, १।२।८, १।२।९।

श्लेषः प्रसादः समता समाधिः,
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥[1]

वामन ने अर्थगुण और शब्दगुण, कुन्तक ने विशेषगुण और सामान्यगुण इन दो वर्गों के अन्तर्गत सम्पूर्ण गुणों को रखा है। वैदर्भी समस्त गुणों से युक्त, गौड़ी ओज और कान्ति से युक्त एवं पाञ्चाली माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त होती हैं।

४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। यद्यपि इनसे पहले अलंकारवादी आचार्य भी वक्रोक्ति का विवेचन कर चुके थे, पर कुन्तक की भाँति उन्होंने इसे 'काव्यजीवित' के रूप में स्वीकार न कर अलंकार के अन्तर्गत ही इसका समावेश किया था। कुन्तक ने विचित्र वर्णन शैली को वक्रोक्ति कहा है।[2] आचार्य भामह ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में केवल नाम-भेद माना है। दण्डी ने समस्त वाङ्मय को 'स्वभावोक्ति' तथा 'वक्रोक्ति' दो भागों में विभक्त किया है।[3] वामन ने सादृश्य के कारण होने वाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहा है।[4]

५. ध्वनि सम्प्रदाय—ध्वनि सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। उन्होंने ध्वनिप्रधान काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना है। उनका मत है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥'[5]

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने को और शब्द अपने अर्थ को गौण करके व्यंग्यार्थ प्रकट करते हैं उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं। अथवा जहाँ व्यंग्य में वाच्य से अतिशयता हो वहाँ ध्वनि होती है। ध्वनि को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) रसध्वनि, (२) वस्तुध्वनि और (३) अलंकारध्वनि। ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं—(i) ध्वनिकाव्य, (ii) गुणीभूत व्यंग्यकाव्य और (iii) चित्रकाव्य। ध्वनि में प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार होने से उससे युक्त काव्य उत्तम माना गया है। काव्य के दो अर्थ होते हैं—१. वाच्य, २. प्रतीयमान। अलंकारादि वाच्यार्थ हैं और

---

१. नाट्यशास्त्र, १७।९६।
२. विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। —वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ ५१।
३. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेतिवाङ्मयम्। —काव्यादर्श, २।३६३।
४. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।८।
५. ध्वन्यालोक, १।१३।

ध्वनि प्रतीयमान या व्यंग्य। गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्य वाच्य से कम या समान चमत्कारक होता है। चित्रकाव्य में चमत्कार शब्द तथा अर्थ के अलंकार से है। वहाँ प्रमुख वाच्यार्थ ही रहता है।

६. औचित्य-सम्प्रदाय—औचित्य को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य क्षेमेंद्र हैं। औचित्य का स्वरूप निर्धारण करते हुए उन्होंने कहा है कि जो पदार्थ जिसके सदृश होता है उसे प्राचीन आचार्यों ने उचित कहा है। उचित के भाव को औचित्य कहते हैं।[१] भरत के नाट्यशास्त्र में औचित्य का विधान सिद्धान्त रूप में तो नहीं हुआ, पर व्यावहारिक रूप में दिखाई देता है। आनन्दवर्धन ने भी काव्य में औचित्य की सत्ता स्वीकार की और अनौचित्य को रसभंग का कारण माना। औचित्य का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकार अलंकार है और गुण गुण। रससिद्ध काव्य का प्राण औचित्य है।[२] अलंकार उचित स्थान ग्रहण करने से ही अलंकार कहलाता है। औचित्य से युक्त गुण ही सर्वदा गुण कहलाते हैं।[3] यह औचित्य-पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विश्लेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीष—इन २७ काव्य के अंगों में प्राप्त प्राण हैं।[४] इससे स्पष्ट होता है कि क्षेमेंद्र ने काव्य के ऐसे किसी अंग को नहीं छोड़ा, जहाँ औचित्य का प्रवेश न हो।

भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार काव्य के लक्षण और काव्यात्मा को भी निश्चित किया। भारतीय काव्यशास्त्र की यह परम्परा हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में 'रीतिकाव्य' के नाम से प्रचलित रही।

(ब) हिन्दी काव्यशास्त्र

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल संस्कृत साहित्यशास्त्र से प्रेरित और प्रभावित होकर सैद्धांतिक समीक्षा में सक्रिय रहा। कुछ विद्वानों का मत है कि इस काल के समीक्षा

---

१. उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ।।
—औचित्य-विचार-चर्चा, क्षेमेन्द्र, श्लो० ७।

२. अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।—वही, श्लोक ५।

३. उचितस्थानविन्यासोरलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ।।—वही, श्लोक ६।

४. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १८८।

के क्षेत्र में कोई नयी उद्भावना नहीं है। इस काल की भाषा ही केवल हिन्दी है, आधार तो संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ ही हैं। रीतिकाव्य का संस्कृत काव्यशास्त्र आधार अवश्य है, पर "स्थिति इतनी दयनीय नहीं। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन काव्य में—और काव्यशास्त्र में भी, इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उसके आधार पर हिन्दी के अपने विशिष्ट काव्यशास्त्र के अस्तित्व की परिकल्पना असंगत नहीं कही जा सकती है।"[1] इस परम्परा के सभी आचार्य संस्कृत के ज्ञाता थे, तभी तो संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आधार पर हिन्दी में काव्यशास्त्रीय रचना प्रस्तुत करने में सफल रहे।

इस युग की नयी उद्भावनाएँ भी हैं। इस युग में हिन्दी के छन्दशास्त्र का प्रायः स्वच्छन्द रूप में विकास हुआ। इससे सम्बद्ध ग्रंथों में कहीं 'संस्कृत' की नकल नहीं। यही नहीं, गुण में माधुर्य, रस में शृंगार, अलंकारों में सादृश्यमूलक उपमादि अलंकारों की प्रधानता एवं नायिका-भेद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन रीतिकाल की अपनी उपलब्धि है।[2] हिन्दी के रीतिकाल ने उस काल की काव्य-प्रकृति के अनुसार ही अपने मूल्यांकन का निकष स्थिर किया, उसने अपने स्वतन्त्र काव्यशास्त्र की नींव डाली। यह बात दूसरी है कि आज चार सौ वर्षों के बाद भी विदेशी मोह के कारण उस नींव पर ठोस भित्ति का निर्माण नहीं हो सका है जिसे हिन्दी साहित्य अपनी कह सके, अस्तु।[3]

हिन्दी-काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द का प्रयोग काव्य-रचना के नियमों और सिद्धांतों के लिए किया गया है, जो कि संस्कृत के 'रीति' शब्द के अर्थ विशिष्टापदरचना रीतिः से सर्वथा भिन्न है। रीतिकाल में काव्य के दशांगों पर लिखे गये ग्रन्थ प्रधान थे। इस समय के रीतिकारों में आचार्य और कवि दोनों बनने का मोह रहा। वे चन्द्रालोककार जयदेव और भानुदत्त से अधिक प्रभावित हुए। संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ में भी आचार्य और कवि दोनों व्यक्तित्वों के दर्शन होते हैं। उन्होंने अपने मत के स्पष्टीकरण में अपने उद्धरण ही प्रस्तुत किये। 'चन्द्रालोक' के एक ही श्लोक में अलंकार के लक्षण और उदाहरण दोनों हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र और रीतिकाल के बीच प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में साहित्यशास्त्र का विकास नहीं

---

१. विचार और विश्लेषण, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६-७।
२. द्रष्टव्य—काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन, सम्पादक डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय, पृ० १९२।
३. चिंतामणि, कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अनुशीलन, डॉ० रामकुँवर राय, पृ० ३।

दिखायी देता। रीतिकाव्यकारों ने सीधे संस्कृत साहित्यशास्त्र से ही काव्यशास्त्रीय परम्परा ग्रहण की। पर उनमें संस्कृत जैसी गम्भीरता एवं प्रौढ़ता नहीं है।

हिन्दी-काव्यशास्त्र का वास्तविक उद्भव आचार्य केशवदास के ग्रन्थों से होता है, पर उसके पूर्ववर्ती ग्रंथों में भी काव्यशास्त्रीय बीज दिखायी देते हैं। इस परम्परा का बीज सिद्ध शान्तिपा या रत्नाकर शान्ति (सन् १००० ई०) का छन्दशास्त्र पर लिखा 'छन्दी रत्नाकर' तथा आचार्य हेमचन्द्र सूरि (सन् १०८८–११७९ ई०) के प्राकृत व्याकरण 'छन्दोनुशासन' तथा 'देशीनाममालाकोश' में ढूँढ़ा जाता है, पर लक्षणादि मान्यताओं के अभाव में उन ग्रन्थों को इस परम्परा में स्थान देना ठीक नहीं है। अतः इन ग्रन्थों को हम अधिक से अधिक प्रेरणा के रूप में ले सकते हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर सम्वत् ७७० वि० के आस-पास पुण्य या पुष्य कवि के एक ग्रंथ का उल्लेख किया जाता हैं, जिसमें हिन्दी भाषा में संस्कृत अलंकारों का अनुवाद है। पर अभी तक उस ग्रंथ के उपलब्ध न होने से उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य के रूप में कृपाराम का नाम लिया जाता है। उनकी 'हिततरंगिणी' को काव्यशास्त्र-विषयक सर्वप्रथम ग्रंथ माना जाता है, जिसकी रचना सन् १५४१ ई० में हुई। यद्यपि पं० चन्द्रवली पाण्डेय ने इसकी रचना सन १७४१ ई० के आस-पास मानी है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' पर आधृत इस ग्रंथ को यदि परवर्ती मान भी लिया जाय तो भी सं० १६०० के आसपास से सं० १७०० तक रीतिग्रंथों की परम्परा रही है। मोहनलाल मिश्र (सन् १५५९ ई०) का 'श्रृंगार सागर', नन्ददास की 'रसमंजरी' एवं अकबर के दरबारी करनेश (सं० १६३७) के 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूपभूषण' आदि ग्रंथों का केशव के पूर्ववर्ती उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में उल्लेख किया जाता है। पर इन आचार्यों और ग्रंथों में कोई भी महत्वपूर्ण नहीं है। अतः हमें ऐसी दशा में आचार्य केशवदास को ही हिन्दी-काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य मानना पड़ता है जिनका रचना काल सं० १६५० वि० के लगभग है।

केशवदास ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य एवं कवि दोनों रूपों में ख्याति प्राप्त की। साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी विषयों का प्रतिपादन उनके 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' ग्रंथों में हुआ है। 'कविप्रिया' की रचना संस्कृत के अलंकार-सम्प्रदाय वाले ग्रंथों—'काव्यादर्श', 'कविकल्पलतावृत्ति'—आदि के आधार पर की गई। भरत का 'नाटचशास्त्र', भानुदत्त की 'रसमंजरी', भोज का 'श्रृंगारप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण', रुद्रभट्ट का 'श्रृंगारतिलक' आदि 'रसिकप्रिया' के प्रमुख आधार ग्रंथ हैं।

उन्होंने अपनी 'कविप्रिया' में कवि-कर्म,[१] कवि-भेद,[२] काव्य-दोष,[३] काव्य-अलंकार[४] आदि पर विचार किया है।

उन्होंने प्राचीन आचार्यों की भाँति, 'अलंकार' शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण किया है। पारिभाषिक अर्थ के अनुसार 'विशेषालंकार' के अतिरिक्त उन्होंने सामान्यालंकार के अन्तर्गत काव्य की शोभा बढ़ाने वाली सभी सामग्री एकत्र की।

केशवदास की 'रसिकप्रिया' उनके लक्षण ग्रन्थों में सर्वप्रथम कृति है। इसमें उन्होंने रसांग, नवरस, अनरस (रस-दोष), काव्य वृत्तियों आदि का वर्णन किया है। उन्होंने अनरस के पाँच भेद किये—

> प्रत्यनीक नीरस बिरस, केशव दु:संधान।
> पात्रादुष्ट कबित्त बहु, करहिं न सुकबि बखान ॥[५]

उन्होंने कैशिकी, भारती, आरंभटी और सात्वती-चार काव्य-वृत्तियाँ बतायी हैं। केशव ने संयोग एवं वियोग के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद किये हैं।[६]

केशव के पश्चात् सुन्दर कवि का 'सुन्दर शृंगार' (सं० १६८८ वि०) भी हिन्दी काव्यशास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत स्मरण किया जाता है, जिसमें शृंगार रस का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें नायक-नायिका भेद का विवेचन 'रसमंजरी' पर आधृत है।

हिन्दी के साहित्येतिहासिकारों ने रीतिकाल का समय सं० १७०० से १९०० तक माना है। आचार्य चिन्तामणि (रचनाकाल सं० १७०० वि०) को रीतिकाल का प्रवर्त्तक आचार्य माना जाता है। विचारणीय विषय यह है कि जिस परम्परा का श्रीगणेश केशव ने किया था, क्या वे प्रवर्त्तक आचार्य नहीं ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने

---

१. चरन धरत चिंता करत, नींद न भावत सोर।
सुबरन को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर ॥—कविप्रिया, ३।४

२. उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि-रस लीन।
मध्यम मानत मानुषनि, दोषनि अधम प्रवीन ॥—वही, ४।१

३. राजत रंच न दोषजुत, कविता बनिता मित्र।
बुंदक हाला होत ज्यों गंगाघट अपवित्र ॥—वही, ३।४

४. जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजहीं, कविता बनिता मित्त ॥—वही ५।१

५. रसिकप्रिया, १६।१।

६. वही, १।२०, २८।

अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में आचार्य चिन्तामणि को केशव से अधिक महत्त्व देते हुए कहा है कि "हिन्दी रीति ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।"[१] यद्यपि इस मान्यता पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। केशव का प्रयोजन किसी स्वतन्त्र काव्य-परम्परा को प्रवर्तित करना नहीं था। साथ ही जिस प्रकार भामह, दण्डी आदि के काव्य-सिद्धान्तों का अनुगमन उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा नहीं हुआ उसी प्रकार केशव का भी अनुगमन बाद के रीति आचार्यों ने नहीं किया। यदि रीतिकाल में कहीं अल्पमात्रा में उनका अनुकरण हुआ भी तो केवल नायक-नायिका भेद के क्षेत्र में। आचार्य चिन्तामणि का आरम्भिक ग्रन्थ 'रसविलास' भी 'रसिकप्रिया' से प्रभावित है। परन्तु केशव का यह प्रभाव इतना पर्याप्त नहीं है कि उनको प्रवर्त्तक आचार्य माना जाय। विषय की सुगमता, परम्परा के प्रचलन, ग्रन्थों मे सिद्धान्त-निरूपण आदि की दृष्टि से, चिन्तामणि ही रीति-परम्परा के प्रवर्तक हैं।

रीतिकाल का आरम्भ चिन्तामणि के रचनाकाल (सं० १७०० वि०) से माना जाता है। साहित्येतिहासकारों के अनुसार 'काव्यविवेक', 'कविकुलकल्पतरु', 'काव्यप्रकाश', 'पिंगल', 'रामायण' और 'रसमंजरी' उनके रचना ग्रन्थ हैं। उनके काव्य-लक्षण पर विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[२] का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने काव्य के गद्य-पद्य दो भेद करते हुए उसके स्वरूप का निर्धारण किया है, जो मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' से प्रभावित है।[३]

काव्यदोष के स्वरूप का निर्धारण करते हुए उन्होंने उसे काव्यानन्द को कम करने वाला बताया है।[४] उन्होंने मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों की भाँति अनुप्रासोपमादि

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० २५६।
२. बतकहाउ रसमै जु है कवित कहावै सोइ। —कविकुकलकल्पतरु, १।४।
३. तुलनार्थ द्रष्टव्य—
   (क) छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिनु छंद।
   भाषा छंद निबद्ध सुनि सुकवि होत सानंद॥
   सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
   सब्द अर्थ ताकौ कबित कहत बिबुध सब कोइ॥ —वही, १।५, ७।
   (ख) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश, १।४।
४. शब्द अर्थ रस को जु इत, देखि परै अपकर्ष।
   दोष कहत हैं ताहिको, सुनै घटतु है हर्ष॥ —कविकुलकल्पतरु, ४।१।

अलंकारों को हारादि के समान बाह्य शोभावर्द्धक तत्त्व ही स्वीकार किया है।[१] ध्वनि-वादियों की दृष्टि में व्यंग्यार्थ-शून्य अलंकार-योजना से युक्त काव्य 'चित्रकाव्य' (अधम-काव्य) है।[२] वही स्थिति चिंतामणि के शब्दालंकार प्रकरण के अन्त में दिखायी देती है।[३]

उन्होंने 'अन्वयव्यतिरेक'[४] सिद्धान्त के आधार पर अलंकार के दो भेद किये— (क) शब्दालंकार और (ख) अर्थालंकार। इन अलंकारों के भेदोपभेद भी किये हैं। चिन्तामणि ने वृत्त्यानुप्रास के निरूपण में उपनागरिका, कोमला और परुषा वृत्तियों को क्रमशः माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणाभिव्यंजक वर्णों से युक्त वतलाते हुए उन्हें वैदर्भी, पांचाली और गौड़ी रीतियों का पर्याय घोषित किया है।[५]

उन्होंने रसप्रसंग में रस के विभिन्न अंगों, जैसे—हाव-भाव, अनुभाव, संचारीभाव रसाभास आदि का वर्णन किया है। उन्होंने भाव को मन का विकार एवं वासना का प्रतिरूप माना है।[६]

आचार्य कुलपति मिश्र (सं० १७२७) ने 'रसरहस्य' में काव्यशास्त्रीय विषयों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनके इस ग्रन्थ में काव्य-लक्षण, प्रयोजन, सामग्री, भेद, गुण, वृत्तियाँ, दोष, रस, अलंकार इत्यादि का निरूपण है। वे काव्य का लक्षण

---

१. अलंकार हारादिते, उपमादिक मन आनि।
....।
अलंकार ज्यों पुरुष के, हारादिक मन आनि।
प्रासोपम आदिक कवित, अलंकार ज्यों जानि॥—कविकुलकल्पतरु, १।६,२।४।

२. काव्यप्रकाश, पृ० ७ तथा ध्वन्यावलोक ३।४३ (वृत्ति)।

३. शब्द चित्र इत ए सबै, अधम कबित पहिचानि।
जे हैं ध्वनि ते हीन ते, अर्थ चित्र सो मानि॥ —कविकुलकल्पतरु, २।३६।

४. सात शब्द अलंकार ये, तिनमें शब्द जु होइ।
ताहीं ते पर्जाय पद, दिये न भासै कोइ॥ —कविकुलकल्पतरु, २।३।

५. माधुर्यौ विंजक बरन उपनागरिका होइ।
मिलि प्रसाद पुनि कोमला, परुषा वोज समोइ॥
वैदर्भी पंचाल जो, गौड़ी धरम नवीन।
रीति कहत कोऊ उन्हें, वृत्ति जे हैं ए तीन॥ —वही, २।१३, १४।

६. मन विकार कहि भाव सों बरन वासना रूप। —वही, ५।२।५०।

अलौकिक आनन्द के रूप में करते हैं।[1] उनका काव्य-प्रयोजन-निरूपण अनेक संस्कृत विद्वानों के मतों के निष्कर्ष रूप में है।[2]

उन्होंने 'रसरहस्य' में तीन प्रकार के काव्यों—उत्तम, मध्यम एवं अवर—का उल्लेख किया है। अलंकार के स्वरूप-निर्धारण में उक्ति-भेद को ही अलंकार कहा है।[3]

आचार्य देव (सं० १७४६–१७९० वि०) 'भाव विलास', 'भवानी विलास', 'सुजान विनोद', 'कुशल विलास', 'रस विलास', 'शब्दरसायन' आदि रीतिग्रन्थों की रचना कर रीतिकालीन काव्य-सिद्धान्त-विवेचन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उनके ग्रन्थों में एक के लक्षण-उदाहरण दूसरे के ग्रन्थों में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'शब्दरसायन' में शब्दशक्ति, वृत्ति, रीति, रस आदि के साथ ही अन्त में छन्दशास्त्र का भी वर्णन है। काव्य-स्वरूप के स्पष्टीकरण में उन्होंने काव्य-पुरुष की चर्चा की है। काव्यात्मा से सम्बद्ध उनकी दो परस्पर विरोधी दृष्टियाँ दिखायी देती हैं।[4] उन्होंने काव्य-प्रकारों की चर्चा करते हुए उत्तम[5] एवं अधम[6] काव्य के

---

१. जग ते अद्भुत सुख सदन सब्दरु अर्थ कबित्त।—रसरहस्य, १।२०।

२. जस संपति आनंद अति दुरितन डारै खोइ। —वही, १।३२।

३. उक्ति भेद ते होत हैं, अलंकार यह जानि।
बक्र उक्ति यातें कही, द्वै बिधि प्रथम बखानि॥ —रसरहस्य, ७।३।

४. (क) अलंकार भूषन सुरस जीव छद तन भास।
तन भूषन हू विन जियें बिन जीवन तन राखं॥
—शब्द रसायन, दसवाँ प्रकाश, पृ० १६०।

(ख) सब्द जीव यिहि अरथ मनु, काव्य सुसरस शरीर।
चलत रीति सौछंद गति, अलंकार गम्भीर॥
—वही, सातवाँ प्रकाश, पृष्ठ ७२।

५. अर्थ शब्द सुन्दर सरस, प्रगट भाव रस प्रीति।
उत्तम काव्य सु सब गुनन, आगर नागर रीति॥
—वही, (स० प्र०) पृ० ८४।

६. अलंकार जे शब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र।
अर्थ समर्थ न पाइयत, अक्षर बरन विचित्र॥
अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।
सुन्दर छंद अनन्द रस, होत प्रसन्न प्रवीन॥
—वही, (अ० प्र०) पृष्ठ ८४।

लक्षण भी दिए हैं। काव्यहेतु के रूप में उन्होंने गुरु की कृपा को अधिक महत्त्व दिया है।[१]

'भावविलास' में देव ने रसनिष्पत्ति के लिए स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विकी, संचारी तथा हाव का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में सभी रसों का मूल शृंगार रस है। उत्साह और निर्वेद इसी से उत्पन्न होकर क्रमशः वीर और शान्त रस का रूप धारण करते हैं।[२] इस प्रसंग में उन्होंने नायिका भेद का भी वर्णन किया है।

आचार्य श्रीपति मिश्र (सं० १७७७ वि०) ने भी 'कविकुलकल्पद्रुम', 'अलंकारगंगा', 'काव्य सरोज' आदि अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। इस समय उनका मात्र 'काव्य सरोज' ही उपलब्ध है। उन्होंने दोषहीन तथा गुण-अलंकार-रस से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहा है।[३] उन्होंने शक्ति, निपुणता, लोकमत, व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा को काव्यहेतु के रूप में स्वीकार किया।[४] वे अलंकार-विहीन काव्य को सौन्दर्य-विहीन काव्य मानते हैं।[५] यद्यपि रस-प्रकरण में रस के महत्त्व को भी स्वीकार किया है।[६] उन्होंने 'काव्यसरोज' में काव्य के सभी अंगों—शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, दोष, गुण, अलंकार—का सम्यक् विवेचन किया।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से सोमनाथ का (सं० १७९४ वि०) 'रसपीयूषनिधि' ग्रंथ बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें पिंगल, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि विषयों का निरूपण किया गया है। उन्होंने दोषहीन, छन्दोबद्ध, गुण, अर्थ, अलंकार आदि से युक्त पद को कविता माना है।[७] उन्होंने काव्य

---

१. श्री गुरुदेव कृपालु की, कृपा सुबुद्धि समीप।
तिमिरु मिटै प्रगटै हृदै, मन्दिर अनुभव दीप ॥—वही, (प्र० प्र०) पृष्ठ १।

२. भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल सिंगार।
तेहि उछाह निरबेद लै बीर सान्त संचार ॥ —भवानी विलास, १।१०।

३. शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
तासों काव्य बखानई श्रीपति परम सुजान ॥ —काव्यसरोज, १।६।

४. सक्ति निपुनता लोकमत बितपति अरु अभ्यास।
अरु प्रतिभा ते होत है ताको ललित प्रकास ॥—वही १।७।

५. जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, कविता बनिता रूप ॥ —वही, १०।१।

६. जदपि दोष बिनु गुन सहित, अलंकार सों लीन।
कविता बनिता छबि नहीं, रस बिन तदपि प्रवीन ॥ —वही, १३।१।

७. सगुन पदारथ दोष बिनु पिंगल मत अबिरुद्ध।
भूषन जुत कवि कर्म जो, सो कबित्त कहि बुद्ध ॥—रसपीयूषनिधि, ६।२।

का प्रयोजन यश, धन, आनंद और मंगल बताये हैं। उनके काव्य-सिद्धान्तों पर मम्मट और विश्वनाथ के मतों का प्रभाव है।

रीतिकाल के परवर्ती आचार्यों में भिखारीदास (सं० १८३० वि०) श्रेष्ठ आचार्य हैं। मिश्रवन्धुओं ने अपने 'विनोद' में रीतिकालीन साहित्य को पूर्वालंकृत और उत्तरालंकृत काल में विभक्त किया है। उनकी दृष्टि में पहले के आरम्भिक कवि-आचार्य चिंतामणि और दूसरे के भिखारीदास हैं। काव्यशास्त्र की दृष्टि से भिखारीदास का प्रमुख ग्रंथ 'काव्यनिर्णय' है। उसकी रचना 'काव्यप्रकाश' और चंद्रालोक के आधार पर हुई है। उनकी दृष्टि में रस काव्य का शरीर, अलंकार आभूषण, गुण रंगरूप और दोष उसकी कुरूपता है।[1]

काव्य-प्रयोजन पर उनका विचार है कि कुछ तपस्या और काव्य-साधना द्वारा पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करते हैं, जैसे—सूर, तुलसी; कुछ धन-वैभव प्राप्त करते हैं, जैसे—केशव, भूषण, विहारी आदि तथा कुछ यश को प्राप्त करते हैं, जैसे—रहीम, रसखान आदि।[2] शब्दशक्तियों के भेदोपभेद भी उन्होंने किये हैं। अलंकार के सम्बन्ध में उनका कहना है कि ये कहीं व्यंग्य और कहीं वचन से आते हैं। उन्होंने रस-प्रसंग में रसांग, नवरस आदि का वर्णन किया है। उनका ध्वनि-विषयक विचार परम्परागत ही है।[3] उन्होंने 'काव्य निर्णय' में 'तुक' और काव्यवृत्तियों पर भी विचार किया है।

इन आचार्यों के अतिरिक्त रीतिकाल में सर्वांगनिरूपक आचार्यों के रूप में सूरति मिश्र, यदुमन दास, कुमारमणि एवं प्रतापसाहि के नाम गण्य हैं। इस काल में कुछ ऐसे भी आचार्य हुए जिन्होंने या तो मात्र अलंकार-विषयक ग्रन्थों की रचना की या रस विषयक। ऐसे आचार्यों में जसवत सिंह, मतिराम, पद्माकर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास में रीतिकालीन आचार्यों का क्या योगदान है, इस सम्वन्ध में निम्नलिखित मत अवेक्षणीय है—"चिंतामणि आदि रीतिकालीन आचार्यों का भारतीय साहित्य के विकास में एकमात्र योगदान है—हिन्दी भाषा में संस्कृत

---

१. रस कवित्त को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता॥
—भिखारीदास, ग्रंथावली (भाग २), सं० आचार्य मिश्र, पृ० ५।

२. एक लहैं तप पुंजन्ह के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसांई।
एक लहैं वहु सम्पति केसव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई।
एकन्ह को जसही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाँई॥ —वही, पृ० ४।

३. बाच्य अरथ ते व्यंगि में, चमत्कार अधिकार।
धुनि ताही को कहत सोइ, उत्तम काव्य विचार॥ —वही, पृ० ४४।

काव्यशास्त्रीय परम्परा की सरस रूप में अवतारणा। उनका महत्त्व इसी तथ्य में निहित है कि उन्होंने रीतिकालीन हिन्दी-काव्यशास्त्र को प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र से जोड़ दिया है। भारतीय भाषाओं में केवल हिन्दी और मराठी ही ऐसी सौभाग्वती भाषाएँ हैं जिनका सम्बन्ध-सूत्र संस्कृत आलोचना से टूट नहीं सका है।"[१]

वीसवीं शताब्दी में नयी राजनीतिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का उद्भव होने से सामाजिकों (सहृदयों) के बीच रीति-ग्रन्थों का आदर राजदरबारों की अपेक्षा कम हो गया। काव्य का विश्लेषण अब परम्परागत नहीं रह गया। इस पर संस्कृत, अंग्रेजी साहित्य, विदेशी शासन के साथ ही विज्ञान एवं गद्य के प्रचार का भी प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में आगे यथास्थान प्रबन्ध में 'आधुनिक हिन्दी आलोचना : विकास और उपलब्धि' शीर्षक में विस्तार से विचार किया जायेगा।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र

पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित 'पोइटिक्स' शब्द काव्यशास्त्र का समानार्थी है। 'पोइटिक्स' काव्य-कला के नियमों एवं सिद्धान्तों का विचार करने वाला विज्ञान है।[२] कवि की दृष्टि से 'पोइटिक्स' साहित्यिक आलोचना की वह शाखा है जो कविता पर विचार करती है।[3] आलोचना सम्पूर्ण साहित्य पर विचार करती है। यह साहित्यशास्त्र की एक विधा है।

यूनान में आलोचना का विकास स्वतन्त्र रूप में न होकर भाषणशास्त्र से प्रभावित होकर हुआ। यहाँ के भाषणशास्त्र में दर्शन का अधिक महत्त्व था, जिसमें तर्क-वितर्क अधिक था। इसलिए साहित्यिक समालोचना के बीज दर्शनशास्त्र के वाद-विवाद के विचार-प्रसंग में ही दृष्टिगोचर होते हैं।[४] डॉ० एस० पी० खत्री ने प्राचीन आलोचनाकाल को तीन भागों में विभाजित किया। पहला काल चौथी-पाँचवीं श० ई० पू० कहा जा सकता है। इस काल के साहित्यकारों, दर्शनवेत्ताओं एवं कलाकारों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर अनेक आधुनिक आलोचक अपने आलोचना-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए सामने आये। दूसरा काल दूसरी और तीसरी शती ई० पू० माना गया है। इस समय अलैक्जेण्ड्रिया एवं यूनान सभ्यता और विद्या से प्रभावित होकर अन्य प्रकार की प्रगति कर रहे थे। इसमें पहले की प्रवृत्तियों के साथ ही आगे आने वाली प्रवृत्तियों के

---

१. चिन्तामणि, कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अनुशीलन, डॉ० रामकुँवर राय, पृ० २७७।

२,३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० ३।

४. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, १८९।

भी संकेत हैं। तीसरा काल वह है जब रोम और यूनान के पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा दो सौ वर्षों तक सभ्यता और संस्कृति की प्रगति और प्रसार होता रहा। इन कालों में साहित्यिक ग्रंथों के निर्माण का अभाव रहा। कुछ बिखरी हुई कृतियाँ ही मिलती हैं। कुछ ग्रंथ सुकरात के संवाद के रूप में, कुछ भाषणशास्त्र, त्रासदी, कामदी लेख, व्यंग्य काव्य, कविता और गद्य-विषयक प्राप्त होते हैं। यूनानियों ने आलोचना को दर्शन, भाषणशास्त्र और व्याकरण के अन्तर्गत ही रखा है। इस युग के प्रसिद्ध विचारक हैं—सुकरात और पेरिक्लीज।

आलोचना के आदि संकेत यूनान के आदि कवि होमर और साहित्यकार हिसियाड की रचनाओं में अस्पष्ट रूप में मिलते हैं और उसकी पुष्टि छठी शती ई० पूर्व के दर्शनवेत्ताओं की रचनाओं और वक्तव्यों से होती है। जेनोफनीस और हेराक्लिटस इस शती के प्रमुख लेखक हैं, जिनकी प्रकीर्ण रचनाओं में आलोचनात्मक दृष्टि का संकेतमात्र मिलता है। प्राचीन युग के आलोचनात्मक सिद्धान्तों का प्रथम दर्शन अफलातून (प्लेटो) में होता है जिनका मूलस्वरूप दार्शनिक था। प्राचीन काल से चली आ रही चिंतन-धाराओं का निरूपण अफलातून ने अपनी कृतियों में किया है।

प्राचीन यूनानी काव्य-सिद्धान्त का दर्शन उस समय के महाकाव्य के रूप में प्राप्त रचनाओं में होता है। इन रचनाओं में प्राचीन काव्य की उपयोगिता, स्वरूप और काव्य-धर्म पर कुछ सिद्धांत संकेत रूप में मिलते हैं। होमर काव्य की प्रेरणा दैवी कृपा मानता है। हिसियाड ने भी दैवी कृपा के अभाव में उत्तम कोटि के काव्य की रचना असम्भव मानी। होमर की दृष्टि में काव्य का लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना है तो हिसियाड की दृष्टि में मार्मिक सन्देश द्वारा जन-कल्याण। आलोचना साहित्य के इतिहास पर दृष्टि-पात करने पर स्पष्ट होता है कि सभी साहित्यकार अपने मनोनुकूल काव्य का उद्देश्य निश्चित कर काव्य-रचना करते रहे।

इस काल के साहित्यकारों और दर्शनवेत्ताओं में प्राचीन काल से चले आ रहे द्वन्द्व ने और जोर पकड़ लिया। होमर ने देवी-देवताओं को मानवीय गुणों से विभूषित किया था। इसी को लेकर दार्शनिकों ने उस पर आक्षेप किये। इसी समय के कुछ आलोचकों ने इस विवाद का अन्त करने का प्रयत्न किया। दार्शनिकों ने प्राचीन कवियों की लोक-गाथाओं एवं देव-कथाओं में अनेक सांसारिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के सांकेतिक रूप का निरूपण कर प्रचलित वाद-विवादों की शान्ति की। देव-कथाओं में छिपे ज्ञान के संकेतों और कल्पनाप्रतीकों का विवेचन करके पाठक उनके वास्तविक तथ्य को समझ सकता है। इसी के आधार पर दार्शनिकों का कहना है कि 'होमर की रचनाओं का केवल शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना चाहिए उनके शब्दों और प्रतीकों के पीछे जो सत्य छिपाकर रखे गए हैं उनको भलीभाँति समझना चाहिए। तभी होमर की महत्ता समझी

जा सकती है ।[1] बहुतों ने तो होमर के अश्लील उद्धरणों में भी आध्यात्मिक सत्य का दर्शन किया । उसके महाकाव्यों के टीकाकार थियाजेनिज का मत है कि उसने पाठक-वर्ग का ध्यान आकर्षित करने के लिए ऐसी रचना की । इस अन्यापदेशिक (ऐलेगोरिकल) शैली से कविता की आलोचना को क्षति पहुँची, और वह कुछ आध्यात्मिक सत्यों का विवेचनमात्र बनकर रह गई ।

अफलातून (प्लेटो)

चौथी शती ई० पूर्व के आरम्भ में ही साहित्यिक आलोचना की झलक मिली। अपने गुरु सुकरात की त्रुटियों को दूर करने में अफलातून (प्लेटो) ने जिन संवादों का प्रयोग किया उनमें साहित्य-समीक्षा की पहली झलक मिलती है। उन्होंने स्वच्छन्द रूप से आलोचना की चर्चा नहीं की । राजनीति, आचरण, शिक्षा, दर्शन इत्यादि हो उनके प्रिय विषय हैं । उन्होंने संवादों के अन्तर्गत ही भाषण-कला, भाषा, तर्कशास्त्र तथा काव्य का विवेचन किया है । आदर्शवादी होने के परिणामस्वरूप उन्होंने संसार और उसकी समस्याओं को उसी दृष्टि से देखा । उन्होंने कवियों और काव्य का विरोध करते हुए, उन्हें राजनीति से पृथक् कर दिया । यह विरोध उस समय के लेखकों और नाटककारों की रचनाओं—त्रासदियों और कामदियों—के प्रभाव के कारण था । इस समय के लेखक प्रतिभा और मौलिकता से रहित थे । उनका रूप अनुकरण मात्र ही रह गया था । इस प्रकार के अनुकर्ताओं द्वारा निर्मित साहित्य से राजनीतिक, सामाजिक, वैयक्तिक आदि क्षेत्रों में उच्छृङ्खलता फैलने की सम्भावना थी । प्लेटो को इसी से घृणा थी । उनका उद्देश्य उच्चकोटि के समाज, राजनीतिक सिद्धान्त तथा नैतिक नियमों की स्थापना था । इस प्रकार प्लेटो ने तत्कालीन साहित्य की उच्छृङ्खलताओं से ही प्रेरित होकर विरोधी भावना अपनायी । यह समझना भ्रामक है कि वे श्रेष्ठ काव्य और श्रेष्ठ कलाकारों के विरोधी हैं ।[2] एथेंस का तत्कालीन साहित्य विरोध के योग्य था भी ।

प्लेटो ने रूढ़िवादी धारणा का विरोध किया । अपने से पहले के उन साहित्यकारों के मतों का खण्डन किया, जो यह मानते थे कि 'कवियों द्वारा ही श्रेष्ठ ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, ज्ञान का प्रसार होता है, जनता सुशिक्षित होती है, काव्य को ही सहायता से सभ्यता और संस्कृति फूलती-फलती है, देश में नैतिकता का प्रसार होता है और मानव श्रेष्ठ पद पर आसीन होता है ।'[3] उन्होंने उस काव्य को ग्राह्य बताया, जिसमें (त्रासदी या कामदी या महाकाव्य में) शौर्य, धैर्य, पवित्रता आदि गुणों पर विचार हो ।

---

१. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० १६ ।
२,३. वही, पृ० २८, २९ ।

उन्होंने कवियों में दैवी-प्रेरणा स्वीकार की। उन्होंने काव्य के प्रतीकात्मक अर्थ को अविश्वसनीय माना। कवि सत्य का नहीं, सत्य के प्रतिविम्ब का अनुकर्ता होता है। इसलिए वह वास्तविकता से बहुत दूर होता है। वह देवलोक की यथार्थता को नहीं; उसकी छाया को ही ग्रहण कर पाता है। इस प्रकार कविधर्म मृगमरीचिका के समान है जो शक्तिरहित एवं उपयोगिता-विहीन है। उनकी दृष्टि में दो प्रकार के काव्य ही ग्राह्य हो सकते हैं— प्रथम जो देवताओं की स्तुति करें और दूसरे वे जो महापुरुषों का गुणगान कर समाज को उत्साहित करें। उन्होंने उपयोगी कला और ललित कला की चर्चा की है जो अनुकरण शक्ति पर आधृत हैं। उन्होंने पार्थिव एवं मूर्त संसार के परे एक और दैवी अमूर्त संसार माना। उनका अनुकरण सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्त पर आधृत है। वे ही पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने काव्य को गीत, नाटक तथा प्रबन्ध के रूप में विभक्त किया। उनकी दृष्टि सामञ्जस्यवादी थी। उन्होंने क्रम, नियन्त्रण और समन्वय को सामञ्जस्य का तत्त्व माना। उन्होंने काव्य, काव्य के उद्देश्य, त्रासदी, कामदी, गद्यशैली, आलोचना आदि विषयों पर अपना मत प्रकट कर परवर्ती आलोचकों का मार्गदर्शन किया। नाटक में त्रासदी को विशेष महत्त्व दिया। उन्होंने रचनाकारों को दो वर्गों में रखा—पद्य या छन्द में लिखने वाले और छन्दहीन गद्य में लिखने वाले। आलोचकों को सुबुद्धि और साहस के आधार पर दूसरों का पथ-प्रदर्शक माना। उनके आलोचना-सिद्धान्त के आधार पर अरस्तू ने अपने अनेक नवीन सिद्धान्तों का निर्माण किया।

अरस्तू—प्लेटो के युग में ही उनके शिष्य अरस्तू का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने उनकी मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए अपने नये सिद्धान्त की स्थापना की। प्लेटो आध्यात्मिक और आदर्शवादी था, परन्तु अरस्तू की दृष्टि वैज्ञानिक एवं यथार्थवादी थी। अरस्तू का उद्देश्य प्लेटो के तर्क और सिद्धान्त का विश्लेषण करना ही था। इस विश्लेषण के अन्तर्गत ही उन्होंने अपने नये सिद्धान्त स्थापित किये। प्लेटो की भाँति ही उन्होंने भी काव्यशास्त्र (पोयटिक्स) तथा भाषणशास्त्र (रेटारिक) पर अपना विचार व्यक्त किया। उन्होंने काव्यभेद के विस्तृत विवेचन में त्रासदी पर अधिक विचार किया है। गीतिकाव्य को त्रासदी का आदि रूप माना जो उसका बाह्य आभूषण है।

अरस्तू ने काव्य में अनुकरण को माना अवश्य, पर उनका क्षेत्र प्लेटो से व्यापक है। उनकी दृष्टि में अनुकरण ज्यों-का-त्यों नहीं होता। संसृति में जो बीज रूप में प्रस्तुत है उसे कलाकार क्रियाशील और ज्योतिर्मय बनाता है। 'काव्य न तो यथार्थ का अनुकरण है न भावों का इन्द्रजाल ही, वह तत्त्वतः दैनन्दिन जीवन का सार्वभौम

सत्त्व है।'[1] प्लेटो ने दर्शनवेत्ता एवं कवि दोनों में समान प्रेरणा देखी थी, पर इसको सिद्धान्त रूप में स्थापित किया अरस्तू ने। उन्होंने काव्य में नैतिकता और सौन्दर्य दोनों का सम्मिश्रण माना। काव्य-सर्जन में सौन्दर्य का महत्त्व प्रमुख है, जबकि नैतिकता का गौण।

उनके समकालीन साहित्यकार काव्य का वर्गीकरण छन्द के आधार पर किया करते थे, जो अरस्तू को मान्य नहीं था। उन्होंने काव्य-रचना के लिए छन्द अपेक्षित नहीं माना। त्रासदी के विवेचन में राग, लय और संगीत को प्रधानता देने के साथ ही उन्होंने समकालीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में अधिक रुचि दिखायी।

उन्होंने काव्य में दैवी प्रेरणा के साथ जीवनगत अनुभव और अभ्यास को भी आवश्यक माना। काव्य के वैज्ञानिक आधार पर चार वर्ग—महाकाव्य, त्रासदी, कामदी तथा गीतकाव्य—बताये। त्रासदी के सम्बन्ध में उनका मत है कि "वह अपनी सम्पूर्ण सीमा के अन्तर्गत गम्भीर, महत्त्वपूर्ण और विशाल कार्य-व्यापार की रंगशाला में ऐसी अनुकृति है जो भाषा के माध्यम से सौन्दर्यात्मक और आनन्ददायिनी होकर भय और करुणा के सञ्चार द्वारा मनोविकारों की अति को परिष्कृत कर सामञ्जस्य प्रस्तुत करती है। कामदी में गम्भीर काव्य-व्यापार नहीं प्रयुक्त होते। गीतों का प्रयोग समवेत गायन में होता है और इसके संवाद में छन्दयुक्त कविता प्रयुक्त होती है। त्रासदी के तत्त्वों के अन्तर्गत वस्तु, पात्र, विचार, धाराप्रवाह, संगीत और दृश्य को माना है, पर इसमें प्रमुख स्थान वस्तु को दिया है। त्रासदी में दुःख का प्रदर्शन विस्मयजनक हो, जो पात्रों के साथ दर्शकों के लिए भी विस्मयकारी हो। नाटक में दृश्य प्रदर्शन और वेशभूषा आदि गौण तत्त्व हैं। अरस्तू ने संगीत को त्रासदी में आनन्द प्रदान करने में सहायक माना।

कामदी को उन्होंने समाज के निम्न श्रेणी के घृणित अथवा उपहासास्पद कार्यों का अनुकरण माना है। जो उनकी किसी भूल या शारीरिक कुरूपता से ही सम्बद्ध होते हैं। जिस प्रकार त्रासदी भय और करुणा के प्रसार से अनेक मानवीय भावों को परिष्कृत करती है, उसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष को कामदी।

अरस्तू ने शब्दों के चुनाव का क्षेत्र प्रचलित शब्द, विदेशी शब्द, अपभ्रंश तथा नये निर्मित शब्दों को माना है। चुने हुए शब्दों का प्रयोग हृदयस्पर्शी होना चाहिए। उन्होंने गम्भीर कार्य की वर्णनात्मक शैली में प्रस्तुत करने वाली रचना को प्रबन्ध

1. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० १९४।

माना। वह एक ही छन्दविशेष में होगा, जिसका आधार मूलतः नाटकीय होगा। उसमें मुख्य कथा तथा सहायक कथा में सामञ्जस्य होना चाहिए।

अरस्तू ने अपने से पूर्व के साहित्यकारों और समीक्षकों के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर, उनकी त्रुटियों एवं न्यूनताओं का उद्घाटन करते हुए, उनकी आलोचना के आधार पर उनको वर्गों में विभाजित किया। अरस्तू से पूर्व शाब्दिक आलोचना-प्रणाली प्रज्वलित थी। कुछ आलोचकों ने छन्दगत दोष के आधार पर आलोचना की। उन्होंने ऐसे आलोचकों का विरोध करते हुए कहा कि श्रेष्ठ कलाकारों को अपने काव्य को आकर्षक बनाने के लिए शब्द, छन्द तथा नियम भंग करने का सहज अधिकार प्राप्त है। आलोच्य विषय के निष्कर्ष के सम्बन्ध में उनका मत है कि "शब्दों के प्रयोग का औचित्य अथवा अनौचित्य, कवियों द्वारा स्थापित शब्द-प्रयोग-परम्परा, शब्द की व्यक्तिगत रूढ़ि, आलंकारिक प्रयोग तथा विराम चिह्न से सम्बद्ध प्रयोग—सभी पर ध्यान देकर निश्चित करना चाहिए।"[1] यह अरस्तू की आलोचना के क्षेत्र में नवीन देन है।

ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति का संकेत अरस्तू ने किया है। उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना के स्वरूप का निर्धारण भी किया। काव्य-कला के क्षेत्र में भी उनकी अनेक उद्भावनाएँ थीं। उनका मत है कि श्रेष्ठ आलोचक वही है जो कला के माध्यम से कला को परखे। कला शब्द, नियम, यथार्थ पर आश्रित न रहकर कुछ सौन्दर्यात्मक तथा कलात्मक गुणों पर आधृत होती है।

ई० पू० चौथी शती के अन्तिम समय में राजनीतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप काव्य की स्थिति भी दयनीय हो गयी। ई० पू० दूसरी-तीसरी शती में काव्य का नैसर्गिक विकास रुक गया। परन्तु आलोचना के क्षेत्र में प्राचीन पद्धति पर कुछ कार्य होता रहा। इस युग में पाठशोधात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक आलोचना के रूप दिखायी पड़े। कृतिकारों की आलोचना में, युगीन आदर्शों की खोज में ऐतिहासिक आलोचना का दर्शन होता है। उत्तम कवियों के श्रेणी-निर्धारण में तुलनात्मक आलोचना का जन्म हुआ।

लौंजाइनस—यूनानी काव्यशास्त्र में अरस्तू के अनन्तर लौंजाइनस का नाम आता है। यद्यपि उनका व्यक्तित्व और समय विवादास्पद है, पर उनकी रचना 'काव्य में उदात्ततत्त्व' अवश्य श्लाघ्य रही है। उन्होंने अरस्तू की आनन्दमयी स्थापना को स्वीकार करते हुए आनन्दानुभूति की प्रक्रिया का निरूपण किया। उनका कहना है कि

---

१. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ५२।

"भाव-विचारों की केवल उदात्तता और महनीयता ही सहृदय व्यक्ति को मन्त्रमुग्ध कर सकती है।"[१] किसी कृति में उदात्त गुण का तभी उद्भव होता है, जब उसका लेखक महान् ऐश्वर्य से सम्बद्ध हो, उसकी वाणी में वास्तविक और सच्ची रागात्मकता का उत्कर्ष हो। लौंजाइनस को प्रथम यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी आलोचक माना जाता है।

रोमीलातीनी सिद्धान्त—ई० पू० दूसरी शती में लोकतन्त्र के स्थान पर साम्राज्यवाद का उद्घोष हुआ। यह सीजर और आगस्तस का युग था। सीजर के सामने साहित्यकारों की विशेष उपयोगिता नहीं थी, पर आगस्तस ने राष्ट्रीय और सामाजिक जीवनोत्कर्ष के लिए इनकी उपयोगिता स्वीकार की। सिसरो ने अपनी मौलिक स्थापना न करते हुए अरस्तू के विचारों का समर्थन किया। ई० पू० प्रथम शती में अलंकारों का महत्त्व बढ़ा। होरेस ने काव्य के रचना-शिल्प, शब्दों की आत्मा तथा कविता के प्रकारादि का विवेचन किया। क्विण्टीलियन पहला पाश्चात्य आलंकारिक है, जिसने गद्यलेखन को महत्त्व दिया। उसने आलोचना में प्रयुक्त होनेवाली शब्दावली का निश्चित और प्रामाणिक अर्थ निर्धारित किया।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय परम्परा में एक लम्बी अवधि के सन्नाटे के पश्चात् १३वीं शताब्दी में दांते जैसे महान् इतालवी विचारक का उद्भव हुआ। वे सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत थे। उनकी दृष्टि में देश-प्रेम, नारी-प्रेम और ईश्वर-भक्ति ही कविता के महान् विषय हैं। परवर्ती आलोचकों ने उन्हीं को आधार मानकर अपने नवीन मतों की स्थापना की। आधुनिक पाश्चात्य आलोचना से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुआ।

[ग] आधुनिक हिन्दी आलोचना : विकास एवं उपलब्धि

आधुनिक हिन्दी आलोचना का आरम्भिक युग

'गद्य साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आधुनिक आलोचना का उद्भव भी भारतेन्दु युग से माना जा सकता है।'[२] हिन्दी साहित्य में खड़ीबोली-गद्य-साहित्य के आविर्भाव से लेखकों को एक बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त हुई। काव्यशास्त्रीय छंदों, तुकों आदि के प्रतिबन्ध टूट जाने से साहित्यकार अपने विचारों को सफलता से व्यक्त करने में सफल रहे। इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगी थीं, जिनकी सम्पादकीय टिप्पणियों, सम्पादक के नाम पत्रों आदि में आरम्भिक आलोचना के दर्शन होते हैं।

---

१. आलोचना के सिद्धान्त, शिवदान सिंह चौहान, पृ० ९९।
२. हिन्दी का गद्य-साहित्य, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृ० ७३।

भारत में अँग्रेजों के आने के पश्चात् उनकी भौतिकतावादो सभ्यता और साहित्य का प्रभाव हमारे हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। इस समय भारतीय भाषाओं का साहित्य पाश्चात्य साहित्य की अपेक्षा कम विकसित था। इसकी पूर्ति के लिए कुछ साहित्यकारों ने अपने अतीत तथा कुछ ने पाश्चात्य का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया। 'पाश्चात्य साहित्य और विचारधारा के सम्पर्क के कारण इस युग में जिस प्रकार की समीक्षा का प्रारम्भ हुआ वह भारतीय साहित्यशास्त्र की सैद्धान्तिक समीक्षा से वहुत भिन्न है।'[१] भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित होने से बौद्धिक जागरण का युग आ गया। इस प्रकार 'बौद्धिक जागरण एवं पाश्चात्य अनुकरण के वातावरण में आधुनिक समीक्षा-पद्धति का जन्म और विकास हुआ।'[२]

आधुनिक हिन्दी-साहित्य-समीक्षा ने काव्य-सिद्धांतों का निरूपण तथा पाश्चात्य समीक्षा की नवीन प्रणालियों को ग्रहण किया। इसके दर्शन भारतेन्दु-युग में होते हैं। इस काल में समाजसुधार और देश की उन्नति के लिए विशेष कार्य किये गये, जिनका प्रभाव प्रारम्भिक युग की आलोचना में दिखाई देता है। इस युग की शैली तो पूर्णतः पाश्चात्य रही, पर सिद्धांत अधिकांश भारतीय। मुद्रणकला का विकास, पुस्तकों के प्रति पाठकों की अत्यधिक रुचि आदि आलोचना की प्रेरक वनीं। आलोचना के प्रारंभिक युग में गुण-दोषों के निरूपण की अधिकता होती है। यही प्रवृत्ति इस युग की आलोचना में भी दिखाई पड़ती है।

इस युग में आलोचना का प्रौढ़ रूप तो नहीं, पर नवीन आलोचना का वीज अवश्य मिलता है। इस युग में 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्रचंद्रिका', 'आनंदकादम्बिनी', 'सार सुधानिधि', 'हिन्दी-प्रदीप' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित आलोचना की चेतना का प्रसार दिखायी पड़ता है। सैद्धान्तिक आलोचना की परम्परा का निर्वाह भी भारतेन्दु के 'नाटक' ग्रंथ से हुआ। व्यावहारिक समालोचना का सूत्रपात हिन्दी में एक प्रकार से भट्ट जी और चौधरी साहब ने किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। बाबू गदाधर सिंह ने 'बंग-विजेता' का जो अनुवाद किया था उसकी आलोचना कादम्बिनी में पाँच पृष्ठों में हुई थी। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना चौधरी जी ने कादम्बिनी के इक्कीस पृष्ठों में निकाली थी।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, (भा० १३) संपा० 'सुधांशु' पृ० २०३।
२. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ३२७।
३. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, सं० १९९९ वि०, पृ० ५१७।

इस प्रकार इस युग में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार को आलोचनाओं का बीजारोपण हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' में नाटक शब्द का अर्थ नट लोगों की क्रिया से लिया है। उन्होंने काव्य के दो भेद दृश्य और श्रव्य बताते हुए दृश्य-काव्य को 'रूपक' की संज्ञा दी। उनके अनुसार यूरोपीय नाटकों से जो नाटक प्रभावित हैं और बंगदेश में जिस विचार से नाटकों की रचना हुई, उनकी गणना नवीन नाटकों में होती है। प्राचीन की अपेक्षा नवीन में दृश्य-परिवर्तन अधिक है, जो नवीन नाटकों की विशेषता है। ये नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक और दूसरा गीति-रूपक। उन्होंने इन दोनों के पाश्चात्य ढर्रे पर तीन भेद किये—संयोगान्त, वियोगांत और मिश्र। उन्होंने इन नवीन नाटकों के प्रमुख उद्देश्यों का उल्लेख भी किया है—शृङ्गार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार और देशवत्सलता। उन्होंने नाटक-रचना की प्रणाली, अभिनेय नाटक के गुण आदि पर भी विचार किया है।

इस युग में भारतेन्दु जी के अतिरिक्त श्रीबदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने काव्य-शास्त्र-सम्वन्धी सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए भाषा के स्वरूप, हिन्दी-भाषा, नाटक तथा आलोचना के विषय में मौलिक तथा गम्भीर विचार व्यक्त किये हैं। उन्हीं के समकालीन निबन्धकार पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी भाषा तथा उसकी उन्नति के विषय में उच्चकोटि के निवन्ध लिखे हैं।

हिन्दी आलोचना में व्यावहारिक आलोचना के सर्वप्रथम दर्शन 'आनंदकादम्बिनी' में प्रेमघन की बाणभट्ट के सम्बन्ध में लिखित प्रशंसात्मक उक्तियों में होते हैं, यद्यपि ये उक्तियाँ आलोचना की दृष्टि से नहीं लिखी गयीं। बाबू रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यास 'बंगविजेता' के श्रीगदाधर सिंह द्वारा किये गये अनुवाद की आलोचना उन्होंने आलोचना की दृष्टि से 'आनंदकादम्बिनी' में की। उन्होंने इसके गुण-दोष की समीक्षा उपन्यास के कथानक, चरित्र, संवाद-तत्त्व की दृष्टि से की।

पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में 'सच्ची आलोचना' नामक शीर्षक से दिल्ली-निवासी लाला श्रीनिवासदास की कृति 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना की। उन्होंने इस नाटक के दोषों का उद्घाटन किया है। इसकी आलोचना करते हुए कहा कि 'केवल क्लिष्ट श्लेष बोलने ही से तो ऐतिहासिक नाटक के पात्र क्या, वरन् एक प्राकृतिक मनुष्य की भी पदवी हम आपके पात्रों को नहीं दे सकते।'[1] उन्होंने चरित्र-चित्रण में आयी अनेक दुर्बलताओं का उल्लेख किया है। भट्ट जी की आलोचना का दूसरा रूप

१. हिन्दी-प्रदीप, संपा० बालकृष्ण भट्ट, १ अप्रैल, १८८६ ई०।

'एकांतवासी योगी' (गोल्डस्मिथ के 'हरमिट') के श्रीधर पाठक द्वारा अनुवाद की समीक्षा में दिखायी पड़ता है। इसमें प्रशंसात्मक पद्धति पर उन्होंने गुणों का विवेचन किया है।

इस युग की समीक्षा पुस्तक और लेखक परिचय तक ही परिमित थी। किसी ग्रंथ की समीक्षा करते समय समीक्षकों ने कृतिकार की अन्तःप्रवृत्तियों का विवेचन एवं विश्लेषण नहीं किया। इस काल में यद्यपि समीक्षा का कोई आदर्श प्रतिमान नहीं उपस्थित किया जा सका, फिर भी आधुनिक युग में समीक्षा का जो स्वरूप दिखायी पड़ता है, उसका बीज इसी काल में पड़ा था।

द्विवेदीयुगीन समीक्षा

भारतेन्दु-युग में जिस राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ उसका निर्वाह तो द्विवेदी-युग में हुआ ही, साथ ही उसकी सामाजिक उपयोगितावादी दृष्टि का भी विकास हुआ। इसलिए इस युग की आलोचना की मुख्य कसौटी सामाजिक उपयोगिता ही रही। इस युग के प्रवर्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी थे। इस युग की आलोचना में धीरे-धीरे 'गुण-दोष के कथन से आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया।'[1] द्विवेदी जी के साथ इस युग में समीक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले सर्वश्री कन्हैयालाल पोद्दार, मिश्र-बन्धु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवादीन 'दीन', हरिऔध, क़िशोरीलाल गोस्वामी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र आदि प्रमुख समीक्षक रहे। इस युग के उत्तरार्द्ध में ही डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे समर्थ आलोचकों का पदार्पण हुआ, जिनसे आगे चलकर हिन्दी समीक्षा विशेष शक्तिशाली और समर्थ हो सकी।

द्विवेदी-युग की सैद्धान्तिक समालोचना में मुख्य रूप से परम्परावादी, पुनरुत्थान-वादी, नवीनतावादी और समन्वयवादी प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। व्यावहारिक आलोचना तुलनात्मक, खोज-अनुसन्धानात्मक आदि रूपों में विकसित हुई। हिन्दी के साहित्यकार अपने साहित्य की परम्परा की रक्षा और ज्ञान के लिए परम्परावादी पद्धति से अलंकार, रस और ध्वनि के निरूपण की ओर प्रवृत्त हुए। कन्हैयालाल पोद्दार ने 'अलंकार-मंजरी' और 'रसमंजरी' ग्रन्थ की रचना की, जिसमें क्रमशः अलंकार और रस का विवेचन है। उन्होंने शोभाकारक पदार्थ को अलंकार कहा है। शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के कारण अलंकार के दो भेद—शब्दालंकार और अर्थालंकार किये। रुद्रट और रुय्यक के मत के आधार पर उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है और 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर 'रसमंजरी' की विवेचना। भारतीय काव्यशास्त्रीय हिन्दी-परम्परा के आधार पर दीन जी ने 'अलंकार मंजूषा' की रचना की। इसमें उन्होंने

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, सं० १९९९, पृ० ६२२।

अलंकार के लक्षण दोहे में और उदाहरण दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय, बरवै आदि विभिन्न छन्दों में दिये हैं। अलंकार-सम्बन्धी ग्रंथों में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के 'हिन्दी-काव्यालंकार' ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रस-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'भानु' की 'रस-रत्नाकर', कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित 'नवरस-तरंग' आदि प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मूलतः पुनरुत्थानवादी रहे हैं, फिर भी इनके अनेक सैद्धान्तिक निबन्ध तथा व्यावहारिक समीक्षाएँ परम्परावादी सिद्धांतों पर आधृत हैं। 'नाट्यशास्त्र', 'कवि-शिक्षा', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'कवि-कर्तव्य' आदि पारम्परिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखे गये उनके निबन्ध हैं। उनकी संस्कृत कवियों पर लिखी गयी व्यावहारिक समीक्षाएँ, संस्कृत समीक्षा के सिद्धांतों—रस, अलंकार, गुण, औचित्य आदि पर आधृत हैं। 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषधचरितचर्चा', 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' आदि इसी प्रकार की आलोचनाएँ हैं।

इस युग के समीक्षकों में मिश्रबंधुओं का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने 'हम्मीरहठ' की आलोचना रस-निरूपण, अलंकार-प्रयोग, गुण-वर्णन तथा दोष-दर्शन की दृष्टि से की है, जो प्राचीन सिद्धान्तों पर आधृत हैं। अपने 'नवरत्न' में भी प्रसिद्ध कवियों के गुण-दोषों का उल्लेख करते हुए अपना निर्णय इसी आधार पर देने का प्रयास किया है। इस युग की तुलनात्मक समीक्षा भी परम्परावादी सिद्धान्तों पर ही आधृत है।

द्विवेदी-युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप विचार एवं ज्ञान के क्षेत्र में नवीन क्रान्ति हुई। अंगरेजी शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार से नवीन विचारों का प्रचार अधिक होने लगा। साथ ही अंग्रेजी के लिखित आलोचनात्मक ग्रंथों का अनुवाद भी होने लगा। द्विवेदीजी ने सभी प्रकार के नवीन विषयों की ओर आकर्षित होकर उसके विकास का मार्ग स्वच्छ बना दिया। अंगरेजी जैसी सम्पन्न भाषा में जितने नवीन विषयों पर विचार किया गया था, उन्हें हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन्होंने अधिक किया जिससे हिन्दी जानने वाले भी सब प्रकार के नवीन विषयों से परिचित हो सकें।[1] इसके परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग में आलोचना के क्षेत्र में नवीनतावादी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ। इस युग के उत्तरार्द्ध में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समन्वयवादी प्रवृत्ति की झलक बाबू श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन', बख्शीजी के 'विश्वसाहित्य' आदि ग्रंथों में मिलती है। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कल्पना, अनुभूति, चिन्तन आदि का विवेचन पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों के आधार पर तथा रस, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि आदि का विवेचन भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर किया है।

---

१. वाङ्मय-विमर्श, आचार्य मिश्र, पृ० ३१२।

इस युग में 'सरस्वती' पत्रिका में सर्वप्रथम पुस्तक-परिचय के रूप में व्यावहारिक आलोचनाएँ प्रकाशित हुईं थीं। द्विवेदीजी की अधिकांश व्यावहारिक आलोचनाएँ इसी में प्रकाशित हुईं। इसी समय 'नागरी प्रचारिणी सभा', काशी ने ऐतिहासिक शोध-कार्य अपने हाथ में लिया और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' नाम की शोध-पत्रिका प्रकाशित की, जिसमें द्विवेदीजी के साथ ही राधाकृष्णदास, श्यामसुन्दरदास, एडविन ग्रीव्स एवं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के शोधपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध सन् १६०० के आसपास प्रकाशित हुए।

द्विवेदीयुग में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का व्यवस्थित और प्रौढ़ स्वरूप पद्मसिंह शर्मा की 'बिहारी-सतसई की भूमिका' नामक पुस्तक में दिखाई पड़ता है। शर्माजी ने इस पुस्तक के पद्यों के परिपार्श्व में 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' एवं हिन्दी के अन्य कवियों के मिलते-जुलते पद्यों को रखकर उनकी तुलना की। साथ ही देव के समर्थकों द्वारा बिहारी पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को श्रेष्ठ सिद्ध किया। उन्होंने रीतिकालीन विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही बिहारी की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "बिहारी की कविता जितनी चमत्कारिणी और मनोहारिणी हैं उतनी ही गहरी, गूढ़ और गम्भीर है। उसकी चमत्कृति और मनोहारिता का प्रभाव इससे अधिक क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदली, पर वर्तमान समय के सुरुचि-सम्पन्न कविता-प्रेमियों का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना है। जैसे पहले पुराने ख्याल के 'खूसट' उन पर लट्टू थे आज नई रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौ जान से फिदा हैं।"[1] बिहारी की इस आलोचना में शर्माजी की पक्षपात-पूर्ण दृष्टि को देखकर आचार्य शुक्ल ने इसे रूढ़िगत कहा है, फिर भी इसमें प्रभाववादी तत्त्व स्पष्ट है।

शर्माजी की इस आलोचना की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप सन् १६२० के लगभग कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' पुस्तक लिखी, जिसमें देव को बिहारी से श्रेष्ठ बताया। उन्होंने शर्माजी की बिहारी-सम्बन्धी आलोचना को सर्वथा पक्षपाती सिद्ध किया। उनका कहना है कि 'इस पक्षपात का चूड़ांत उदाहरण पाठकों को इस बात से मिल जाएगा कि देव सदृश उच्चकोटि के श्रृङ्गारी कवि की कविता से बिहारी के दोहे की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक संजीवन भाष्य के प्रथम भाग में नहीं आने पाया है—सूरदासजी का नाम तो लिया गया है पर उनकी कविता भी तुलना रूप

---

१. बिहारी-सतसई, पद्मसिंह शर्मा, पृ० १० ।

में नहीं दिखाई गयी है।'[1] उन्होंने शर्माजी की भाँति विषय-साम्यवाले छन्दों का हीं तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया प्रत्युत वैषम्य वाले छन्दों की भी आलोचना कर इस पद्धति को प्रौढ़ बनाने की चेष्टा की हैं।

मिश्रजी ने देव को उच्च स्थान अवश्य दिया, पर बिहारी को भी मर्यादित दृष्टि से ही देखा। उनका कहना है कि "बिहारीलाल का दोहा छन्द छोटा था, उनको याद करना सहज था, उनकी कविता कौतुकमय सनसनी फैलानेवाली थी तथा वे सदा जयपुर दरबार में रहे। इन कारणों से इनकी कविता अधिक लोकप्रिय हो गई।.........देवजी अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके, पर पण्डित-प्रिय वे सदा रहे।"[2] 'देव और बिहारी' में 'बिहारी सतसई की भूमिका' की अपेक्षा आलोचना का प्रौढ़रूप परिलक्षित होता हैं।

दीनजी ने कृष्णबिहारी मिश्र के 'देव और बिहारी' के उत्तर में 'बिहारी और देव' पुस्तक की रचना की। उन्होंने मिश्रबन्धुओं द्वारा लगाये गये बिहारी के दोहों के अर्थ की अशुद्धियों को दूर करने का प्रयत्न किया। उनका कहना है कि 'मिश्रबन्धुओं ने या तो बिहारी की कविता समझी ही नहीं या जानबूझ कर देव का पक्षपात किया है।'[3] इस समय के हिन्दी आलोचकों ने तुलनात्मक आलोचना पद्धति का कोई निश्चित सिद्धांत अपनाये बिना ही तुलना की है। जैसे कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी 'मतिराम-ग्रंथावली' की भूमिका में मतिराम की तुलना सूर, तुलसी, रघुनाथ, कालिदास, रवीन्द्र, शेक्स-पियर, तोष आदि से की है, जबकि इन कवियों में कोई पारस्परिक साम्य नहीं हैं।

दीनजी शास्त्रीय परम्परा के विचारक थे। उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा का निरूपण उनके द्वारा किये गये सिद्धांत-ग्रंथों का प्रणयन, टीका-ग्रंथों एवं सम्पादित ग्रथों को दृष्टि-गत करके ही किया जा सकता है। वस्तुतः इस युग में आचार्य द्विवेदी का कार्य महत्त्व-पूर्ण रहा। उनका साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण शासक और सुधारक के रूप में हुआ। उन्होंने 'साहित्य-सभा', 'शूर समालोचक', 'नायिकाभेद का पुरस्कार', 'कलामर्मज्ञ सम्पादक', 'मातृभाषा का सत्कार', 'समालोचना का सत्कार' आदि निबन्धों में आलोचकों की आलोचनाओं, प्रवृत्तियों और सम्पादकों की लापरवाही की व्यंग्यात्मक शैली से आलोचना की है।

द्विवेदी युग की समीक्षा को देखते हुए कहा जा सकता है कि इस युग की समीक्षा में उतनी प्रौढ़ता एवं परिपक्वता नहीं आ सकी थी। इस युग के समीक्षकों में प्रभावाभि-

---

१,२. देव और बिहारी, कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० ६७, ९९।
३. बिहारी और देव, लाला भगवान 'दीन', पृ० ५२।

व्यंजकता और पूर्वग्रह की मात्रा अधिक है, काव्य-विषयक मार्मिक पक्षों का उद्घाटन कम। उनकी गुण-दोष परखने वाली दृष्टि में निष्पक्षता एवं सन्तुलन का अभाव है। फिर भी हिन्दी समीक्षा के विकास में द्विवेदीयुगीन समीक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। इसी युग के पालन-पोषण द्वारा हिन्दी-जगत् के महान् समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं बाबू श्यामसुंदरदास ने प्रौढ़ता प्राप्त की।

शुक्लयुगीन समीक्षा

आधुनिक आलोचना का सूत्रपात तो द्विवेदी-युग में हो गया था, पर अभी तक उसमें आधुनिकता की समस्त प्रवृत्तियों का समावेश नहीं हो सका था। द्विवेदी-युग की हिन्दी आलोचना मुख्यतः रूढ़िवादी (कानवेंशनल) ही थी। कवियों और लेखकों की विशेषताओं एवं युगीन प्रवृत्तियों का अनुसंधान एवं व्याख्या करने वाली गम्भीर आलोचना का अभाव था। यह कार्य द्विवेदी-युग के बाद बीस वर्षों में हुआ। काव्य की दृष्टि से इसे छायावादी युग, आलोचना की दृष्टि से शुक्ल-युग तथा कथा-साहित्य की दृष्टि से प्रेमचन्द युग कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास का तृतीय उत्थान काल (सं० १९७५ से १९९५ वि०) कहा है। इसी काल में आधुनिक सैद्धांतिक आलोचना का भी उद्भव हुआ, जिसकी आत्मा एवं शरीर तो भारतीय ही थे, पर पहनावे पर पाश्चात्य प्रभाव। इस काल की आलोचना के प्रकाशस्तम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे, जो विचारों की दृष्टि से परम्परावादी नहीं, समन्वयवादी थे।

प्राचीन परम्परा के कुछ आलोचकों ने परम्पराविहित मार्ग को ज्यों का त्यों अपनाए रखा। अलंकार-ग्रंथों, टीकाओं एवं कवियों की-समीक्षाओं में यह शास्त्रीय पद्धति दिखायी पड़ती है। इस युग में उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्य-ग्रंथ तैयार करने की दृष्टि से श्यामसुंदर दास, लाला भगवानदीन, गुलाब राय, रामदहिन मिश्र और विश्वनाथप्रसाद मिश्र जैसे कतिपय शास्त्रीय परम्परा के विद्वानों ने नाटचशास्त्र, अलंकार-शास्त्र तथा ध्वनिशास्त्र से सम्बद्ध ग्रंथों की रचना की, जिसमें प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं लक्षणों की पांडित्यपूर्ण व्याख्या की गयी। इन पुस्तकों में भारतीय साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों का निरूपण पाश्चात्य आलोचनात्मक सिद्धांतों के साथ-साथ तुलनात्मक रूप में किया गया है। बाबू श्यामसुंदर दास के 'साहित्यालोचन' को इस पद्धति का आदि ग्रंथ कहा जा सकता है। बाद में व्यावहारिक आलोचना में भी यही दृष्टि दिखायी देती है। इस युग में स्वच्छन्दतावादी, उपयोगितावादी, मनोविश्लेषण-वादी आदि समीक्षात्मक पद्धतियों के भी दर्शन होते हैं।

हिन्दी आलोचना का प्रौढ़तमरूप आचार्य शुक्ल की समीक्षाओं में मिलता है। "हिन्दी आलोचना में शुक्ल जी ही प्रथम आलोचक हैं, जिन्होंने प्रयोगात्मक एवं

सैद्धांतिक आलोचना को मिला दिया है। ''''शुक्ल जी ने कुछ सैद्धांतिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मानदण्ड हो गया और वे इन सिद्धान्तों तक अपनी प्रायोगिक आलोचना द्वारा ही पहुँचते हैं।''[१] हिन्दी में ऐतिहासिक एवं गम्भीर व्याख्यात्मक आलोचना के प्रवर्तक आचार्य शुक्ल ही माने जाते हैं। उनकी दृष्टि व्यापक थी और चिन्तन गम्भीर। वे हिन्दी आलोचना के युग-प्रवर्तक थे।

उनकी सैद्धान्तिक कृतियों में 'रस-मीमांसा' नामक कृति श्रेष्ठ है। कुछ सैद्धान्तिक निबन्धों का दर्शन 'चिन्तामणि' पुस्तक में भी होता है। उसमें संगृहीत 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'कविता क्या है ?', 'रसात्मक-बोध के विविध रूप' आदि निवन्धों में उनके सैद्धान्तिक आलोचन-सम्बन्धी विचार स्पष्ट हुए हैं। उनकी व्यावहारिक आलोचना में भी सैद्धान्तिक पुट रहता है जिसका प्रौढ़तम रूप 'गोस्वामी तुलसीदास', 'जायसी-ग्रन्थावली', 'भ्रमरगीतसार' नामक ग्रन्थों की भूमिकाओं में मिलता है। उन्होंने हिन्दी आलोचना में प्राचीन कवियों की आलोचना तथा नये साहित्य के आकलन में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की विवेचना के साथ-साथ साहित्य और साहित्यकार की प्रवृत्तियों एवं अन्तर्वृत्तियों की बौद्धिक व्याख्या की है। आलोचना की यह पद्धति उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिकों एवं आलोचकों के विचारों और आलोचना के प्रभाव से ही विकसित की।[२] इन कृतियों के अतिरिक्त 'सूरदास' और 'चिन्तामणि' में भी उनके व्यावहारिक-समीक्षात्मक रूप के दर्शन होते हैं।

उन्होंने काव्य के स्वरूप पर विचार अपने 'कविता क्या है ?' निवन्ध में किया है। 'कबिता का स्वरूप समझने के लिए सबसे पहले वासना का विचार किया गया है, फिर सभ्यता के वढ़ते आवरण का, फिर उसकी प्रसार-सीमा का, फिर सृष्टि में मार्मिक तथ्य के संकेतों का। उन्होंने काव्य-परिभाषा रस-दृष्टि से की है। 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भाव-योग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।'[३] इसमें हृदय की मुक्तावस्था साध्य है और इसका साधन है शब्द-विधान। उन्होंने भावों का उद्रेक करने वाली रससूक्ति को

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ३४३।
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, १३वाँ भाग, पृ० २३१।
३. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्रथम भाग, पृ० ११३।

भी कविता कहा है। प्रत्येक सूक्ति कविता नहीं कही जा सकती।[१] उनकी धारणा है कि कविता के अभ्यास से मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि से हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा एवं निर्वाह होता है।[२] उन्होंने 'वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्' का रस-मीमांसा में समर्थन किया है। वे काव्य की आत्मा भाव या रस को मानते हैं तथा अलंकार को उसका वाह्य स्वरूप।[3]

शुक्ल जी ने उक्ति वैचित्र्य को किसी भाव या अनुभूति को तीव्र करने में सहायक मात्र माना है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति-सम्बन्धी चमत्कार काव्य का लक्षण नहीं अपितु भाव, अनुभूति या रस है। उन्होंने मन को अनुरंजित करने वाली एवं सुख या आनन्द पहुँचाने वाली कविता को विलास की सामग्री मात्र माना है। उनकी दृष्टि में कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है।[४] उनका कहना है कि 'कविता ही हृदय को प्रकृत-दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है।'[५] इस अवस्था में मनुष्य के अहंभाव का विसर्जन और उसका जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उनकी दृष्टि में काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करा के अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं)। उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य के भीतर नहीं आ सकते।[६] काव्य के हेतुओं में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को आवश्यक मानते हुए, रसवादी दृष्टि से प्रतिभा को अधिक महत्त्व दिया। उनका कहना है कि 'सहृदयता के अभाव में प्राणरहित काव्य की रचना हो सकती है। इसी प्रकार कला-निपुणता के अभाव में प्राण होते हुए भी कवि जन्मभर मूक बने रहते हैं।'[७] उनकी दृष्टि में कवि को काव्य-सर्जन की प्रेरणा जगत् या जीव से मिलती है।

मानव-सभ्यता में से उसके सहज रूप का उद्घाटन कवि-कर्म का एक अंग है। उनका कहना है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते

---

१. रस-मीमांसा, आचार्य शुक्ल, संपा० आचार्य मिश्र, पृ० १०४।
२. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्रथम भाग, पृ० ११३।
३. रस-मीमांसा, आचार्य शुक्ल, संपा० आचार्य मिश्र, पृ० १०५।
४. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्रथम भाग, पृ० १२९।
५. वही, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० १२८।
६. रस-मीमांसा, संपा० आचार्य मिश्र, पृ० ११५।
७. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, द्वितीय भाग, पृ० ११४।

जाएँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।[१] उन्होंने कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष माने हैं—विभावपक्ष और भावपक्ष। इन दोनों पक्षों के सर्जन का आधार उन्होंने रस को माना है। कवि-कर्म के मूल में अनुभूति की सत्ता को प्रमुखता दी है। उनके अनुसार कवि की दृष्टि लोक-धर्मी होती है, जो उनकी रस-दृष्टि के अनुकूल ही है। काव्य की प्रक्रिया में उन्होंने कल्पना को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित ही होते हैं।[२] कल्पना की उसी प्रक्रिया को वे काव्य-प्रक्रिया मानते हैं, जो भावना द्वारा परिवर्तित हो।[3] आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति पहले कवि को होती है फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक को।[४] उन्होंने कल्पना को काव्य का साधन माना, साध्य नहीं।

काव्य के तत्त्व के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि समन्वयात्मक रही है, जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-तत्त्वों का सामञ्जस्य है। भारतीय दृष्टि से रस के अतिरिक्त अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि काव्य-तत्त्वों से शरीर का ढाँचा मात्र तैयार होता है, पर प्राण का काम रसतत्त्व ही करता है। उन्होंने काव्य-तत्त्वों पर विचार रसदृष्टि से ही किया है। उनकी दृष्टि में काव्य के तत्त्व वर्ण्य, कल्पना, सौन्दर्य, सदाचार, भाषा, अलंकार आदि हैं। उनका मत है कि काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं।[५]

उन्होंने सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार नहीं की। उस सौन्दर्य को दिव्य विभूति कहा, जिसमें लीन होकर मनुष्य अपने अहं का विसर्जन करता है। वे सौन्दर्य में रस का परिपाक मानते हैं। वे काव्य में सदाचार-तत्त्व को महत्त्व देते हुए रसाभास तथा साधारणीकरण के निरूपण को उस पर अवलम्बित मानते हैं। काव्य की भाषा एवं बोलचाल की भाषा में अन्तर बताते हुए उन्होंने उसकी चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। काव्य की भाषा लाक्षणिक होती है। अमूर्त भावनाओं को भी कविता में भाषा की लक्षणा शक्ति के माध्यम से मूर्त रूप में रखने का प्रयास किया जाता है। इसी से वहाँ जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापारसूचक

१,२. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० ११५, १९७।

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इन्दौरवाला अभिभाषण, सन् १९३४, पृ० ३३।

४. रस-मीमांसा, आचार्य शुक्ल, संपा० आचार्य मिश्र, पृ० ९९।

५. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० १८३।

शब्द अधिक रहते हैं।[१] अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना से सम्बद्ध उनके विचार पारम्परिक ही हैं।

उन्होंने काव्य में छन्द और लय की सार्थकता काव्य की रमणीयता के उत्कर्ष साधक तथा प्रेषणीयता के सहायक रूप में मानी है।[२] उनकी दृष्टि में भावों का उत्कर्ष करने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।[३] उन्होंने अलंकारों को भाव या भावना के उत्कर्ष के साधन के रूप में स्वीकार किया है, साध्य रूप में नहीं। काव्य में उसके आधिक्य को भी उन्होंने अधिक महत्त्व नहीं दिया।

शुक्लजी के समक्ष पाश्चात्य एवं पौरस्त्य काव्यशास्त्र की निश्चित परम्परा थी। इसी में उन्होंने भारतीय रस-सिद्धान्त की मान्यताओं को उसी रूप में दुहराना उचित नहीं समझा। तत्कालीन व्यापक परिप्रेक्ष्य में हृदयवाद और रसवाद की अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए वे हृदय की मुक्तावस्था को ही रसदशा के नाम से अभिहित करते हैं।[४] उनके अनुसार जब भी हृदय प्रभावित होता है तब उस प्रभाव से रसनिष्पत्ति हो सकती है। हृदय की अनुभूति को आधुनिक कवियों और समीक्षकों ने भ्रमवश हृदयवाद नाम दिया और रसवाद से भिन्न माना। इस भ्रम को दूर करते हुए उन्होंने कहा कि 'भले मानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस और भाव कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझ कर हृदयवाद लेकर सामने न आते। सम्भव है इसका पता पाने पर कि हृदयवाद तो रसवाद ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें।'[५]

शुक्लजी ने सौन्दर्यानुभूति को भी रसानुभूति के अन्तर्गत ही माना है। 'कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।'[६] भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में श्रव्य-

---

१. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० १४१।
२. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, संपा० आचार्य मिश्र, भा० २, पृ० १५९।
३. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य शुक्ल, पृ० २००।
४. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० ११३।
५. आचार्य शुक्ल का इन्दौरवाला अभिभाषण, सन् १९३४, पृ० ४३।
६. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० १३२।

काव्य और दृश्यकाव्य दोनों में आचार्यों ने रस की प्रधान स्थिति को स्वीकार किया है। इसी से दृश्यकाव्य में भी उनका लक्ष्य साधारणीकरण की ओर रहता है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय पद्धति में शीलवैचित्र्य की प्रधानता रहती है, जिसके साक्षात्कार से दर्शक को कुतूहल और आश्चर्य मात्र की अनुभूति होती है। इसके लिए शुक्लजी ने तीन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया—आश्चर्यपूर्ण प्रसाद, आश्चर्यपूर्ण अवसादन या कुतूहल मात्र।[1] इसमें आलम्बन का साधारणीकरण नहीं होता। शीलवैचित्र्य से दर्शक या पाठक चमत्कृत हो जाता है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि से यह रसानुभूति नहीं है।

नाटयशास्त्रकार भरत की 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' उक्ति के आधार पर पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'उत्पत्तिवाद', 'अनुमितिवाद', 'भोगवाद' और 'अभिव्यक्तिवाद' की चर्चा की। शुक्लजी ने रसास्वादन की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण हेतु 'साधारणीकरण' पर दृष्टिपात किया। वे कवि की अनुभूति को सम्पूर्ण जड़-चेतन में व्याप्त मानते हैं और चराचर को कवि का वर्ण्य-विषय भी स्वीकारते हैं। अपनी अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाने में विभावन-व्यापार की आवश्यकता होती है। 'विभावन' में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों का आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है।[2] जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।[3] यह लोकहृदय में व्यक्तिहृदय के लीन होने की ही दशा है। उनकी दृष्टि में साधारणीकरण आलम्बनत्व-धर्म होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।[4]

शुक्लजी के काव्य-सम्बन्धी विचार भारतीय हैं, यथास्थान पाश्चात्य विचारों का भी उपयोग किया गया है। पर अपने गम्भीर अध्ययन, गूढ़ चिन्तन एवं प्रौढ़ तर्क द्वारा नवीन शैली में उन्होंने इन्हें प्रस्तुत किया। पाश्चात्य आलोचकों में उनका सबसे प्रिय आई० ए० रिचार्ड्‌स हैं। उन्होंने ब्रैडले आदि कलावादियों और प्रभाववादियों के मतों का बहिष्कार कर रिचार्ड्‌स के मूल्यवादी सिद्धान्त को अपना समर्थन दिया।

---

१. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० १८८।

२. रस-मीमांसा, आचार्य शुक्ल, संपा० आचार्य मिश्र, पृ० १२८।

३,४. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्र० भा०, पृ० १८३, १८५।

वे काव्य को जीवन के मूल्यों से सम्बद्ध मानते हैं। इसीलिए उन्होंने 'कला कला के लिए' सिद्धान्त की अवहेलना की। रिचार्ड्स ने भी काव्यानुभूति को जीवन के मूल्यों से पृथक् नहीं माना। जिस प्रकार शुक्लजी ने काव्य को अलौकिक नहीं माना, उसी प्रकार उसने इसके अमूर्तरूप को स्वीकार नहीं किया। रिचार्ड्स का समीक्षा-सिद्धान्त मूल्य तथा प्रेषणीयता के सिद्धान्तों पर आधृत है और शुक्लजी का लोकमंगल तथा रस पर। उन्होंने रसानन्द को हृदय की मुक्तावस्था माना। इसे ही उसने मानसिक वृत्तियों का सामञ्जस्य बताया। इन दोनों विद्वानों ने कविता को मनुष्य-हृदय से सम्बद्ध माना है। पर रिचार्ड्स के समक्ष व्यक्ति रहा और शुक्लजी के समक्ष व्यक्ति और समाज दोनों। उसकी दृष्टि जहाँ मूल्यवादी, मनोवैज्ञानिक तथा सैद्धान्तिक हैं, वहाँ शुक्लजी की दृष्टि रसवादी, नैतिक, सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक है।

शुक्लजी ने काव्य की प्रायः सभी विधाओं पर अपना विचार व्यक्त किया है। प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य का विशद विवेचन किया है। नाटक, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं पर भी विचार किया है।

हिन्दी आलोचना में निर्णयात्मक, निगमनात्मक और प्रभावाभिव्यञ्जक आदि पश्चिमी आलोचना-पद्धतियों का भी स्थूलरूप से विकास हुआ। शुक्लजी की समीक्षा में भी इन तीनों का समन्वित रूप दिखायी पड़ता है। निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति में आलोचक पूर्वनिर्धारित समीक्षा के मानदण्डों के आधार पर आलोच्यकृति के गुण-दोषों का निर्देश करता है। निगमनात्मक आलोचना में आलोच्यकृति की समीक्षा का मानदण्ड बाहरी समीक्षा-सिद्धान्त नहीं होता, अपितु कवि के प्रयोजन, मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर अधिक ध्यान दिया जाता है। विवेचन और विश्लेषण द्वारा रचना के उद्देश्य, सौन्दर्य और महत्त्व का निरूपण और मूल्यांकन ही इस आलोचना में प्रधान है।[१] इसमें समयानुकूल ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धतियों का भी अवलम्ब लेना पड़ता है। प्रभाववादी आलोचना में आलोचक कृति के अनुशीलन से अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभावों का ही निरूपण करता है। शुक्लजी विश्लेषणात्मक आलोचना को श्रेष्ठ मानते हैं, जिसका प्रयास हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के तृतीय उत्थान-काल में हुआ। उन्होंने भावात्मक कृति का परीक्षण विवेचन द्वारा ही सम्भव माना है। उनकी दृष्टि में समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है। वह जब होगी तब विचारात्मक ही होगी। कल्पना या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है।[२] प्रभावाभि-

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ३८८।
२. चिन्तामणि, भाग २, आचार्य शुक्ल, पृ० २२०।

व्यञ्जक समीक्षा को उन्होंने समीक्षा की कोटि में नहीं माना। स्वच्छन्द शैली के रूप में वे निगमनात्मक समीक्षा को ही अधिक महत्त्व देते हैं। उनकी विश्लेषणात्मक-पद्धति में तीनों समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय है, जिसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं—'समालोचना के लिए विद्वत्ता और रुचि दोनों अपेक्षित हैं। न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से सम्बन्ध रखनेवाली निर्णयात्मक समीक्षा और रुचि से सम्बन्ध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं।'[१]

शुक्ल जी ने अपने पूर्ववर्ती गुण-दोष विवेचन युक्त तथा रूढ़िवादी काव्यशास्त्रीय शब्दावली से बोझिल, छिछली, गम्भीर तत्त्व-चिन्तन से हीन हिन्दी समीक्षा-पद्धति को ऊपर उठाकर गम्भीर और मौलिक तात्त्विक विवेचनपूर्ण तथा रस-ग्राहिता के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया।[२] उनके इस मौलिक चिन्तन का प्रभाव उनके पश्चात् की सभी नई विकसित समीक्षा-प्रणालियों पर पड़ा। उनकी समीक्षा-पद्धति के उत्तराधिकारियों में बाबू श्यामसुन्दरदास, बाबू गुलाबराय, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'गिरीश', कृष्णानन्द गुप्त आदि प्रमुख हैं।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' की रचना साहित्य-शिक्षा-विषयक ग्रन्थ के रूप में की। उन्होंने स्पष्ट भी किया है कि "मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने का यह रहा कि भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, उसके तत्त्वों को लेकर इस रूप में सजा दूँ कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण-दोष की परख करने के साथ ही ग्रन्थ-निर्माण या काव्य-रचना में कौशल प्राप्त करने तथा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय।"[३] शुक्ल जी ने 'कला' को काव्य में स्थान नहीं दिया। उनका कथन है कि "'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन बहलाव। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी सा हो गया है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ठीक नहीं समझा था।"[४] बाबू श्यामसुन्दरदास ने पाश्चात्य मत से प्रभावित होकर 'कला' का सम्बन्ध नियमों से नहीं, भावनाओं की अभिव्यक्ति से माना है। इन

---

१. चिन्तामणि, (भा० २), आचार्य शुक्ल, पृ० १०२।
२. आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका), अक्टूबर, १९५३ ई०, पृ० ९७।
३. साहित्यालोचन, बाबू श्यामसुन्दरदास, भूमिका (परिवर्द्धित संस्करण), पृ० ३।
४. चिन्तामणि, आचार्य शुक्ल, प्रथम भाग, पृ० १९८।

विचारधाराओं के परिणामस्वरूप हिन्दी में समन्वयवादी आलोचना का विकास हो रहा है। हिन्दी-समीक्षा की आधुनिकतम प्रवृत्ति समन्वयवादी ही है, पर इसमें भी मूल आधार शुक्ल-पद्धति ही है।

आधुनिक हिन्दी-समीक्षकों में आचार्य शुक्ल की समीक्षा-पद्धति का प्रतिनिधि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को कहा जा सकता है। उन्होंने उनकी समीक्षा-सम्बन्धी व्यास भ्रान्तियों का स्पष्टीकरण किया है। उनकी व्यावहारिक समीक्षा का आधार शास्त्रीयता है। आचार्य मिश्र की समीक्षात्मक उपलब्धियाँ ही प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का विषय हैं। अतः उनकी समीक्षा-सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा।

आचार्य शुक्ल के समकालीन समीक्षकों में बाबू गुलाबराय ने अपनी समन्वयात्मक दृष्टि से हिन्दी-आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में उनकी 'नवरस', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' प्रौढ़ कृतियाँ हैं। वे मूलतः रसवादी हैं, पर समन्वयवादी दृष्टि अपनाने के कारण अन्य मतों की उपेक्षा नहीं करते। इन पुस्तकों में उनके साहित्य-सिद्धान्तों और काव्य-विधाओं—कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना से सम्बद्ध विचारों का स्पष्टीकरण हुआ, जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से प्रभावित होते हुए भी भारतीय काव्यदृष्टि की प्रमुखता है। साधारणीकरण की व्याख्या में प्राचीन आचार्यों और आधुनिक युग में प्रचलित आचार्य शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दरदास, डॉ० नगेन्द्र आदि के मतों के समन्वित रूप को स्वीकार किया है। उन्होंने काव्य को कला के रूप में ग्रहण करते हुए फ्रायड और एडलर आदि के विचारों का परीक्षण किया है। काव्य को कला तक परिमित न मानकर 'लोकहिताय' तक माना है।

शुक्ल-पद्धति के आलोचक कवियों या लेखकों की कृतियों की वस्तु-विन्यास, रस-पद्धति, अलंकार-योजना, चरित्र-चित्रण आदि के आधार पर सामान्य प्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हुए उनकी काव्य-चिन्तन-पद्धति का भी निरूपण करते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने कबीर और निर्गुण-सम्प्रदाय-सम्बन्धी आलोचना में काव्य-सौष्ठव पर कम तथा कबीर के विचारों और व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण पर अधिक ध्यान दिया है। डॉ० सत्येन्द्र की 'गुप्त जी की कला' में, रामनरेश त्रिपाठी की तुलसी-सम्बन्धी आलोचना में और कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्य-कला' में इस प्रकार के प्रयास का आभास मिलता है। शुक्ल जी के परवर्ती आलोचकों ने उनकी ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को भी ग्रहण किया है। कतिपय आलोचकों ने कवि या कृतियों का मूल्यांकन देशकाल के परिवेश के आधार पर किया है। आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र में इस तथ्य का पूर्ण विकास मिलता है।

शुक्ल जी ने यथास्थान बाबू श्यामसुन्दरदास के खोजकार्यों का अवलम्ब भी लिया है। बाबू साहब 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' द्वारा साहित्य की सेवा करते रहे। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों की खोज, सपादन, आलोचनात्मक भूमिकाएँ, इतिहास आदि के क्षेत्र में प्रमुख कार्य किया। शुक्ल जी और बाबू साहब की मान्यताओं में आपसी मतभेद भी दिखायी देता है। वर्तमान काल के शुक्ल-पद्धति के आलोचकों ने समन्वयात्मक दृष्टि ही अपनायी। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, बाबू गुलाबराय, डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल आदि में इस शैली का विकास दिखायी देता है। हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र में इस पद्धति के समालोचकों की संख्या सर्वाधिक है।

सौष्ठववादी समीक्षा

हिन्दी समीक्षा की सभी शैलियों का विकास प्रायः समानान्तर हुआ। रीतिकालीन काव्य-समीक्षा का खण्डन आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों से ही किया है। प्रसाद ने सन् १९०६ ई० में प्रकाशित 'इन्दु' के सम्पादकीय में स्वच्छंदतावादी दृष्टि को ही अपनाया। सौष्ठववादी आलोचना का वास्तविक प्रारम्भ 'इन्दु' के सम्पादकीय लेखों से ही हो जाता है।[1] यही धीरे-धीरे विकसित होती हुई 'पल्लव' की भूमिका में स्पष्टरूप से व्यक्त हुई। सौष्ठववादी आलोचना के जन्मदाता के सम्बन्ध में भी अनेक मत सामने आये, पर इसका श्रेय हम प्रसाद जी को ही देते हैं। इस पद्धति के आलोचकों में प्रसाद, पंत, निराला, नंददुलारे वाजपेयी, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र आदि का प्रमुख स्थान है। इस आलोचना से ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति भी प्रभावित हुई।

सौष्ठववादी समीक्षा का आधार मुख्य रूप से छायावादो-काव्य की मान्यताएँ ही हैं। इसलिए इसके स्पष्टीकरण में छायावाद का विवेचन आवश्यक है। छायावादी युग भी वही था जो आचार्य शुक्ल का था। पर छायावादी दृष्टि स्वच्छन्द एवं अपेक्षाकृत नवीन थी, इसलिए शुक्ल जी की विचारधारा से अलग स्वच्छन्द रूप में विकसित हुई। आधुनिक हिन्दी-काव्य में अपनी पूर्ववर्ती मान्यताओं में क्रांति लानेवाला छायावाद अपने साथ नवीन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और मान्यताओं को लेकर उपस्थित हुआ। शुक्ल जी ने उसकी अनेक त्रुटियों के साथ ही उसकी उपलब्धियों का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि "छायावाद की शाखा के भीतर धोरे-धीरे काव्यशैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक-वैचित्र्य, मूर्त्तप्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ४५४।

विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ती है।"[१]

छायावाद के आगमन से पूर्व रीतिकाल तक कवि एवं काव्य अलंकारशास्त्र के नियमों एवं परम्परागत मान्यताओं से जकड़ा हुआ था। कवि अपने वैयक्तिक स्वातंत्र्य के उद्घाटन के लिए काव्यपरम्परा में स्थान नहीं पाता था। उसकी यह कुंठित वैयक्तिकता स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने के लिए अपने पूर्व की सभी प्रकार की मान्यताओं को तोड़कर 'छायावाद' के रूप में मुखरित हुई। "इस प्रकार 'छायावाद' के रूप में सामूहिकता के विरुद्ध वैयक्तिकता, रूढ़िवादिता के विरुद्ध स्वच्छन्दता, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, वस्तुवाद और यथार्थवाद के विरुद्ध भावुकता, इतिवृत्त के विरुद्ध ध्वन्यात्मकता-व्यापकता ही अधिक व्यक्त हुई।"[२] यह विश्वव्यापी विज्ञान और राजनीति की नवीन प्रगति का परिणाम था, जो काव्य में ही नहीं सम्पूर्ण जीवन-दर्शन में दिखायी पड़ता है।

छायावादी काव्य और समीक्षा के विकास में अँगरेजी रोमाण्टिक पोएट्री और रोमाण्टिक क्रिटिसिज्म का प्रभाव पड़ा। कतिपय विद्वानों का मत है कि यह पूर्णतः पाश्चात्य का अनुकरण है, पर ऐसी बात नहीं है। इस पद्धति की आधारभूमि भारतीय है, प्रभावित यह अवश्य पश्चिम से हुई।[3] इस पद्धति का आधार शास्त्रों की अपेक्षा काव्यजगत् अधिक है। इस पद्धति के कवियों एवं आलोचकों द्वारा प्रस्तुत काव्य की परिभाषाएँ शास्त्रीय कम वैयक्तिक तथा प्रभावाभिव्यंजक अधिक हैं।

इस पद्धति के आलोचक रस को काव्यात्मा, शक्ति को काव्यहेतु और आत्माभिव्यक्ति के आनन्द की पूर्ति को काव्य का ध्येय मानते हैं। रवीन्द्र उस साहित्य की कल्पना करते हैं जिसकी रचना से कवि और पाठक दोनों को आनन्द की प्राप्ति होती है। 'भाव को अपना बनाकर सर्वसाधारण बना देना यही साहित्य है, यही ललित कला है.......इसीलिए सर्वसाधारण की वस्तु को अनुभूति बना देना साहित्य का कार्य है।'[४] वह नैतिक उपदेशों का सर्जन नहीं करता। प्रायः सभी कवियों एवं आलोचकों ने काव्य का उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि और उसका सम्बन्ध आनन्दमय हृदय से बताया है। काव्य में सभी ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, के सामंजस्य को स्वीकार किया है। इन समीक्षकों ने उपदेश को कवि की कमजोरी माना है।[५]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० ७३१।

२,३. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ४३५, ४३७।

४. साहित्य, रवीन्द्र, पृ० १५।

५. प्रबन्ध-प्रतिभा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', पृ० ५८४।

छायावादी काव्यधारा के प्रतिनिधि प्रसाद जी की प्रतिभा का विकास साहित्य-स्रष्टा और आलोचक दोनों रूपों में हुआ। उन्होंने प्रधानतः आलोचना के सैद्धांतिक रूप का ही निरूपण किया है। उन्होंने छायावाद के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा कि "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी में वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।....ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।"[१] 'छाया' शब्द का अर्थ वे लावण्य मानते हैं। भाषा और भाव के सम्बन्ध में उनका मत है कि जैसे मोती के भीतर की कांति उसके बाहर झलकती है, वैसे ही भावों का सौन्दर्य भाषा में छलकता है। उन्होंने छायावाद में अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों का सामंजस्यपूर्ण विश्लेषण स्वीकार किया। उनका कथन है कि 'ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचारवक्रता के साथ स्वानुभूति को विवृति छायावादी की विशेषताएँ हैं।[२]

प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है।[3] उनको काव्य-प्रयोजन में श्रेय और प्रेय, आनंद और मंगल, सुंदर एवं शिव का सामंजस्य मान्य है। उनका कहना है कि "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प एवं विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेय-प्रेयमयी रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय-रूप में अभिव्यक्त होती है वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"[3] उन्होंने कला की अपेक्षा आत्मानुभूति को विशेष महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि विशेष रूप से सामंजस्यवादी रही है। उनका मत है कि 'असाधारण और तीव्र अनुभूतियों से भाषा और अभिव्यंजना में एक विशिष्ट लावण्य, विच्छित्ति और वक्रता आ जाती है।'[४] उन्होने सौन्दर्यबोध को कविता की मूल प्रेरणा माना है तथा भौगोलिक परिस्थितियों को कला-विशेष के सौन्दर्य-बोध को प्रभावित करनेवाला।[५] उनकी दृष्टि में 'संस्कृति सौन्दर्यबोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।'[६] उन्होंने रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रंगमंच, आरम्भिक पाठ्यकाव्य, यथार्थवाद और छायावाद आदि निबन्धों द्वारा अपने मतों का स्पष्टीकरण किया है।

पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका द्वारा समीक्षा की सौष्ठववादी पद्धति को अपनाने का विशेष प्रयास किया। इस समीक्षा-पद्धति के व्यावहारिक रूप के दर्शन सर्वप्रथम

१-६. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद, पृ० १४३,१४९,१७,१४५,४,५।

उनकी इस भूमिका में ही मिलते हैं। उनका कार्यजीवन समयानुसार बदलते हुए रूपों में विकसित हुआ। उनकी दृष्टि उपयोगितावादी है। उन्होंने राजनीतिक दलों में अनेक त्रुटियों के होते हुए भी उनकी अनिवार्यता एवं उपयोगिता स्वीकार किया है। "राजनीतिक क्षेत्र की प्रगतिकामी वाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नहीं है, एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नहीं रखती, दूसरे इन सभी वादों को मैं युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ।"[1] वे विकासशील आलोचक हैं और ऐतिहासिक विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार भी करते हैं।

पंत जी में मार्क्स के भौतिकतावाद और अरविन्द के अध्यात्मवाद का समन्वित रूप मिलता है। वे छायावाद की स्वयं आलोचना करते हुए कहते हैं—"छायावाद-काव्य इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रह कर अलंकृत सगीत बन गया था।"[2] अतः पंतजी का प्रगतिवादी होना स्वाभाविक हो गया।

उन्होंने 'पल्लव' की भूमिका में कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृदय-कम्पन हैं, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है।....कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है, हमारे जीवन का पूर्णरूप हैं। हमारे जीवन प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, उत्कृष्ट समय में हमारा जीवन ही बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्तरैक्य तथा संयम आता है।"[3] उनकी यह परिभाषा कवित्वमय है। उन्होंने काव्य में भाव और भाषा के अभिन्न सम्बन्ध को भी स्पष्ट किया है। "भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और स्वर बन गए हों, छुड़ाए न जा सकते हों।"[4] पंत जी भाषा को विश्व की हृत्तंत्री की झंकार मानते हैं जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।[5] इस प्रकार पंत जी की सामयिक सामंजस्यपूर्ण दृष्टि ने नयी समीक्षा-पद्धति के प्रवर्त्तन में विशेष सहयोग किया।

महादेव जी के कविता-संग्रहों की जितनी भूमिकाएँ हैं वे 'विवेचनात्मक गद्य' में संगृहीत हैं, जिनसे उनका आलोचक-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उनके कुछ निबन्धों में दार्शनिकता के भी आग्रह हैं। वे काव्य को रहस्यानुभूति मानती हैं। काव्य में सत्य,

---

१,२. गद्य-पथ, पंत, पृ० ८७, १४४।

३,४,५. पल्लव-पंत, पृ० ३३-३४,३१,२६।

सौन्दर्य और आनन्द के सामंजस्य की आकांक्षी हैं। कविता के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन' तक फैलाने के लिए व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है।[१] उनमें शास्त्रीय और बुद्धिवादी प्रवृत्ति के स्थान पर स्वानुभूति की प्रधानता है। उनकी शैली सर्वत्र भावात्मक है।

सौष्ठववादी आलोचकों में निराला जी ने भाव, छन्द और वर्ण्यविषय के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतावादी दृष्टि अपनायी है। उन्होंने काव्य और कला का प्रयोग प्रायः समानार्थ में ही किया है। उनकी कला में रसादि तत्त्व भी अन्तर्निहित हैं। इसकी व्यापकता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है, पूरे अंगों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह देह की क्षीणता-हीनता में तरंग सी उतरती-चढ़ती हुई, भिन्न वर्णों की वाणी में खुलकर क्रमशः मन्द मधुतर होकर लीन होती है....।"[२] उन्होंने मनुष्यों की मुक्ति से कविता की मुक्ति की तुलना की है। मनुष्यों को मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।[3] उन्होंने 'जुही को कली' नामक अपनी कविता की स्वयं आलोचना कर उसकी ध्वन्यात्मकता और गाम्भीर्य का विश्लेषण एवं उद्‌घाटन सौष्ठववादी पद्धति से किया है। उनके आलोचनात्मक निवन्धों में प्रभावाभिव्यंजक, आत्माभिव्यंजक और तुलनात्मक शैलियों का सामंजस्य है।

अब तक सौष्ठववादी उन आलोचकों की दृष्टि का विवेचन किया गया जो मूलतः कवि हैं, जिनकी सैद्धान्तिक दृष्टि ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र आदि इस पद्धति के प्रमुख आलोचक हैं, जिनका व्यक्तित्व मूलतः आलोचक का है। आचार्य वाजपेयी 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं से अपनी समीक्षात्मक दृष्टि का आरम्भ कर स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति के प्रतिनिधि समालोचक के रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने इस युग की प्रचलित निर्णयात्मक और स्थूल तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का विरोध करते हुए अपनी आलोचना का आधार स्वच्छन्दता और सौष्ठव को बनाया है। शांतिप्रिय द्विवेदी गतिशील समीक्षकों में हैं। उन्होंने सौन्दर्य और मंगल के सामंजस्य को ही कला का उद्देश्य माना है। 'कला की सार्थकता केवल सुन्दरता में नहीं, बल्कि उसके मंगल-प्राण में है।[४] उन्होंने

---

१. विवेचनात्मक गद्य, महादेवी वर्मा, पृ० ४८।

२. प्रबन्ध-प्रतिभा, 'निराला', पृ० २७५।

३. परिमल, 'निराला', पृ० १४।

४. संचारिणी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० ९०।

छायावाद के अभावों का भी निष्पक्ष भाव से विवेचन किया है। वे काव्य को रसात्मक दृष्टि से परखते हैं। डॉ० नगेन्द्र साहित्य-समीक्षा में साहित्यकार के व्यक्तित्व का महत्त्व और उसकी सफल अभिव्यक्ति का निरूपण मानते हैं। उनकी समीक्षा-पद्धति पाश्चात्य और पौरस्त्य-सिद्धान्तों का समन्वित रूप है। उनको सौष्ठववादी और मनोविश्लेषण-वादी दोनों समीक्षा-पद्धतियों के आलोचकों में स्थान दिया जाता है। उपर्युक्त तीनों समीक्षकों की समीक्षात्मक दृष्टि का विस्तृत विवेचन इस शोध-प्रवन्ध के 'चतुर्थ अध्याय' में किया गया है, यहाँ केवल सौष्ठववादी परम्परा में स्थिति के कारण इतना उल्लेख है।

आधुनिकतम प्रवृत्तियों से मुक्त होने के कारण सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति ने वर्तमान काल के सभी समीक्षकों को प्रभावित किया है। सौष्ठववादी समीक्षकों में भावुक, कल्पना-प्रधान और रहस्यमयी शैली की प्रधानता है। कुछ में बौद्धिकता की अधिकता है। भावुकता और कल्पनातिशयता के परिणामस्वरूप सौष्ठववादी समीक्षा कहीं-कहीं अस्पष्ट प्रतीत होती है।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के उद्भव और विकास में मूलतः मनोविज्ञान का योग रहा है। भारतीय आचार्यों ने काव्यप्रेरणा पर तो विचार किया है, पर काव्य की उस मनःस्थिति का निरूपण नहीं किया जिससे उसे काव्य-सर्जन की प्रेरणा प्राप्त होती है। सर्वप्रथम इस पर विचार फ्रायड, ऐडलर, युंग आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने किया।

फ्रायड ने सभी प्रवृत्तियों के मूल में काम-वासनावृत्ति को स्थान दिया। उनका मत है कि मनुष्य की जो अनेक इच्छाएँ एवं वासनाएँ सामाजिक, धार्मिक आदि प्रतिवन्धों से दमित होकर अचेतन मन में पड़ी रहती हैं, वे ही चेतन मन में आकर अभिव्यक्त होने का निरन्तर प्रयत्न करती हैं। जब ये इच्छाएँ बलवती होती हैं तब समाज के प्रतिबन्धों का उल्लंघन करने लगती हैं। इनकी अभिव्यक्ति का सबसे सहज एवं सुन्दर साधन कला और साहित्य है। फ्रायड के सिद्धान्त का प्रमुख आधार कामवासना, दमन और उदात्तीकरण है।

मनोविश्लेषणवादियों ने कला और साहित्य की मूल प्रेरणा दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही माना है। फ्रायड ने इन दमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को दो प्रकार का बताया—स्वस्थ और अस्वस्थ। उनकी दृष्टि में स्वस्थ अभिव्यक्ति वाला साहित्य ही चिरस्थायी और मानव-कल्याण का हेतु है। अस्वस्थ दमन तो मानव को ध्वंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है।[१]

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ४८६।

फ्रायड के समकालीन और उनके शिष्य एडलर का मत है कि मानव अपने व्यक्तित्व को समाज में महत्त्वपूर्ण वनाने के लिए बाल्यावस्था में ही इच्छुक हो जाता है। इसके अभ्यन्तर में व्याप्त दूसरों की अपेक्षा हीनता की भावनाएँ ही इसके बुद्धि के विकास का प्रधान कारण होती हैं। मनुष्य अपनी इस हीनता की पूर्ति स्वप्न, कल्पना, साहित्य, दर्शन, कला आदि के द्वारा करता है।[1] युंग ने तो जीवित रहने तथा अमर रहने की प्रबल आकांक्षा को ही मनुष्य के साथ सब कार्यों की प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। यही भावनाएँ साहित्य-सर्जन और कला-निर्माण के मूल में भी रहती हैं। उसने एडलर के प्रभुत्वकामना और फ्रायड के कामवासना की प्रवृत्ति को जीवनेच्छा में ही अन्तर्निहित माना है, जो दो विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। इसी के आधार पर उसने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दो प्रकार के मानव माने, जिनमें क्रमशः प्रभुत्वकामना और कामवासना की प्रधानता होती ह। साहित्य के क्षेत्र में ये ही क्रमशः व्यक्तिप्रधान एवं विषयप्रधान साहित्य-सर्जन करते हैं।

साहित्य-सर्जन और मानवक्षेत्र में उपर्युक्त साहित्य-प्रेरणा के तीनों सिद्धान्तों का सम्मिलित रूप मनोविश्लेषणात्मक सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया गया है। इस पद्धति का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। इससे प्रभावित 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी ने अपने अनेक उपन्यासों की रचना की। समीक्षा-क्षेत्र में काव्य के कुछ स्थलों के स्वरूप, गाम्भीर्य और कलाकार के व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण में यह समीक्षा-पद्धति अवश्य उपयोगी सिद्ध होती है, पर इस क्षेत्र में इसका महत्त्व गौण ही है।

जोशीजी फ्रायड और एडलर के सिद्धांतों से विशेषरूप से प्रभावित हैं। इस पद्धति की उपयोगिता के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "जिस प्रकार के मनोविज्ञानवेत्तागण किसी व्यक्ति के स्वप्नों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने पर उसके चरित्र की मूल बातों का पता लगा लेते हैं, उसी प्रकार किसी कलाकार की कृति से उसके मन के भीतर के द्वन्द्व, उसकी अंतश्चेतना में निहित पाशविक वृत्तियों के ताड़न अथवा स्वास्थ्य-कर मानवोय भावनाओं के आलोड़न-विलोड़न का पता भी निश्चित रूप से लगाया जा सकता है।"[2] उन्होंने कला का सम्बन्ध दमित वासनाओं से स्थापित किया है। वे काव्य का चरम लक्ष्य सौंदर्य मानते हैं जो मंगल की कामना पर आधृत है। उन्होंने काव्य में व्यक्तिवाद और व्यक्तिगत चेतना को स्वीकार किया है।[3] वे जीवन की विध्वंसक शक्तियों को प्रेरित करनेवाले साहित्य को हेय दृष्टि से देखते हैं। छायावादी कवियों की

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ४८६।
२. हिन्दी के आलोचक, संपादिका शचीरानी गुर्टू, पृ० ३००।
३. साहित्य-सर्जना, इलाचन्द्र जोशी, पृ० ६४-६५।

स्वर्गिक कल्पनाओं में विश्व-कल्याण की भावना का अभाव बताते हुए वे उसे उच्च स्थान नहीं देते। उन्होंने प्रगतिवादी सिद्धांतों को तो स्वीकार किया, पर व्यावहारिक जीवन में व्याप्त दोषों के परिणामस्वरूप इसे हेय सिद्ध किया। "छायावाद की छायामयी शक्ति का प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होते देखकर उन्होंने जनता पर धौंस जमाने का यह दूसरा तरीका अख्तियार किया है। ....स्त्री-पुरुष के द्वन्द्वमूलक सम्बन्ध में सुधार का बहाना पकड़कर निर्द्वन्द्व हो उठे। ....समाज के प्रतिष्ठित नियमों के प्रति उनका विद्रोह समाज के सामूहिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की चरितार्थता में बाधा पहुँचाने के कारण, समाज के विरुद्ध उसी पुरानी प्रतिहिंसा की मनोवृत्ति के विस्फोट के फलस्वरूप व्यक्त हुआ। ....हमारे प्रगतिवादी कवि भी अपने समाज-विरोधी उद्‌गारों द्वारा एक विशेष प्रकार के 'रोमांटिक' रस का स्वाद पा रहे हैं जो छायावादी रस का अच्छा सब्स्टीच्यूट है।"[१] इस प्रकार जोशीजी इस पद्धति के आधार पर स्वस्थ साहित्य की रचना चाहते हैं, जिसमें सौंदर्यानुभूति के साथ समाजमंगल की कामना हो।

एडलर के समीक्षा-सिद्धांतों से प्रभावित होकर समीक्षा करने वाले समीक्षक 'अज्ञेय' का इस क्षेत्र में भी प्रमुख स्थान है। कला के सम्बन्ध में उनका मत है कि कला सामाजिक उपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है। अपने 'त्रिशंकु' नामक संग्रह में उन्होंने प्रभुत्वकामना और क्षति-पूर्ति के सिद्धांतों को स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में कला का जन्म क्षति-पूर्ति के लिए ही हुआ। उनका कहना है कि "हमारे कल्पित प्राणों ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है। उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है।"[२] पहला कलाकार ऐसा ही रहा होगा, पहली कला-चेष्टा ऐसी ही विद्रोही रही होगी।[३]

अज्ञेयजी विलासिता की तृप्ति करनेवाली सौंदर्य-साधना को काव्य का स्वस्थ और प्रौढ़ स्वरूप नहीं मानते। कला की नैतिकता के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "सच्ची कला कभी अनैतिक नहीं हो सकती....सच्ची कला-वस्तु अन्ततः एक नैतिक मान्यता पर आश्रित है, हाँ यह ध्यान देना आवश्यक होगा, कि हम एक श्रेष्ठतर नीति की बात कह रहे हैं, निरी नैतिकता की नहीं।"[४]

---

१. विवेचना, इलाचंद्र जोशी, पृ० १६९-७०।
२,३,४. त्रिशंकु, 'अज्ञेय', पृ० २३, २६, २८।

उन्होंने भी काव्य का उद्देश्य जीवनीशक्ति प्रदान करना माना है। मनोविश्लेषण-वादियों ने साहित्य-सर्जन की वैयक्तिकता को विवशता का परिणाम माना है।

उन्होंने छायावादी साहित्य को जीवन-सन्देश देने में असमर्थ बताया। प्रगतिवादियों को वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में आँकने का प्रयत्न किया और प्रगतिवादी दृष्टि को राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति-रूपो विवशताओं का परिणाम माना।[1] इस प्रकार वे सभी दृष्टियों से मनोविश्लेषणवादी पद्धति से प्रभावित हैं।

हिन्दी के आलोचकों में डॉ० नगेन्द्र भी मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से प्रभावित हैं। फ्रायड से अधिक प्रभावित होते हुए भी एडलर एवं युंग के विचारों से सहमत हैं। उनके नीचे प्रस्तुत निष्कर्ष से उनके विचारों का स्पष्टीकरण हो जाता है—

१—काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है।

२—यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म से उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

३—हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होनेवाला आत्मा और अनात्मा का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूँकि ललित साहित्य रसात्मक होता है, अतः उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।[2]

फ्रायड के मत से सहमत होकर ही उन्होंने रसात्मक साहित्य का प्रेरक कामवृत्ति को माना है।

उन्होंने साहित्य में वैयक्तिक चेतना को आवश्यक माना है। व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हुए व्यक्ति की अनुभूति को समाज की अनुभूति से श्रेष्ठ बताया। उन्होंने आनंद को साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी माना है। उनकी दृष्टि में जो साहित्य स्थायी आनन्द देगा वही महान् है चाहे वह किसी भी वाद या सिद्धांत का समर्थक क्यों न हो। इसी दृष्टि से प्रगतिवादी रचनाओं को उन्होंने अकाव्य की कोटि में रखा है। चेतना को अखण्ड एवं खण्ड—इन दो वर्गों में विभाजित किया है। खण्ड-चेतना बुद्धि का साध्य है, जो प्रगतिवादी रचनाओं में मिलता है। अखण्ड चेतना आनन्द का साध्य है जिससे प्रगतिवादी रचनाएँ अछूती रही हैं। उनकी दृष्टि में प्रगतिवादी रचनाएँ बौद्धिक होती हैं जिससे उनमें वह तन्मयता या आत्म-विसर्जन नहीं है, जो काव्य के लिए

---

१. त्रिशंकु, अज्ञेय, पृ० ६७।

२. विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०।

अनिवार्य है।[१] उन्होंने छायावाद को शैली मात्र घोषित किया है।[२] उनकी व्यक्तिवादी दृष्टि से छायावादी रचनाओं में अखण्ड आनन्द की स्थिति पायी जाती है। उन्होंने रस को जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व स्वीकार किया है[३] एवं करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म। उदाहरणस्वरूप आदिकवि वाल्मीकि और उनके प्रथम श्लोक—यत्क्रौंचमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम्—को प्रस्तुत किया है। उनकी इन मान्यताओं का अवलोकन करने पर यह भ्रम दूर हो जाता है कि वे मनोविश्लेषण पद्धति के आलोचक नहीं हैं।

प्रगतिवादी समीक्षा

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में सन् १९३६ ई० के लगभग मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी दर्शन से प्रभावित होकर प्रगतिवाद का उद्‌भव हुआ। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हीगेल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद (डायलेक्टिकल आइडियलिज्म) और फायरवाख के यांत्रिक भौतिकवाद का समन्वित रूप है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों के आधार पर समाज के ऐतिहासिक विकास-क्रम और व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। मानव का अस्तित्व निर्भर नहीं है, अपितु उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्माण करता है। मार्क्स ने मानव-सभ्यता के इस विकास-क्रम का आर्थिक दृष्टि से विभाजन एवं अध्ययन किया। मार्क्सवादी दृष्टि में वर्ग-संघर्ष की स्थिति बराबर बनी रहती है। हर युग के आर्थिक संघटन के अनुसार ही साहित्य-सर्जन हुआ करता है। साहित्यकार वर्ग-संघर्ष में शोषक वर्ग का साथ दिया करते थे।

हिन्दी में सन् १९३६ ई० में प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना हो जाने के पश्चात् प्रगतिवादी आन्दोलन आरम्भ हुआ। रचना तथा आलोचना के क्षेत्र में नये प्रकार के साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना हुई। साहित्य-सर्जन एवं आलोचना के मानदण्ड बदले और उसके सिद्धान्त का प्रमुख आधार मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को बनाया गया। मार्क्सवादी काव्य में व्यक्तिवैचित्र्य का उद्‌घाटन नहीं, अपितु मानव के सामूहिक भावों की अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। वे काव्य का परम लक्ष्य मानव को भौतिक विकास की प्रेरणा प्रदान करना मानते हैं तथा रस या आनन्द को काव्य का केवल साधन।

---

१. विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ६९।
२. आलोचना और साहित्य, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ४१।
३. विचार और अनुभूति, डॉ० नगेंद्र, पृ० १७।

मार्क्सवादी सिद्धान्तों का हिन्दी में सर्वप्रथम उल्लेख सन् १९३७ में शिवदान सिंह चौहान ने 'भारत और प्रगतिशील-साहित्य की आवश्यकता' नामक लेख में किया। इसमें उन्होंने वर्तमान साहित्य को पूँजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम बताया है। प्रगतिवाद अब मार्क्सवाद के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसका प्रधान लक्ष्य मार्क्सवादी दृष्टि से साहित्य को दिशा-निर्देश करना तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बनाना है। प्रगतिवाद का तात्पर्य साहित्य का मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग है। साहित्यिक दृष्टि से यह अर्थ उपयोगी है। इस अर्थ में यह हिन्दी साहित्य के भारतेंदु-युग से ही प्रगतिशील रहा, पर रूढ़ अर्थ में इसका प्रयोग सन् १९३५–३६ ई० के आस-पास से प्रारम्भ हुआ। मार्क्सवादी समीक्षक की परिणति कम्युनिस्ट के रूप में हो गई। लेनिन ने साहित्य को कम्युनिस्ट पार्टी से जोड़ते हुए इसको पार्टी के सिद्धान्तों के प्रचार का साधन स्वीकार किया। रूस की इस पार्टी की केन्द्रीय समिति (१४-८-१९४६ ई०) का प्रस्ताव है—"सोवियत साहित्य की, जो संसार का सबसे प्रगतिशील साहित्य है, प्राणशक्ति इसी में है कि उसके लिए जनता और राज्य के हितों के अतिरिक्त न कोई उद्देश्य है और न हो सकता है।"[1] हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के प्रधान समर्थक शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय, अंचल, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवर सिंह, चन्द्रवली सिंह आदि हैं।

मार्क्सवादी मूल्यों की स्थापना का वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दृष्टि से सबसे अधिक प्रयास शिवदान सिंह चौहान के निबन्धों में मिलता है। वे प्रगतिवाद को साहित्य की विशिष्ट धारा के रूप में स्वीकार न कर उसे साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टि ही मानते हैं। उन्होंने 'साहित्य की परख', 'प्रगतिवाद', 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', 'साहित्यानुशीलन' आदि आलोचनात्मक पुस्तकों की रचना के साथ ही समीक्षात्मक निबन्धों की भी रचना की, जो समयानुसार पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

उन्होंने प्रगतिवादी सिद्धान्त के आधार पर ही आलोचना के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का निरूपण किया है। सैद्धान्तिक आलोचना में साहित्य के विविध रूपों का विवेचन किया है, जिसका स्पष्टीकरण उनके 'एकांकी नाटक', 'रेखाचित्र', 'रिपोर्ताज', 'साहित्य की परख', शीर्षक निबन्धों से होता है। उन्होंने 'कार्लमार्क्स : जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति' शीर्षक निबन्ध में मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति का समर्थन किया है। उनकी अधिकांश समीक्षाएँ 'पंत', 'प्रेमचन्द', 'अज्ञेय', 'अंचल', 'अश्क', 'जैनेन्द्र' आदि के साहित्य पर हैं।

---

१. 'आलोचना', अक्टूबर १९५३ ई०।

वे कविता का कार्य एक नूतन एवं श्रेष्ठतर कल्पनात्मक संसार की रचना करना बताते हैं, जो भ्रम होते हुए भी सत्य है। उनकी दृष्टि में "कविता मनुष्य की स्वतंत्रता का अस्त्र है, पर वह स्थूल अस्त्र के रूप में नहीं प्रयुक्त होती, कविता जो भावों को संगठित करती या उन्हें तरतीब देती है। नवीन अंतःप्रेरणाओं द्वारा भावजगत् की सीमा विस्तृत करती जाती है। वह जीवन के श्रम एवं संघर्ष को भावों के रस से सींच कर मधुर बनाती है। कविता का यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन एवं सामाजिक श्रम के साथ मनुष्य का 'मानवी' लगाव उत्पन्न करती है।"[1] वे साधारणीकरण का साधन भावों को नहीं सामाजिक आवश्यकताओं को मानते हैं।

हिन्दी की प्रगतिवादी आलोचना को प्रगतिशील वनाने में डॉ० रामविलास शर्मा का विशेष योगदान रहा है। उन्होंने साहित्य के वर्ण्य विषय को जन-जीवन से सम्बद्ध माना। प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति के सिद्धान्त-पक्ष को स्पष्ट करने के लिए 'प्रगति और परम्परा', 'संस्कृति और साहित्य' जैसी पुस्तकों की रचना की तथा इस प्रसंग से सम्बद्ध कतिपय समीक्षात्मक निबन्ध भी प्रस्तुत किये। काव्यानन्द के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के इस मत का कि किसी भी स्थिति में उत्पन्न आनन्द सत्त्वगुणी होता है, खडन करते हुए कहा कि 'तमोगुण से उत्पन्न आनन्द मनुष्य को तमोगुण की ओर ले जाएगा न कि सत्त्वगुण की ओर।'[2] वे रस का सम्बन्ध व्यावहारिक जगत् की वस्तु से मानते हैं।

डा० शर्मा ने सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर रोमांस और व्यक्तिवादी अहम् तथा भोग-विलास के चित्रण को हेय दृष्टि से देखा है। इसी से उन्होंने शरतचंद, यशपाल, अश्क, अज्ञेय, जैनेन्द्र, डा० नगेन्द्र आदि की विचारधाराओं का विरोध करते हुए तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला आदि कवियों को अपने युग का क्रांतिकारी कवि कहा है। उनकी 'प्रेमचन्द और उनका युग', 'प्रेमचन्द', 'भारतेन्दु', 'आचार्य शुक्ल', 'निराला' आदि लेखकों और कवियों पर लिखी गई स्वतंत्र पुस्तकें उनकी व्यावहारिक आलोचना का पक्ष स्पष्ट करती हैं। उनके विचार रूसी लेखकों के विचारों से अधिक प्रभावित हैं।

हिन्दी-प्रगतिवादी आलोचना को स्वस्थ रूप प्रदान करने में प्रकाशचंद्र गुप्त ने अपनी समीक्षात्मक कृतियों—'नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि' और 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा'—द्वारा विशेष सहयोग दिया। उन्होंने 'साहित्य में सयुक्त

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, १३वाँ भाग, पृष्ठ ३२९।
२. संस्कृति और साहित्य, डॉ० रामविलास शर्मा, पृष्ठ १८४।

मोर्चा', 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार', 'प्रगतिशील आलोचना के मान', 'हिन्दी-आलोचना में प्रगतिवाद', 'साहित्य और राजनीति', 'साहित्य और जनता' शीर्षक निवन्धों के लेखन द्वारा प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति एवं साहित्य के मार्क्सवादी आधार को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित अवश्य हैं, पर मार्क्सवाद की कट्टरता उनमें नहीं है। वे प्रगतिवाद को व्यापक भावभूमि पर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। काव्य की आत्मा रस को मानते हैं और अलंकार-मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि 'अलंकार गिनकर काव्य की श्रेष्ठता निर्धारित नहीं की जा सकती है।'[1] वे पुराने समीक्षा-सिद्धान्तों को नये साहित्य के मूल्यांकन में अक्षम बताते हैं।[2] समकालीन छायावादी काव्य की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं कि 'हमारा साहित्य मध्यवर्ग की कृति है। जनसाधारण के जीवन से हम सर्वथा विमुख हैं। प्रगति के नियमों का तर्क पूँजीवाद के साथ-साथ पुरातनशाही और मध्यवर्ग की कला में प्रतिविम्बित है।'[3] उनकी समीक्षा एकांगी दृष्टि से मुक्त है और आलोचना-शैली में सहजता का प्रमुख स्थान है। उन्होंने साहित्यकारों की प्रतिभा का मूल्यांकन उन परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया है, जो उनके व्यक्तित्व के विकास में प्रेरक-शक्ति के रूप में कार्य करती रही हैं।

मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित डॉ० नामवर सिंह की आलोचना-पद्धति का प्रेरणास्रोत जनवाद, जनकल्याण की सामूहिक भावना है। इसका मूलस्वरूप वे मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में पाते हैं। उन्होंने छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं को व्यक्तिवादी और प्रयोगवादी काव्य को बौद्धिक माना है। उनके अनुसार इनमें जीवन-शक्ति का अभाव और मरण-शक्ति का उभार है।[4] उन्होंने छायावाद, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—"जिस तरह कल्पना-प्रवण अंतर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है, बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की, उसी प्रकार सामाजिक यथार्थ-दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है।"[5] उनकी व्यावहारिक आलोचना सैद्धान्तिक आलोचना से अधिक प्रौढ़ है।

हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचकों ने मार्क्सवादी सिद्धांतों को सैद्धान्तिक रूप में स्वीकार किया, पर व्यावहारिक रूप में अपना-अपना राग पृथक्-पृथक् अलापने लगे, जिससे कि प्रयोग में उतनी व्यापकता नही आयी। डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र का मत है

१,२,३. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि, प्रकाशचंद्र गुप्त, पृ० ७१, ७२, २१४।
४. आलोचना और साहित्य, डॉ० इन्द्रनाथ मदान, पृ० ३३।
५. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, डॉ० नामवर सिंह, पृ० ९७।

कि 'हिन्दी में प्रगतिवादी समालोचक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में अपेक्षाकृत अधिक पूर्वग्रही है। वह बँधी हुई मार्क्सवादी विचारधारा का अपने आलोच्य लेखक पर आरोप करता है और उसको उत्तम अथवा हेय करने में निर्णायक का रूप धारण कर लेता है। मार्क्सवाद के सिद्धांतों का प्रचारण, समाजवाद का प्रशंसक और पूँजीवाद को गालियाँ देनेवाला साहित्य ही उनकी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ हैं। यह दृष्टिकोण बहुत ही स्थूल है।[1] इस धारा के साहित्य का अवलोकन कर यह कहा जा सकता है कि यह धारा साहित्य में दिशा-परिवर्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है न कि साहित्यिक दृष्टि से।

हिन्दी आलोचना की अन्य पद्धतियाँ

हिन्दी आलोचना से चरितमूलक एवं ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का भी स्वतन्त्र रूप में विकास हुआ है। समीक्षा के ऐतिहासिक विकास में विश्वविद्यालयों द्वारा वैज्ञानिक अनुसंधानपूर्वक प्रस्तुत ग्रंथ एवं विद्वानों द्वारा प्रस्तुत पाठशोध या पाठसम्पादन तथा टीका-कार्यों से महत्त्वपूर्ण योगदान मिला।

चरितमूलक आलोचना-पद्धति आलोच्य विषय से सम्बद्ध लेखक के जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों आदि का विवेचन करती है। पर इस आलोचना-पद्धति का हिन्दी आलोचना में अभाव है। इस पद्धति का कुछ विकास स्वच्छंदतावादी धारा में तथा समीक्षात्मक निबंधों में मिलता है। इस पद्धति के प्रौढ़ रूप का दर्शन गंगाप्रसाद पाण्डेय की 'महाप्राण निराला' कृति में होता है। इसमें उन्होंने निराला की उन मनोवृत्तियों एवं जीवन-घटनाओं का चित्रण किया है, जिनसे उनको कविता-सर्जन की शक्ति मिली। चरितमूलक आलोचना-पद्धति ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति की पूरक भी है। ऐतिहासिक आलोचना-पद्धति यदि लेखक से सम्बद्ध युग-विशेष और परिवेश-विषयक अध्ययन करती है तो चरितमूलक आलोचना उसके व्यक्तित्व का उन परिवेशों में अध्ययन करती है।

हिन्दी की अनुसंधानात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धति में ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को सदा स्थान दिया गया, पर आलोचना के ऐतिहासिक विकास-क्रम में यह पद्धति अपने स्वतन्त्र रूप में विकसित हुई। साहित्यकार अपने युग से बँधा रहता है और युगचेतना से प्रेरित होकर ही साहित्य-सर्जन करता है। साहित्य और युग का यही सम्बन्ध साहित्य के अध्ययन की ऐतिहासिक शैली का आधार है। टेन ने अपने अँगरेजी साहित्य की भूमिका में साहित्य के अध्ययन के लिए तीन बातों का विवेचन आवश्यक माना है—जाति (रेस), परिवेश (मिल्यू), समयबिन्दु (मोमेन्ट)। ऐतिहासिक समीक्षक किसी कलाकार या कृति का मूल्यांकन उपर्युक्त तीनों बातों से विच्छिन्न होकर नहीं करता।

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ५६४।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के भारतेन्दु-युग से ही ऐतिहासिक समीक्षा का विकास स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। भारतेन्दु के कतिपय लेखों में युगीन परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। उनके परवर्ती आलोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मिश्र-बंधुओं ने भी कवियों की रचनाओं से उस युग की परिस्थितियों का अनुमान किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर और तुलसी की कविताओं को उस साहित्य की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिणाम बताया। शुक्ल जी के आरम्भिक लेखों में भी ऐतिहासिक शैली के दर्शन होते हैं। परवर्ती काल के अधिकांश आलोचकों ने इस शैली का उपयोग किया। शुक्ल-परम्परा के आलोचकों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का प्रयोग किया और साहित्य को अविच्छिन्न धारा के रूप में देखा। उनके द्वारा सम्पादित अधिकांश ग्रंथावलियों की भूमिका में इस रूप के दर्शन होते हैं। 'भूषण-ग्रंथावली' की भूमिका में उन्होंने ऐतिहासिक पीठिका का विशद चित्रण किया है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आरम्भ से ही इस शैली का प्रयोग किया है। इस शैली का प्रौढ़ रूप उनकी 'कबीर' पुस्तक में मिलता है। उनकी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि कृतियाँ भी ऐतिहासिक पद्धति पर प्रस्तुत हुई हैं। उन्होंने कबीर की कविताओं में योग-साधना एवं योगपरक उलटबाँसियों के बाहुल्य को उनके परिवार एवम् तत्कालीन परिस्थितियों की देन स्वीकार किया है।[1] वे मूल्यवादी समीक्षक हैं। परशुराम चतुर्वेदी की 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा' एवं डॉ० नामवर सिंह का 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति पर ही लिखे गये हैं। दिनकर जी भी साहित्य को युग-चेतना के विकास से अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करके देखना चाहते हैं। इस प्रकार समीक्षा की ऐतिहासिक-शैली उत्तरोत्तर विकास पर ही है।

हिन्दी-समीक्षा के विकास में विश्वविद्यालयों द्वारा प्रस्तुत पीएच० डी०, डी० लिट्० तथा स्नातकोत्तर स्तर के शोध-प्रबन्धों से भी महत्त्वपूर्ण योगदान मिल रहा है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० नामवर सिंह ने, भक्तिकाल पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० विनय-मोहन शर्मा, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल आदि ने, रीतिकालीन साहित्य पर कृष्णबिहारी मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० बच्चन सिंह, डॉ० विजयपाल सिंह आदि विद्वानों

---

१. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ८०-८१।

ने विभिन्न दृष्टियों से शोध रचनाएँ प्रस्तुत कीं। भारतेन्दु और द्विवेदीयुग में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निवन्ध आदि विधाओं पर शोधग्रंथ प्रस्तुत हुए।

विश्वविद्यालय-स्तर के पाठ्य-ग्रंथों की भूमिकाओं में भी व्यावहारिक आलोचनाओं के दर्शन होते हैं। मौलिक ग्रंथों की भूमिकाएँ साहित्य-रचना के प्रारम्भ में या तो लेखक द्वारा लिखी गई हैं अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा। प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन में उसके विषय और कवि के व्यक्तित्व का निरूपण सम्पादक भूमिका के माध्यम से करता है। ग्रंथ-सम्पादन एवं टीकाकार्य को भी व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया है।

पाठसंपादन का सर्वाधिक कार्य काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'कबीर-ग्रन्थावली' का संपादन विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ किया। आचार्य शुक्ल की सूर, तुलसी और जायसी पर लिखित सम्पादकीय आलोचनात्मक भूमिकाओं के रूप में ही लिखी गई हैं। उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में ही प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी-समीक्षा की इस व्यावहारिक पद्धति का प्रौढ़रूप आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित ग्रंथ और उनकी भूमिकाओं में मिलता है। उन्होंने 'रामचरित-मानस' (काशिराज संस्करण), घनआनन्द-ग्रंथावली, पद्माकर-पंचामृत, पद्माकर-ग्रंथावली, भूषण-ग्रंथावली, केशव-ग्रंथावली, रसखानि-ग्रंथावली, भिखारीदास-ग्रंथावली आदि का सम्पादन विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ किया है। उन्होंने दूसरों की कृतियों की भूमिकाएँ लिखीं। ये उन लाला भगवानदीन के अंतेवासी हैं जो रीति-कालीन काव्यधारा के गम्भीर विद्वान् थे। अतः इन पर उनका प्रभाव पड़ा।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी 'पृथ्वीराजरासो', 'बीसलदेवरासो', 'जायसी-ग्रंथावली' आदि का सम्पादन किया। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पद्मावत' की टीका करके उसकी भूमिका भी लिखी है।

टीकाकार्य में आलोचक पद-व्याख्या के अतिरिक्त पद-सौंदर्य आदि पर चर्चा-द्वारा अपनी आलोचनात्मक प्रवृत्ति का परिचय देता है। इस प्रकार की रचनाओं में जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' का 'बिहारी-रत्नाकर', वियोगी हरि की 'विनय-पत्रिका', डा० श्याम-सुन्दरदास का 'रामचरितमानस' (सटीक) आदि प्रमुख हैं। इस क्षेत्र में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी कार्य किया है, जैसे—केशवदास की 'रसिकप्रिया' की 'प्रियाप्रसाद' टीका, 'बिहारी-सतसैया' का 'बिहारी प्रकाश' भाष्य।

व्यावहारिक आलोचना के विकास में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों का भी विशेष योगदान है। ये पत्रिकाएँ दो प्रकार की मिलती हैं—एक व्यावसायिक और

दूसरी साहित्यिक, जैसे—साहित्य-सन्देश, आलोचना, सरस्वती-संवाद, सम्मेलन पत्रिका आदि प्रमुख हैं। इस क्षेत्र में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का भी विशेष योग रहा है। हिन्दी आलोचना के विकास में लोकसाहित्य-विषयक आलोचनाएँ अपने नवीनतम रूप में योगदान कर रही हैं।

समीक्षात्मक उपलब्धि

आलोचना, आलोचनाशास्त्र तथा शोध हिन्दी साहित्य के अत्यन्त पुष्ट अंग हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा जो अन्य भाषाओं में प्रायः लुप्त हो गयी थी, हिन्दी के रीतिकाल में निरन्तर जीवित रही। आधुनिक युग में गद्य का माध्यम प्राप्त होने पर भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों के समन्वय से एक संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का निर्माण आरम्भ हुआ, जिसका आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं उनके परवर्ती आलोचकों ने सम्यक् विकास किया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी का आलोचना साहित्य तथा आलोचनाशास्त्र निश्चित प्रौढ़ और समृद्ध है।[1]

हिन्दी आलोचना की सैद्धांतिक पद्धति का विकास तो हिन्दी के रीतिकालीन युग में ही दिखायी पड़ता है, पर उसका व्यावहारिक रूप आधुनिक युग में ही विकसित हुआ। व्यावहारिक आलोचना को प्रौढ़, गम्भीर और वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय आचार्य शुक्ल को है। काव्य को विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखना, जीवन मूल्यों की दृष्टि से आँकना तथा इन दोनों के समन्वित रूप को काव्य का मानदण्ड मानना—इन तीनों प्रवृत्तियों का विकास उनकी समीक्षा-पद्धति में मिलता है। उनका महत्त्वपूर्ण कार्य व्यावहारिक से अधिक सैद्धांतिक-समीक्षा क्षेत्र से रहा है। उनका महत्त्व सूर, तुलसी, जायसी की आलोचना कर देने में नहीं, अपितु समीक्षा को वैज्ञानिक मानदण्ड और शैली प्रदान करने में है।

शुक्ल जी के ही काव्य-सिद्धांतों से समयानुकूल सौष्ठववादी समीक्षा-पद्धति विकसित हुई। इसमें काव्य को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया। भाव, अभिव्यक्ति-कला आदि के समन्वय का भी सफल प्रयास किया गया। उनके परवर्ती काल में शुक्ल-पद्धति, सौष्ठववादी, मार्क्सवादी और मनोविश्लेषणवादी-पद्धतियों का विकास तो हुआ ही, साथ ही प्रभावाभिव्यंजक, अभिव्यंजनावादी, सौंदर्यान्वेषी, चरितमूलक, ऐतिहासिक आदि पद्धतियों का भी विकास हुआ। वर्तमान समीक्षा-क्षेत्र में विकास के साथ कतिपय दोषों का पुट भी दिखायी देता है। अपने को अति आधुनिक मानने वाले कतिपय आलोचकों को आलोच्य कृति की बखिया-उधेड़ने में अधिक आनंद मिलता है। वे आलोचक

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २५ जून १९७६ में प्रकाशित डॉ० नगेन्द्र का लेख।

जो किसी न किसी राजनीतिक पार्टी से सम्बद्ध हैं, उनकी आलोचना का मानदण्ड उनकी पार्टी के सिद्धांत ही हैं। कतिपय आलोचक मनोविज्ञान को ही अपनी आलोचना की कसौटी मानते हैं। इस प्रकार समीक्षा का व्यावहारिक रूप अतिवादी और स्थूल होता जा रहा है। मान्यता पूर्वग्रहों का रूप धारण करती जा रही है।

हिन्दी की वर्तमान समीक्षा अनेक अतिवादों और दोषों से युक्त होने पर भी प्रौढ़ और समृद्ध है। इसका व्यावहारिक रूप भले ही पूर्वग्रहों और मतवादों से युक्त हो, पर सैद्धांतिक एकता भी स्पष्ट है। समाजशास्त्रियों की दृष्टि में परिवर्तन ही विकास है, अर्थात् समाज में किसी प्रकार का जो भी परिवर्तन होगा, वह उसका विकसित रूप ही होगा। इस दृष्टि से हिन्दी-समीक्षा भी उत्तरोत्तर विकास पर ही है, चाहे जिस रूप में हो। इस प्रकार हिन्दी-समीक्षा का भविष्य उज्ज्वल है। वर्तमान समय में भी शुक्ल जी के सैद्धांतिक विचारों का ही प्रभाव हिन्दी-समीक्षा पर अधिक दिखायी पड़ता है। समीक्षा में समन्वयवादी दृष्टि भी बहुत से आलोचकों द्वारा अपनायी जा रही है।

द्वितीय अध्याय

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का व्यक्तित्व

जीवन-अध्ययन

कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में परिचय देने की जो पद्धति रही है उसमें तीन पीढ़ियों तक का उल्लेख किया जाता है। शाण्डिल्य गोत्री मिश्रजी संस्कृत के प्रसिद्ध कवि नैषध-चरितकार श्रीहर्ष के वंशज हैं। पहली पीढ़ी में परसू के मिश्र हैं, दूसरी पीढ़ी में उनके सुक्खे को आँक है और तीसरी-चौथी पीढ़ी में श्रीहर्ष—गंगाधर के असामी हैं। उनके पितामह सरायँमीराँ में रहते थे, किन्तु नील के व्यापार में गहरा घाटा लगने से उनके एक भाई देहरादून जा बसे, दूसरे खजुआ चले गये और वे स्वयं अपनी ससुराल जिला फतेहपुर के किशुनपुर, बिकौरा नामक गाँव में आ बसे। उनके दो लड़के थे—बड़े का विवाह उन्होंने वहीं किया था, किन्तु अपने छोटे लड़के पण्डित रघुनन्दन मिश्र का विवाह निसगर, रायबरेली से आकर काशी में बसे हुए पण्डित वृन्दावन शुक्ल की सबसे बड़ी पुत्री अन्नपूर्णा देवी से किया।[1]

संवत् १९६३ वि० (सन् १९०६ ई०), कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को बाबा विश्वनाथ का प्रसाद अन्नपूर्णा देवी को पुत्ररत्न के रूप में प्राप्त हुआ। इस प्रसाद को संरक्षित रखने के लिए उनका नाम 'विश्वनाथप्रसाद' रखा गया। पुत्री के स्नेह ने अपने जामाता को यहीं रखने के लिए विवश किया। इसलिए उन्होंने जामाता को भारतीय जीवन प्रेस में काम दिला दिया। पर भगवान् को पण्डित रघुनन्दन मिश्र का यहाँ रहना मन्जूर नहीं था, सन् १९१० में काशी में फैली प्रचण्ड महामारी में उनको आत्मा स्वर्गीय विभूति में विलीन हो गयी। दैवी विपत्ति के कारण उनके पिता और बड़े भाई का भी देहान्त हो गया। अन्नपूर्णा देवी को विवश होकर सास के विरासत में प्राप्त लगभग ४० बीघे माफी खेत की देखभाल के लिए गाँव चले जाना पड़ा। शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि से विश्वनाथप्रसाद मिश्र को अपनी माता के संरक्षण में छोड़ दिया। इस प्रकार उनको मातृसुख का सौभाग्य बहुत समय तक नहीं मिला। परिणाम-

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ, संपा० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक (संस्मरण सन्दर्भ), पृ० २९।

स्वरूप बालक मिश्र काशी के ब्रह्मनाल मुहल्ले में अपने मामा के यहाँ नानी के पालन-पोषण में रहने लगा।

मिश्रजी बाल्यावस्था से ही उत्साही, दृढ़प्रतिज्ञ, जिज्ञासु और आस्थावान् थे। आरम्भिक जीवन में वे मामा के साथ समय-समय पर मन्दिर में पूजन का कार्य भी किया करते। परिस्थिति का प्रभाव और आर्थिक विपन्नता ने उनको इस कार्य को करने के लिए विवश किया। शिक्षा के प्रति सहज रुचि एवं निष्ठा ने ऐसी परिस्थिति में भी येनकेन प्रकारेण उनको शिक्षोन्मुख रखा, जिससे सन् १९२० ई० में उन्होंने कबीरचौरा से हिन्दी मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की।

दयनीय परिस्थिति में भी उन्होंने सन् १९२० ई० में 'स्पेशल क्लास' में प्रवेश लिया। जिस प्रकार प्रस्फुटित होनेवाली कली में किसी न किसी मात्रा में सौरभ वर्तमान रहता है, उसी प्रकार मिश्रजी में बाल्यावस्था से ही विद्वत्ता के लक्षण वर्तमान थे। पुरानी कविता में रुचि होने से छोटी उम्र में ही 'मुकुंद' उपनाम से व्रजभाषा और खड़ीबोली में कविता करने लगे थे। बारह वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'शीतलाष्टक' नामक पुस्तिका की रचना की, जो सन् १९१८ में प्रकाशित हुई थी। यह छोटा-सा स्तोत्र है। सन् १९२१ में अपने गुरुदेव लाला भगवानदीन 'दीन' के सम्पर्क में आये। ज्ञान की अर्गला खोल, प्रोत्साहन की वार्तिका, आशीर्वाद के स्नेह (तेल) से उपदेशामृत के प्रदीप को दीप्त कर लेनेवाले, गोविंद से अग्रपूज्यगुरु दीनजी से मिश्रजी का प्रथम परिचय किंवा उर्वरा मही में पृथक् बीजारोपण था।[1]

सन् १९२१ में ये हरिश्चन्द्र स्कूल को छोड़कर आचार्य कृपलानी द्वारा संचालित गांधी विद्यालय चले गये। इसी वर्ष गांधीजी के असहयोग आंदोलन के आवाहन पर मिश्रजी भी सर्वश्री लालबहादुर शास्त्री, त्रिभुवननारायण सिंह जैसे साथियों के साथ पढ़ाई का मैदान छोड़कर, स्वतंत्रता की लड़ाई के मैदान में प्रत्यक्ष रूप में आ गए। अपने बचाव के लिए उन्होंने दीनजी के साहित्य विद्यालय की सायंकालीन पढ़ाई में नाम लिखा लिया तथा संस्कृत का अध्ययन करने के लिए तिलक संस्कृत विद्यालय जाने लगे। दीनजी के विद्यालय से क्रमशः प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा की परीक्षाएँ दीं और लालाजी से 'रामचरितमानस' का अध्ययन किया। १९२५ ई० में मध्यमा (विशारद) के सभी वैकल्पिक विषयों को लेकर (अंग्रेजी, शीघ्रलिपि, गणित विषयों को छोड़कर) क्रमशः परीक्षा दी एवं श्लाघ्य सफलता प्राप्त की।

सन् १९२८ ई० में उन्होंने दीनजी की प्रेरणा से अल्पावधि में ही तैयारी कर ऐडमिशन परीक्षा सभी विषयों में दी एवं प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त की। स्मरणीय

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पांडेय, पृ० १४।

यह है कि इस परीक्षा में उन्हीं द्वारा सम्पादित भारतेंदु हरिश्चंद्र-कृत 'सत्य हरिश्चंद्र नाटक' पाठ्य पुस्तक के रूप में नियत था। उनके हिंदी के एक प्रश्नपत्र के परीक्षक कानपुर के श्री अयोध्यानाथ शर्मा थे, उन्होंने इनको ८७ प्रतिशत अंक देकर, उनकी उत्तर-पुस्तिका पर 'नोट' में लिख दिया कि इस योग्यता की उत्तरपुस्तिका हमें देखने को अभी तक उपलब्ध नहीं हुई थी। सन् १९२५ में ही दीनजी की कार्यव्यस्तता के परिणामस्वरूप अर्जुनदास केडिया द्वारा लिखे जानेवाले 'भारतीभूषण' नामक अलंकार ग्रंथ में उनके स्थान पर ये ही परामर्शदाता के रूप में नियुक्त हुए। १९ वर्ष की अल्प वय में ही 'भारतीभूषण' जैसे शास्त्रीय ग्रंथ के सम्पादन एवं संशोधन की क्षमता मिश्रजी की भारतीय साहित्यशास्त्र के ज्ञान एवं शास्त्रीय अभिरुचि के गाम्भीर्य की निर्देशिका है।

सन् १९२८ ई० में ही मिश्रजी ने साहित्यरत्न की भी परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उस समय साहित्यरत्न में प्रबंध के स्थान पर निबंध का प्रश्नपत्र रखा गया था। हिंदी काव्य-क्षेत्र में उस समय 'छायावाद' अपने शैशवावस्था में था। इसलिए उस पर निबन्ध लिखना बहुत ही कठिन कार्य था। पर मिश्रजी की प्रतिभा, पैनी दृष्टि एवं नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इस पर निबंध प्रस्तुत करने में सक्षम रही। वह उत्तरपुस्तिका इतनी विशिष्ट समझी गयी कि उसे हिंदी साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय में सुरक्षित रखकर उसी वर्ष सम्मेलन-पत्रिका में उसे प्रकाशित किया गया। साहित्यरत्न में मिली ख्याति से आचार्य नरेन्द्रदेव ने उनको काशी विद्यापीठ में अध्यापक नियुक्त किया। इस सम्बन्ध में मिश्रजी का कहना है कि उस समय "मैंने पढ़ना छोड़कर पढ़ाना स्वीकार नहीं किया।"[1]

सन् १९३२ ई० में उन्होंने बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की तथा उसके अध्ययन-काल में उन्हें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा दी जानेवाली छात्रवृत्ति भी मिलती रही। बी. ए. प्रथम वर्ष में वे पढ़ रहे थे कि लालाजी का स्वर्गवास हो गया। लालाजी का विद्यालय चलाते रहने का आग्रह स्वीकार कर उन्होंने इसका नाम 'हिन्दी साहित्य विद्यालय' के स्थान पर 'श्रीलाला भगवानदीन हिंदी साहित्य विद्यालय' कर दिया। इसके संचालन में ये आज तक यथाशक्ति योगदान दे रहे हैं। कठिन परिश्रम से उन्होंने वाराणसी के मानमंदिर महल (जयपुर स्टेट की प्रसिद्ध वेधशाला का एक अंश जो क्षेत्र महल कहलाता है) राज्य सरकार से क्रय कर लिया है। अनु-

---

१. प्रज्ञा, बी. एच. यू., वाल्यूम ११ (३), मार्च १९६६ में प्रकाशित आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख।

संधानपरक 'हिंदी विश्वविद्यालय' स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस विद्यालय के लिए उन्होंने बहुत बड़ा त्याग किया है। उन्होंने लगभग १५००० पुस्तकों से समृद्ध अपने पुस्तकालय को इस विद्यालय को समर्पित कर दिया है, जो विद्यालय में स्थानाभाव के कारण अभी उन्हीं के यहाँ है।

सन् १९३२ ई० के पश्चात् गृहकार्यों में व्यस्त होने से एक वर्ष तक उनकी पढ़ाई में विराम आ गया, परन्तु आगे पढ़ने की निष्ठा एवं प्रोत्साहन ने उन्हें सन् १९३५ में संस्कृत से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने का सुअवसर दिया। इसके पश्चात् जीविका की समस्या सामने आ गयी। इसी समय महामना पं० मदनमोहन मालवीय के 'सनातनधर्म' पत्र में कार्य करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया। मिश्र जी की निःस्वार्थ सेवा, प्रखर प्रज्ञा, अभूतपूर्व उत्साह से 'पत्र' के संख्या में तो वृद्धि हुई ही उसका प्रकाशन भी समय से होने लगा। उनके इस निष्ठापूर्ण कार्य से प्रभावित होकर मालवीय जी ने उनको तत्काल हिन्दी से एम० ए० करने का आदेश दिया। उनकी आर्थिक स्थिति को देखते हुए महामना ने उन्हें दो सौ रुपए की राशि दी। ठीक एक माह-पश्चात् १५ मार्च सन् १९३६ को परीक्षा प्रारम्भ होने वाली थी, जिसमें एम० ए० के सभी (आठ) प्रश्नपत्रों में एक साथ परीक्षा देनी थी। उन्होंने एक माह में परीक्षा की पूरी तैयारी तो की ही, तीन दिन में ही 'बिहारी की कविता' नामक शोध-प्रबन्ध भी प्रस्तुत किया, जो आगे चलकर 'बिहारी की वाग्विभूति' और अब अपने विस्तृत रूप में 'बिहारी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इस परीक्षा में उन्होंने केवल एम० ए० हिन्दी कक्षा में ही प्रथम श्रेणी नहीं प्राप्त की, अपितु सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया। उनकी इस सफलता से प्रभावित होकर मालवीय जी ने डी० लिट्० उपाधि के लिए शोध करने का आदेश दिया। सन् १९३६ ई० में परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनंतर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निर्देशन में 'आलंकारशास्त्र के आभोग में मनोवेगों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' विषय पर शोधकार्य करने लगे। इसके लिए उन्हें बाबूनन्दन अत्तारवाला की शोध-छात्रवृत्ति भी मिलती थी।

तत्कालीन हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बाबू श्यामसुन्दरदास जी के सन् १९३७ में पद से निवृत्त होने पर आचार्य शुक्ल विभागाध्यक्ष हुए। रिक्त प्रवक्ता-पद के आवेदकों में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पं० चंद्रबली पाण्डेय आदि—जैसे हिन्दी-जगत् के महारथियों में शुक्ल जी की पारखी दृष्टि ने मिश्र जी को ही इस पद के योग्य समझा। आचार्य शुक्ल की अनुशंसा को शिरोधार्य करते हुए महामना ने अपनी परम उदात्तता का परिचय देते हुए कहा था कि "मैं भी पंडित चतुर्वेदी की विद्वत्ता का प्रशंसक हूँ पर इस मामले में आचार्य शुक्ल का अभिमत तो हमारे लिए

वेदवाक्य है।"[1] इस प्रकार सन् १९३७ में आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग में व्याख्याता के रूप में नियुक्त हुए।

सन् १९२१ से सन् १९३७ तक के मिश्र जी के शैक्षणिक जीवन का संक्षेप में उल्लेख किया गया। अब इस अवधि के क्रांतिकारी एवं पारिवारिक जीवन का उल्लेख भी अपेक्षित है। सन् १९२१ ई० में पढ़ाई छोड़ने के पश्चात् ननिहाल वालों ने इन्हें विवाह करने के लिए विवश किया। इस अल्पशिक्षा और अर्थविहीनता की स्थिति में वे मंदिर में पूजन एवं प्रेस में कम्पोजीटर और प्रूफरीडर का कार्य करके धनार्जन किया करते थे। इसी समय चंद्रशेखर आजाद के क्रांतिकारीदल के कर्मठ सदस्य के रूप में स्वतन्त्रता-संग्राम में अवतरित हुए। इस जीवन को गुप्त रूप में व्यतीत करने में मंदिर में पूजनकार्य, विद्यालय में पठन-पाठन एवं सनातनी वेशभूषा विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए। क्रांतिकारियों के बन्दूक, पिस्तौल, बम आदि अनेक आग्नेय अस्त्रशस्त्र उनके यहाँ संगृहीत हुआ करते थे। इन सबका कुछ अवशेष भारत के स्वतन्त्र हो जाने तक इनके यहाँ रह गया था।

चन्द्रशेखर आजाद के निर्देश से उन्होंने प्रत्यक्षरूप से आन्दोलन में योग नहीं दिया, क्योंकि आजाद को ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी, जिसे कोई क्रांतिकारी रूप में जानता ही न हो और उनकी सुरक्षा की दृष्टि से समर्थ भी हो। आजाद यहाँ विविध वेशभूषा में घूमा करते थे और मिश्र जी पुरोहिती वेशभूषा में उनके साथ छाया की तरह लगे रहते थे। आजाद के निकटतम मित्रों में से किसी एक ने कैमरे से थाने पर ही उनका एक चित्र ले लिया था, केवल वही उनका चित्र अब उपलब्ध रह गया है। दल के सदस्यों को यह आदेश था कि जब तक देश स्वतन्त्र न हो जाये तब तक कोई अपना किसी प्रकार का फोटो न खिंचवाये। इसी आदेश का पालन करने के कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व का मिश्र जी का कोई चित्र नहीं मिलता। काकोरी डकैतीकाण्ड की सारी योजनाओं का निर्माण उनकी जानकारी में हुआ था, यद्यपि वे स्वयं घटनास्थल पर नहीं गये थे।

इसी क्रांतिकारी जीवन में उनकी प्रथम धर्मपत्नी का प्रसूतरोग से शरीरपात हो गया। उस पत्नी से कोई संतति न होने से दूसरे विवाह के लिए उन्हें विवश किया गया। इस विवाह से छह संततियाँ हुईं—तीन पुत्र (श्री चंद्रशेखर मिश्र आजाद, श्री चंद्रभूषण मिश्र और श्री चंद्रप्रकाश मिश्र) और तीन पुत्रियाँ। मझले पुत्र चंद्र-

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ७–१३ अगस्त, सन् १९७७ में डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' का प्रकाशित लेख।

भूषण मिश्र एवं बड़े पुत्र चंद्रशेखर मिश्र का हृदयगति रुकने से क्रमशः पचीस वर्ष की वय में (अविवाहित रूप में) एवं तैंतालीस वर्ष की वय में (विवाहित रूप में) शरीरान्त हो गया। ज्येष्ठ पुत्र की पत्नी, दो पुत्रों और एक पुत्री के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व भी इन्हीं पर है।

अन्नपूर्णा के महंत ने मठाधीश सम्मेलन की स्थापना की। इस सम्मेलन की आवश्यकता पर लेख आदि लिखने के लिए पन्द्रह रूपये मासिक पर मिश्रजी को रखा गया। आगे चलकर इस सम्मेलन के ही अन्तर्गत तीर्थेश महासभा की भी स्थापना की गयी। इस सम्मेलन से वर्णाश्रम-धर्म के समर्थन एवं उत्थान के लिए 'वर्णाश्रम' नामक पत्र प्रकाशित किया जाने लगा। इस पत्र का अधिकांश कार्य उनको ही करना पड़ता था। इस कार्य-वृद्धि के परिणामस्वरूप उनका वेतन सौ रुपये कर दिया गया। इसी समय उन्होंने बजरंगवली गुप्त के सहयोग से 'साहित्य-सेवक-कार्यालय' नाम से प्रकाशन का कार्य भी आरम्भ कर दिया था, जिसमें सबसे पहली पुस्तक दीन जी की 'कवितावली' की टीका प्रकाशित की गयी थी।

क्रांतिकारी जीवन में ही उन्होंने एक कविता लिखी थी जो 'स्वदेश' में प्रकाशित हुई थी। इस कविता को देखकर सम्पादक से उनका पता माँगकर आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने उनको पत्र लिखकर निर्देश दिया कि तुम इस प्रकार की कविता लिख-कर जेल मत जाओ, देश की कुछ वस्तुतः सेवा करो। तभी से उन्होंने इस प्रकार की कविताओं को प्रकाशित कराना छोड़ दिया। इस प्रकार उन्होंने भारतमाता की सेवा भारती द्वारा भी की थी। बड़े-बड़े क्रांतिकारी नेताओं से उनका साथ था, पत्र बराबर आते रहते थे। उन्होंने अपना नाम 'विश्व' रख लिया था। जाँच-पड़ताल के समय ही अपना पूरा नाम बताते थे। उनके यहाँ पत्र पोस्टकार्ड द्वारा ही आया करते थे, ताकि उसमें लिखित गुप्त बातों पर किसी को संदेह न हो। सारी गुप्त बातें सांकेतिक शब्दों में ही लिखी होती थीं। उसमें शीशी, गोली, पावर आदि दवा के लिए लिखे होते थे, पर संकेत रिवाल्वर, गोली आदि का होता था।

इस क्रांतिकारी अवधि में चंद्रशेखर आजाद से वे इतने प्रभावित हुए कि अपने ज्येष्ठ पुत्र का नाम ही चंद्रशेखर मिश्र आजाद रख दिया। जिस दिन चन्द्रशेखर आजाद 'अमर' हुए उसके दो दिन पहले तक वे मिश्र जी के ही घर थे। अपने अब तक के जीवन में मिश्र जी ने यदि कभी आँसू बहाये तो आजाद के अमर होने पर ही। रत्नवत् दो-दो पुत्र प्रौढ़ावस्था में इस दुनिया को छोड़कर चले गये, तब भी उनका हृदय उतना विचलित नहीं हुआ, जितना आजाद के अमर होने पर। इस प्रकार 'दुःख ही उनके जीवन की कथा रही', फिर भी अडिग विश्वास एवं आस्था से उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहे।

उनके साहित्यिक जीवन की प्रौढ़ावस्था उनके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में (सन् १९३७ ई०) अध्यापन कार्य करने के साथ ही आरम्भ हुई। वहाँ उन्हें पंडित रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डॉ० बड़थ्वाल जैसे मूर्धन्य विद्वानों के मध्य अध्यापन करने का सुअवसर मिला। गम्भीर से गम्भीर एवं शुष्क से शुष्क विषय को सरल, रुचिकर एवं आकर्षक शैली से हृदयंगम करा देना मिश्रजी की अध्यापन कला का वैशिष्ट्य है। इसके परिणामस्वरूप उनकी कक्षा में छात्रों की सर्वाधिक संख्या हो जाया करती थी।

उनके संस्कृत के गुरु आचार्य बटुकनाथ शर्मा ने उन्हें संस्कृत पढ़ाने हेतु आगरा जाने को कहा, किन्तु ननिहाल के लोगों की असहमति के कारण वे संस्कृत के अध्यापक होने से वंचित रह गये। सन् १९४१ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के स्वर्गवासी होने पर आचार्य केशवप्रसाद मिश्र हिन्दी के विभागाध्यक्ष हुए और उनके रिक्त स्थान पर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की नियुक्ति हुई। इसके विरुद्ध उन्होंने प्रार्थनापत्र देकर यह निर्णय कराया कि विभाग में वाजपेयी जी उनके (मिश्रजी) कनिष्ठ रहेंगे। सन् १९४१ में ही नागरीप्रचारिणी सभा के प्रधान मन्त्री पं० रामनारायण मिश्र ने सभा में कार्य करने के लिए इनको प्रेरित किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

प्राचीन साहित्य की उनकी अनुसंधानात्मक दृष्टि को ध्यान में रखकर सभा के प्रधान मन्त्री ने सभा में उन्हें हस्तलिखित पुस्तकों के खोज विभाग का निरीक्षक नियुक्त किया। सन् १९४३ ई० में सभा का अर्धशताब्दी-इतिहास मिश्रजी ने ही प्रस्तुत किया। सन् १९४६–४७ में वे सभा के साहित्य मन्त्री निर्वाचित हुए। इस पद पर रहकर उन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्पादन एवं प्रकाशन की व्यवस्था करायी। इसी समय आप 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (जो हिन्दी की सबसे प्राचीन एवं प्रमुख शोध पत्रिका है) के सम्पादक एवं अनुशीलन विभाग के निर्देशक भी चुने गये। सन् १९४६–४८ में बाबू सम्पूर्णानन्द सभापति एवं मिश्र जी सभा के प्रधान मन्त्री निर्वाचित हुए। इसी समय बाबू सम्पूर्णानन्द जी को सभा की ओर से अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया गया। इसके साथ ही मिश्र जी ने सभा से रस-मीमांसा, सूरसागर तथा रामचरितमानस के सम्पादन एवं प्रकाशन का भी प्रबन्ध कराया।

सन् १९४७ ई० में जब सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के शिक्षामन्त्री होकर लखनऊ चले गये तब उनके अनुरोध से मिश्र जी को काशी में साहित्यिक गतिविधि की नवीन संस्था 'प्रसाद-परिषद्' का सभापति निर्वाचित किया गया। इसके पहले सभापति आचार्य शुक्ल एवं दूसरे बाबू सम्पूर्णानन्द स्वयं थे। सभापति-पद ग्रहण करने पर उन्होंने साहित्यिक गोष्ठियों एवं साहित्यिक ग्रन्थों के प्रकाशन की नई व्यवस्था प्रारम्भ की।

'घनआनन्द और आनन्दघन', 'भारतीय साहित्यशास्त्र', (भाग १, २) तथा 'घन-आनन्द-ग्रंथावली' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें परिषद् से प्रकाशित हुईं।

उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री होने के पश्चात् सम्पूर्णानन्द जी ने अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी-ग्रन्थ-लेखकों को पुरस्कार देने की योजना चलायी। इस पुरस्कार-योजना के निर्णायकों में डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी और प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा के साथ मिश्र जी भी थे। उत्तर प्रदेश शासन के प्रतिनिधि के रूप में छह वर्षों तक वे केन्द्रीय शिक्षा-समिति के सदस्य भी रहे। उन्हीं दिनों वे मध्य-प्रदेश सरकार की प्रमाणीकरण-परिषद् में उत्तर प्रदेश शासन के प्रतिनिधि होकर उसमें सम्मिलित होने नागपुर गये थे।

सन् १९५३–५४ में नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी हीरक जयन्ती के अवसर पर अनेक साहित्यिक कार्यों का निर्धारण किया। उनमें आकर ग्रन्थों के सम्पादन प्रकाशन, हिन्दी शब्दसागर (आठ खण्डों वाले) के संशोधन, संपादन, प्रवर्द्धन, व्युत्पत्ति-लेखन एवं हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास का प्रणयन-प्रकाशन प्रमुख था। सन् १९४४ ई० में उन्हें 'आकरग्रन्थमाला' के प्रधान संपादक का कार्य सौंपा गया। आकर ग्रन्थमाला का संचालन आपने आठ-नौ वर्षों तक लगातार किया। आपके इस कार्यकाल में पचासों ग्रन्थावलियों के सम्पादक नियुक्त हुए, बीसों ग्रन्थावलियों की सम्पादित पाण्डुलिपियाँ तैयार हुईं तथा भिखारादास-ग्रन्थावली (भाग १, २), मान-ग्रन्थावली, गंग-ग्रन्थावली, पद्माकर-ग्रन्थावली, मतिराम-ग्रन्थावली आदि का प्रकाशन-मुद्रण हुआ। सन् १९५५ में सभा के कोश विभाग के सर्वनिरीक्षक पद पर उनकी नियुक्ति हुई। उस समय प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' के अध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के आग्रह पर उन्होंने केशव-ग्रन्थावली का तीन खण्डों में संपादन किया, जो 'एकेडमी' से ही प्रकाशित हुई। सन् १९४७–४८ के लगभग पं० नन्ददुलारे वाजपेयी सागर विश्वविद्यालय, सागर में रीडर एवं हिन्दी के विभागाध्यक्ष होकर चले गये। हिन्दू विश्वविद्यालय में उन दिनों रीडर का पद नहीं था। वाद में पद होने पर विशेषज्ञों ने मिश्र जी को सबसे पहला स्थान दिया, पर उन्होंने तत्कालीन कुलपति पं० गोविन्द मालवीय के समक्ष यह आकांक्षा व्यक्त की कि जब विभाग में रीडर के दो पद हों और डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा भी रीडर बनाये जायँ तभी मैं उस पद को स्वीकार करूँगा। कुछ वर्षों के पश्चात् आचार्य केशवप्रसाद मिश्र हिन्दी विभाग से निवृत्त हुए। तत्कालीन कुलपति पं० गोविन्द मालवीय ने कुछ राजनीतिक तत्त्वों की प्रेरणा से विभागाध्यक्ष पद का कोई विज्ञापन किये बिना ही पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी से इस पद पर आने के लिए लिखा-पढ़ी कर ली। सहसा उनको विभाग का ध्यान आया और उन्होंने मिश्र जी को बुलवाकर इस बात पर खेद

प्रकट किया कि मैंने विभाग से बिना परामर्श किए लिखा-पढ़ी आरम्भ कर दी, और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि यदि "श्री द्विवेदी विभागाध्यक्ष बनाए जाते हैं तो भी आप अवश्य विभाग में कार्य करते रहें।"[१] मिश्र जी ने उनसे कहा—"मालवीय जी के आदेश से मैंने हिन्दी विभाग में कार्य आरम्भ किया है, आप उनके पुत्र हैं, इसलिए आपके कार्य का अनिच्छापूर्वक भी मैं समर्थन करूँ तो भी संसार इसे नहीं मानेगा। इसलिए आप मुझे लिखित रूप में सब कुछ दे दीजिए।"[२] मालवीय जी ने उन्हें सब बातें लिखकर दे दीं और उस पद पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की नियुक्ति हो गयी।

सन् १९५६ ई० में हिन्दी साहित्य-परिषद् का अधिवेशन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। सभा-भवन में उसकी एक गोष्ठी हुई, जिसका विषय-प्रवर्तन 'साहित्यशास्त्र और समालोचना' निबन्ध-पाठ द्वारा मिश्र जी ने किया। संस्था के संस्थापक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इस अवसर पर बोलते हुए यहाँ तक कह दिया था कि 'मिश्रजी ने जैसा ध्वनिगद्य प्रस्तुत किया है वैसा अब तक मैंने कहीं नहीं सुना था।'[३] सन् १९६० ई० के मई महीने में दिल्ली विश्वविद्यालय ने जब हिन्दी साहित्य-परिषद् का सत्रहवाँ वार्षिक अधिवेशन, दिल्ली में आयोजित किया तब परिषद् के अध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी एवं स्वागताध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र के विशेष आग्रह पर उसमें सम्मिलित होने वे दिल्ली गये। वहाँ परिषद् की निबन्ध गोष्ठी में 'काव्यालोचन और अनुसंधान' निबंध उन्होंने पढ़ा। इस निबंध को उन्होंने प्रस्थान करने के दिन ही तैयार किया था, जिससे वह मुद्रित होने से वंचित रह गया था और वहाँ उपस्थित श्रोताओं में वितरित नहीं हो सका। इस निबन्ध-पाठ को सुनकर सभी श्रोताओं ने मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा करते हुए उस निबन्ध को मुद्रित रूप में बँटवाने की इच्छा व्यक्त की जो तत्काल नहीं हो सका।

काशिराज श्री विभूतिनारायण सिंह ने बी० ए० की परीक्षा देने के लिए इनसे हिन्दी पढ़ने की आकांक्षा व्यक्त की। उनके विशेष आग्रह पर उन्होंने इस अनुबन्ध पर वहाँ जाना स्वीकार किया कि विश्वविद्यालय द्वारा प्रतिनियुक्त (डिप्यूटेड) होकर ही मैं वहाँ जाकर पढ़ा सकता हूँ और उसके लिए कोई पारिश्रमिक नहीं लूँगा। परीक्षा उत्तीर्ण होने पर काशिराज ने मिश्र जी से यह जिज्ञासा व्यक्त की कि क्या रामचरितमानस के पाठशोध में नवीन उपलब्धि की सम्भावना है। उन्होंने तीन महीने तक

१,२,३. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, अभिनन्दन ग्रन्थ (सं० संदर्भ), पृ० २५। वही। वही।

काशिराज के पुस्तकालय सरस्वती-भवन में संगृहीत मानस के तीन सौ हस्तलेखों का और विदेशों एवं काशी के बाहर के सूचिपत्रांकित रामचरितमानस के प्राचीन हस्तलेखों के आलोड़न के उपरांत यह निर्णय किया कि यह काम संस्कृत रामायण और महाभारत के पाठशोधन के ढर्रे पर सम्भव है। इस कार्य के लिए भी उन्होंने कोई पारिश्रमिक लेना स्वीकार नहीं किया। सं० २०१० की विजयादशमी से पाठशोध का कार्य आरम्भ कर उन्होंने लगभग आठ वर्ष के अथक परिश्रम से उसे पूर्ण किया। उन्होंने एक योजना बनायी जिसमें पहले खण्ड में 'रामचरितमानस' का शुद्ध पाठ-युक्त प्रकाशन, दूसरे खण्ड में पाठशोध के सैद्धान्तिक पक्ष एवं पाठचक्र का प्रकाशन और तीसरे खण्ड में तुलसीदास का जीवनवृत्त एवं उनके वाङ्मय से सम्बद्ध सामग्री के प्रकाशन की व्यवस्था थी।

मानस का यह संपादन कार्य सम्पन्न होने पर पौष शुक्ल ७, सं० २०१८ वि० (१२ जनवरी सन् १९६२ ई०) को वाराणसी में तत्कालीन प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू को उसकी प्रथम मुद्रित प्रति विशाल रूप में आयोजित समारोह के बीच समर्पित की गयी। उन्होंने सुवर्णपत्रांकित प्रशस्तिपत्र और महावस्त्र मिश्र जी को प्रदान किया। उनकी इस सफलता के अवसर पर अनेक स्थान पर उनका अभिनन्दन किया गया।

काशी में श्री रतनलाल सुरेका द्वारा निर्मित 'श्री सत्यनारायणमानस मन्दिर' में सुरेका जी ने अनेक विद्वानों के परामर्श के पश्चात् उनके 'रामचरितमानस' का पाठ शिलांकित कराया। काशिराज द्वारा मानस की बिक्री की प्रतियों पर रायल्टी लेने के आग्रह को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि जो ग्रन्थ व्यवसाय की दृष्टि से प्रकाशित किये जाते हैं, मैं उन्हीं ग्रन्थों की रायल्टी लेता हूँ। अतः प्रकाशक 'सर्वभारतीय काशिराजन्यास' को उन्होंने इसका कापीराइट भी लिखकर दे दिया, जिसकी यथाविधि रजिस्ट्री दिल्ली में हो चुकी है।

मानस के पाठशोध के समय हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृथक् कर दिये गये। प्रोफेसर के रिक्त पद के लिए विज्ञापन हुआ। उसके लिए उन्होंने आवेदन-पत्र नहीं दिया, क्योंकि अपने मित्र डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा को वे वचन दे चुके थे कि आप के अध्यक्ष होने में मैं सहायता करूँगा। इसलिए उनके अनुरोध करने पर भी आवेदनपत्र नहीं दिया। विशेषज्ञों ने भी उनके नाम का प्रस्ताव रखा था, पर उपकुलपति न्यायमूर्ति श्री नटवरलाल हीरालाल जी भगवती ने यह व्यवस्था देकर उसे अमान्य कर दिया कि यहाँ के विभागीय व्यक्ति के लिए आवेदन-पत्र या कम से कम इच्छा व्यक्त करना आवश्यक है। महाराष्ट्र के राज्यपाल श्रीप्रकाश जी की अध्यक्षता में वहाँ विशाल आयोजनपूर्वक मिश्रजी का अभिनन्दन किया गया, उसमें

जस्टिस भगवती भी उपस्थित थे। उसमें बोलते हुए उन्होंने कहा था कि मेरी हार्दिक आकांक्षा थी कि श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के जाने के अनन्तर इन्हें हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष बनाया जाए, किन्तु इन्होंने तो कभी मुझसे मिलकर भी ऐसी इच्छा व्यक्त नहीं की।[1]

सन् १९५० ई० के लगभग केन्द्रीय सरकार ने इस विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में हिन्दी के ऐतिहासिक व्याकरण की एक विस्तृत योजना कार्यान्वित करने के लिए भेजी थी, जिसके लिए प्रतिवर्ष डेढ़ लाख रुपये व्ययार्थ मिलते थे। विश्वविद्यालय ने उनके मंत्रित्व में एक समिति का गठन किया। उन्होंने अथक परिश्रम द्वारा उसकी व्यवस्थित रूपरेखा तैयार कर उसे सुव्यवस्थित रूप से संचालित कर दिया। जब डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हुए और उस व्याकरण-समिति में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के स्थान पर सदस्य बने तब उन्होंने यह व्यवस्था दी कि इस समिति का निदेशक विभाग के अध्यक्ष को ही होना चाहिए। मिश्रजी ने काशी छोड़कर बाहर जाने की इच्छा कभी व्यक्त नहीं की और न उनके परिवार के लोग ही उन्हें जाने देना चाहते थे। इसी से उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से विभागाध्यक्ष पद हेतु आये आमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया था, पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की नीति से असन्तुष्ट होकर उन्होंने मगध विश्वविद्यालय, गया से आये विभागाध्यक्ष-पद के आमन्त्रण को स्वीकार कर काशी छोड़ ही दी।

वहाँ जाने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से छह मास की छुट्टी लेते समय कुलपति महोदय ने उनकी निश्छल भाव की सेवा को दृष्टिगत कर चार वर्ष की छुट्टी देने का आश्वासन दिया था, पर विभागाध्यक्ष के विशेष आग्रह के कारण इस छह महीने के अवकाश को एक दिन के लिए भी नहीं बढ़ाया गया। इससे उन्होंने विश्वविद्यालय से त्यागपत्र दे दिया। और चार माह का वेतन भी नियमानुसार जमा कर दिया। बिहार लोकसेवा आयोग के नियमानुसार किसी भी पदोन्नति या नियुक्ति के लिए व्यक्ति को आवेदन भी करना होता है और साक्षात्कार हेतु उपस्थित भी होना पड़ता है, चाहे वह आमन्त्रित व्यक्ति ही क्यों न हो। किन्तु मगध विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० कालीकिंकर दत्त ने कुलाधिपति श्री अनन्तशयनम् आयंगर से आदेश लेकर विश्वविद्यालय को ही उस पद के लिए आवेदक बनाया और मिश्र जी को साक्षात्कार में उपस्थित होने से मुक्त करा दिया। सन् १९६३ ई० में विशेषज्ञों की संस्तुति पर उनकी नियुक्ति वहाँ के हिन्दी के विभागाध्यक्ष एवं प्रोफेसर-पद पर हो गयी और वे वहाँ के कला संकाय के अधिष्ठाता (डीन) भी बनाये गये।

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ, (सं० सन्दर्भ), पृष्ठ २७।

विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त होने पर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने वहाँ स्नातकोत्तर स्तर पर अध्ययनशालाओं की योजना की और हिन्दी अध्ययनशाला के अध्यक्ष के रूप में मिश्रजी को आमन्त्रित किया। श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' जब भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए तो उन्हें हिन्दी-विभागाध्यक्ष पद पर आमंत्रित किया, किन्तु अपने यहाँ के कुलपति के अनुरोध से वे अन्यत्र कहीं नहीं जा सके। पर वाजपेयी जी को उन्होंने आश्वासन दिया कि मगध विश्वविद्यालय से शीघ्र ही निवृत्त होकर मैं वहाँ आने का प्रयास करूँगा। सन् १९६७ में विक्रम विश्वविद्यालय ने उन्हें सम्मानित डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया। उपाधि वितरणोत्सव-समारोह के अवसर पर उपस्थित न हो सकने के कारण एक विशेष समारोह का आयोजन कर वाजपेयी जी ने उन्हें उपाधि दी।

सन् १९६८ ई० में मगध विश्वविद्यालय से निवृत्त होकर वे काशी आ गये। काशी विद्यापीठ वाराणसी में डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने हिन्दी-विभाग में प्रोफेसर पद की स्थापना की। वे चाहते थे कि उस पर मिश्र जी कार्य करें, पर उसके लिए दौड़-धूप करना मिश्र जी की प्रकृति के अनुकूल नहीं था। कुछ दिनों के पश्चात् विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन' के विशेष आग्रह पर वे 'बालकृष्ण शर्मा नवीन शोधपीठ' के निदेशक और हिन्दी अध्ययनशाला के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर होकर उज्जैन चले गये।

सन् १९७३ ई० के अन्त में वे वहाँ से निवृत्त होकर काशी आ गये। यहाँ आने के पश्चात् वे 'रामचरितमानस' की साहित्यिक-शब्दानुवर्ती टीका और 'मानस-मीमांसा' के कार्य के साथ ही 'सूरसागर' के अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में संलग्न हैं। सन् १९७४ में काशी विश्वविद्यालय में मानस चतुश्शती समारोह के अवसर पर तुलसी-शोध-संस्थान की स्थापना हुई उसमें सहयोग के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया, और उक्त समिति के अनुरोध पर उन्होंने बहुत परिश्रम से 'मानस' का संक्षिप्त रूप भी सम्पादित कर प्रस्तुत किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की स्थायी समिति ने ५ मई सन् १९३८ ई० के नियमानुसार ६, ७, ८ दिसम्बर १९७५ में प्रयाग में होने वाले सम्मेलन में आचार्य मिश्र को 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रदान की।

डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, पं० करुणापति त्रिपाठी, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० उदयभानु सिंह, डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० रामजी मिश्र, डा० जगदीश गुप्त, डा० रामदरश मिश्र प्रभृति विद्वानों के संयोजकत्व में आचार्य मिश्र के अभिनन्दन की योजना बनायी गयी। इन विद्वानों ने इस योजना से जब मिश्र जी को अवगत कराया तब उन्होंने बड़े प्रतिरोध के बाद इसे स्वीकार किया। आपने कहा था कि "हमारे गुरुओं में से जब न डॉ० श्यामसुन्दरदास,

न पं० रामचन्द्र शुक्ल और न लाला भगवानदीन जी का ही अभिनन्दन हुआ तो आज मेरा अभिनंदन कैसा ? आप कहा करते हैं कि साहित्य सेवा का माध्यम है। वह तो ज्ञानयज्ञ है, जिसमें यथाशक्ति आहुति देनी चाहिए।"[१] इस समिति के कर्मठ सदस्य डॉ० रामजी मिश्र ने बड़े उत्साह से मिश्र जी से अभिनंदन करने की अनुमति माँगी तो उन्होंने अपने पत्रोत्तर में लिखा—"मैं अपने को इसका अधिकारी नहीं समझता। आप में जैसी गुरुभक्ति है वह मुझमें नहीं थी, तभी तो जो मुझसे सहस्रगुनी हिन्दी की सेवा करने वाले थे, उन गुरुओं का जीवितावस्था में कोई अभिनन्दन चाह कर भी नहीं कर सका। उन्होंने रोक लगा दी। न रहने पर श्रद्धा रूप में करने पर भी असमर्थ रहा। पुस्तकों की भूमिका एवं वक्तव्य में लिखा है सब कुछ। पर समय का प्रवाह है राजनीतिक नेता और अर्थनीतिक महाजन स्वयं दौड़-दौड़कर अपना अभिनन्दन कराते रहते हैं।"[२] इस प्रकार कठिन परिश्रम के पश्चात् १५ दिसम्बर १९७६ ई० को उनका अभिनन्दन दिल्ली में हुआ। इस अभिनन्दन के सुअवसर पर पं० कमलापति त्रिपाठी (तत्कालीन केन्द्रीय रेलमंत्री) ने उनका सम्मान करते हुए अभिनन्दन ग्रंथ की एक प्रति उनको भेंट की।

उनकी प्रतिभा का उत्तरोत्तर सम्मान बढ़ता ही गया। बम्बई में सन् १९७७ में होनेवाले महाराष्ट्र हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वे अध्यक्ष रहे। इसी वर्ष २६, २७, २८ जून को हैदराबाद में होनेवाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के उन्तालीसवें अधिवेशन में 'साहित्य परिषद्' के वे अध्यक्ष हुए। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग द्वारा उनको नियुक्ति काशी विद्यापीठ के हिन्दी-विभाग में सन् १९७७–७८ सत्र के लिए अभ्यागत आचार्य (विजिटिंग प्रोफेसर) के पद पर हुई। आप नियमित रूप से इस प्रौढ़ावस्था में भी काशी विद्यापीठ जाया करते थे। सं० २०३४ वि० के लिए वे दीन जी के साहित्य विद्यालय के प्रधानाचार्य एवं सर्वभारती शोध-संसद् के संसद्-निदेशक भी नियुक्त हुए। सन् १९७७ में 'हिन्दी सस्थान', उत्तर प्रदेश, ने सन् १९७५ ई० में प्रकाशित पुस्तकों के आधार पर ११६ साहित्यकारों को पुरस्कृत करने की घोषणा की। उनमें मिश्र जी सहित आठ व्यक्तियों को पन्द्रह-पन्द्रह हजार रुपये नकद एवं हिन्दी की विशिष्ट सेवा के लिए प्रमाण-पत्र दिया गया। इस पुरस्कार एवं प्रमाण-पत्र का वितरण तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री मुरारजी देसाई ने १८ दिसम्बर १९७७ को

---

१. राष्ट्रभाषा सन्देश, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) भाग १२, अंक २४ : १६-६-७७, भाग १२, अंक १ : १–७–७७, पृष्ठ ७।

२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रंथ, (सं० सन्दर्भ), लेख—डॉ० रामजी मिश्र।

किया। मिश्र जी का जीवन सदैव संघर्षमय रहा है। जीवन के इस संध्याकाल में ९ जनवरी सन् ८० को उनको पक्षाघात का शिकार होना पड़ा। भगवान् की असीम कृपा से अब निरन्तर उनमें सुधार होता जा रहा है। सन् १९८० से तीन वर्ष तक के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में 'सम्मानित आचार्य' (ऑनरेरी प्रोफेसर) के पद पर उनकी नियुक्ति हो गयी है। सम्भवतः इसे उन्होंने स्वीकार भी कर लिया है।

मिश्र जी की स्वस्थ, गौरवर्ण, पुष्ट शरीर, प्रदीप्त मुखमण्डल, चन्दन-चर्चित प्रशस्त ललाट, मन्द्रघनगर्जन-सी अप्रतिहत आत्मविश्वासपूर्ण वाणी उनके आकर्षक व्यक्तित्व का स्वयं प्रकाशन कर देती है। उनकी स्पष्ट एवं उच्च उत्कृष्ट वाणी को पार्श्व से श्रवण करने में श्रुति को उनके प्रौढ़ावस्था में न होने का भ्रम हो जाता है। उनकी वाणी में जितनी अधिक गम्भीरता है उतनी ही मृदुलता भी। इस गम्भीरता के मध्य व्यंग्य-विनोद से प्लावित उनकी मृदुल वाणी सम्पूर्ण वातावरण को रसमय बना देती है। मैंने अब तक के जीवन में घंटों बैठे रहने पर भी निरन्तर आनन्दानुभूति की तो मिश्र जी के साथ बैठकर उनके वचनामृत को ग्रहण करने में ही। उन्होंने अपने जीवन में यदि किसी को सर्वाधिक महत्त्व दिया तो अपने गुरुजनों एवं उनके कार्यों को। उनका कहना है कि "मैंने जीवन में व्रत लिया था कि जिन कार्यों को पूर्वज गुरुजन करते रहे हैं, उनकी पूरकता यथासाध्य मेरे द्वारा होती रहे और यदि अवसर मिले तो उनके कार्यों का उपबृंहण भी करूँ।"[1] इसे यथासाध्य उन्होंने पूरा भी किया और पूरा करने के लिए अभी तक प्रयत्नशील भी हैं।

मिश्र जी व्यावहारिक जीवन में जिस प्रकार सनातनधर्मी हैं उसी प्रकार साहित्यिक जीवन में शास्त्रीयतावादी। 'इनका चिन्तन परम्परा से प्रेरित होते हुए भी नवीन है। रूढ़ियों के आप कतई कायल नहीं हैं, प्रगतिशीलता को आप स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रतिक्रिया या विरोध के रूप में नहीं, अपितु परम्परा के सहज विकास की दृष्टि से।'[2] आप जीवित व्यक्ति पर शोधकार्य करने के पक्षपाती नहीं हैं। प्रथम साक्षात्कार के समय उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि भारतीय परम्परा में जीवित व्यक्ति पर शोधकार्य मान्य नहीं है। १५ जून सन् १९७७ को कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में भारतीय हिन्दी परिषद् के २८वें अधिवेशन के समापन भाषण में भी परिषद् के संरक्षक पद से आचार्य मिश्र ने कहा था कि 'जीवित व्यक्तियों पर शोध कहाँ तक ठीक है?

---

१. गोसाइं तुलसीदास—आचार्य मिश्र, पुरोवाक्, पृष्ठ ६।
२. राष्ट्रभाषा संदेश, भाग ११, अंक १२-१४, फरवरी १९७६ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ ३४।

पश्चिमी देशों में आधुनिक साहित्य-शोध का विषय मान्य नहीं होता।'[1] मेरे बहुत आग्रह करने पर उन्होंने मुझे समय-समय पर सहयोग देना स्वीकार किया।

इस शाश्वत जीवन के करुण विधान में अगाध आस्था, अपूर्व निष्ठा, स्वकर्तव्य-परायणता और साहित्य-सेवा की अडिग आस्था उनके व्यक्तित्व के सारतत्त्व हैं। साहित्य-सेवा में इस समय जो बाधाएँ उत्पन्न हो जाया करती हैं वे वृद्धावस्था एवं आर्थिक विपन्नता के कारण। उनकी बहुत-सी सम्पादित एवं लिखित पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो पा रही हैं, इसके मूल में आर्थिक विपन्नता ही है। "उनकी आस्था उस तत्त्व-दृष्टि का परिणाम है, जिसने जीवन और जगत् को आत्मसात् कर लिया है और जिसका उत्स गहन आध्यात्मिक विवेक में है।....लोक-व्यवहार और आध्यात्मिक विवेक के बीच पंडित जी की तत्त्वदृष्टि ने सामंजस्यपूर्ण सन्तुलन स्थापित कर लिया है। पद और सम्मान का मोह उन्हें कभी नहीं रहा। यश का वह प्रभामंडल अर्जित करने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की जो उनके सामने अथवा कम कर्तृत्व के लोगों को सुलभ है।'[2]

उनका व्यक्तित्व मूलतः अध्यापक का रहा है—छात्रों की समस्याओं का समाधान करने वाला, उनके दोषों को धैर्यपूर्वक सुधारने वाला तथा अपने प्रतिभाशाली आचरण द्वारा उनके सामने उदात्त उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला। 'अध्यापक होने के कारण ही वे सदैव विद्यार्थी हैं, सतत विद्यार्थी, अनवरत रूप से अध्ययनशील, ज्ञानार्जन के लिए विषम परिस्थितियों से संघर्ष करनेवाले, जूझनेवाले।'[3] उनकी सफल अध्यापन कला का ही परिणाम था कि अन्य वर्ग (सेक्शन) के विद्यार्थी भी स्थानाभाव की स्थिति में भी उनके वर्ग में आ जाया करते थे। उन्होंने पूज्य महामना मालवीय जी की उस महान् कल्पना को साकार किया, जिसमें वे गुरुकुल के गुरुओं जैसी त्याग की भावना अपने विश्वविद्यालय के शिक्षकों में देखना चाहते थे। मिश्र जी ने अद्यतन युग के शिक्षकों के आचार-विचार को गुरुकुल के गुरुओं के समक्ष तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। "'गुरु' का अर्थ बड़ा है। गुरु ज्ञान में बड़ा होता था। विचार में बड़ा होता था और साथ ही आचार में भी बड़ा होता था। शिक्षक आज शिक्षार्थी को ज्ञान की शिक्षा मात्र देते हैं। गुरु अपने को ही शिष्य में उतार देना चाहता था। वह शिक्षा नहीं दीक्षा देता था। अपना ही दान कर देता था। ज्ञान का दान गौण, आत्मदान प्रधान होता था। वह ज्ञान ही क्या जो विज्ञान न हो जाय। वह विचार ही क्या जो आचार में परिणत न हो जाय। गुरुता आचार पक्ष में ही है। यही महामना चाहते थे, ऐसा

---

१. 'आज' दैनिक पत्र, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, १६ जून, १९७७।

२,३. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनंदन ग्रंथ

—(सं० सन्दर्भ), पृ० ८४, ७९।

विश्वविद्यालय बने जिसमें आचार एवं विचार दोनों की गरिमा हो। विचार की जितनी ऊँचाई हो, आचार की उतनी ही गहराई हो। वे स्वयं इस आचार-विचार की गरिमा के मूर्तिमान उदाहरण थे।"[1] इस महान् उद्देश्य का अनुकर्ता महान् व्यक्ति ही होगा। इस दृष्टि से आचार्य मिश्र को आज का शिक्षक नहीं गुरुकुल का 'गुरु' कहना अधिक समीचीन है। ऐसे गुरु की दीक्षा को ग्रहण करने के लिए विद्यार्थी क्यों न इच्छुक हों।

व्याख्याता के रूप में तो वे इतने सफल रहे हैं कि उनके लम्बे-लम्बे व्याख्यान अवि-रल गति से घंटों चलते रहे हैं, किन्तु श्रोताओं ने कभी व्याकुलता एवं विरसता का अनुभव नहीं किया। उनके इन व्याख्यानों में उनकी रसना न कभी रसहीन हुई और न वाणी वर्णविहीन। व्याख्यान के अन्तर्गत उठाई गई शंकाओं एवं किये गये आक्षेपों का समाधान बहुत ही निर्भीकता एवं न्यायप्रियता से करते हैं।

साहित्य के क्षेत्र में उनका महत्त्वपूर्ण योग है। कुछ लोग उनको शुक्ल जी का उद्धरणकर्ता-व्याख्याता मानते हैं। उन्होंने अपने अनुसंधान द्वारा हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल को एक स्वतन्त्र 'पूर्णकाल' के रूप में समृद्धता प्रदान की। इस समय शुक्ल जी की तलस्पर्शिता तक पहुँचने की यदि किसी में क्षमता है तो उन्हीं में। व्याख्या को उनके साहित्यिक जीवन का एक पक्ष माना जा सकता है, पर केवल शुक्ल जी के ही विचारों का नहीं, अनेक कवियों के काव्य का। "पाठसम्पादन का क्षेत्र हो या भाष्य-लेखन का, शोध का क्षेत्र हो या समीक्षा का, इतिहासलेखन का हो या भाषा और व्या-करण की गुत्थियों का, आधुनिक युग में वे अकेले आचार्य हैं जिनकी इन सभी क्षेत्रों में साधिकार गति है। काव्यशास्त्र, दर्शन और व्याकरण के वे अधिकारी पण्डित हैं। वाङ्मय के नाना रूपों में वे निष्णात हैं।"[2]

इस अवस्था में भी मिश्र जी नियमतः अपने कार्यों का सफल सम्पादन करते रहते हैं। उनकी दैनंदिनी भी निर्धारित एवं सुनिश्चित है। प्रातः साढ़े सात बजे से लेकर नौ बजे तक 'सूरसागर' की साहित्यिक टीका में व्यस्त रहते हैं और रात्रि सात बजे से नौ बजे तक 'रामचरितमानस' की शब्दानुगामिनी साहित्यिक टीका में। उनसे आगन्तुकों के मिलने का कोई विशेष समय नहीं है। उनके स्वाध्याय कक्ष से अनेक विद्यार्थी एवं विद्वान् सदैव लाभान्वित होते रहते हैं। पत्रोत्तर देने में वे कभी हिचकते नहीं। इस-लिए शोधछात्र पत्र द्वारा भी अपनी समस्याओं का समाधान उनसे कराकर अपने कार्य में सम्भावित गति प्राप्त करते हैं।

---

१. 'पूज्य महामना मालवीय जी', आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का लेख, 'आज' दैनिक, २५ दिसम्बर १९७६।

२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनंदन ग्रन्थ (सं० संदर्भ), पृ० ८४।

विशारद के वैकल्पिक विषयों में ज्योतिषशास्त्र की परीक्षा के लिए 'सूर्यसिद्धांत' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पढ़ना पड़ता था। उन दिनों जो सौर पंचांग ज्ञानमण्डल, काशी से निकलता था उसके सम्पादक पं० बलदेव मिश्र से उन्होंने ज्योतिष पढ़ा। ज्योतिष के ज्ञान से जन्मकुण्डली एवं पंचांग बनाने में भी निपुणता प्राप्त की। उनके ज्योतिष के ज्ञान पर उनके परिवार का भी प्रभाव पड़ा था। उनके परनाना पं० शंकर शुक्ल ज्योतिष के बहुत बड़े विद्वान् थे। मिश्र जी का जन्म एवं पालन-पोषण ननिहाल में हुआ था। उनके नाना के छोटे भाई ने—जो ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे—उनका टिप्पण अर्थात् छोटी जन्मकुण्डली बना दी थी। उस टिप्पण के आधार पर जब मिश्र जी अपने सहपाठी के साथ जन्मकुण्डली बनाने लगे। अपनी जन्मकुण्डली बनाते देख नानी ने मना किया; बताया कि अपनी जन्मकुण्डली स्वयं बनाना अशुभ होता है। नानी का आदेश मानकर टिप्पण अपने ज्योतिष के गुरु पं० बलदेव मिश्र को विस्तृत जन्मकुण्डली बनाने के लिए दे आये।

उनका यह ज्योतिषज्ञान साहित्य के प्रसंगों को सुलझाने में विशेष उपयोगी हुआ। इसका स्पष्ट प्रमाण बिहारी के ज्योतिष से सम्बद्ध दोहों के स्पष्टीकरण में मिलता है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत दोहा—[1]

सनि कज्जल चखझख लगन उपज्यौ सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह॥

शनि का काला होना ही उसके कज्जल के उपमानत्व का कारण है। इसमें ज्योतिष का विशेष फल घटाने के लिए नेत्रों का मीन दोहरा काम कर रहा है।[1] बिहारी-रत्नाकर' में भी ज्योतिष की दृष्टि से इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

साहित्य सम्मेलन की सम्पादन परीक्षा के लिए तो उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया ही था, संस्कृत से एम० ए० करते समय एक प्रश्नपत्र ही दर्शन का था, जिसमें सभी भारतीय दर्शनों का अध्ययन करना पड़ा था। ये संस्कृत के सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पं० गोस्वामी दामोदरलाल शास्त्री के सान्निध्य में भी रहे जो दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

उनका यह दार्शनिक ज्ञान सूर, तुलसी आदि के भक्ति-सम्प्रदायों के स्पष्टीकरण में विशेष सहायक हुआ। उन्होंने भक्ति के चारों सम्प्रदायों और आचार्यों अर्थात् श्री-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य रामानुजाचार्य, रुद्र-सम्प्रदाय के आचार्य वल्लभाचार्य, सनकादि-सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्काचार्य और ब्रह्म-सम्प्रदाय के आचार्य श्रीमध्वा-

---

१. बिहारी, आचार्य मिश्र, पृ० १३६।

चार्य के मतों की व्याख्या इसी से बहुत ही सुलझे रूप में की है। उन्होंने इन सम्प्रदायों के आचार्य, दर्शन, भाव आदि का उल्लेख किया है[1]—

सम्प्रदाय	आचार्य	दर्शन	भाव
श्री	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत	दास्य
सनकादि	निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैत	सख्य
रुद्र	वल्लभाचार्य	शुद्धाद्वैत	वात्सल्य
ब्रह्म	मध्वाचार्य	द्वैत	कान्ता या माधुर्य

तुलसीदास के रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय में होने का प्रमाण उनकी उपासना में दास्यभाव की प्रमुखता को माना है। सूरदास के रुद्र-सम्प्रदाय में दीक्षित होने का आधार श्रीकृष्ण की बाललीला का विस्तृत वर्णन माना है, जिससे वात्सल्य उपासना का मुख्य भाव होने का संकेत मिलता है। सम्प्रदायों की व्यावहारिक उपासना-पद्धति के अज्ञान के कारण बहुत से आलोचक उनकी उपासना में सख्य, कान्त आदि भावों को भी अन्तर्लीन मानते हैं। उनके दार्शनिक विचार 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (भाग १), 'गोसाईं तुलसीदास', 'बिहारी', 'वाङ्मय-विमर्श' तुलसी की साधना आदि पुस्तकों के भक्ति-प्रकरण में विशेष रूप से मिलते हैं।

विशारद के वैकल्पिक विषय के रूप में 'वैद्यकशास्त्र' का उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया। वैद्यक के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों—वृहत्त्रयी और लघुत्रयी—का अध्ययन उन्होंने किया। वृहत्-त्रयी में चरक, सुश्रुत और वाग्भट एवं लघुत्रयी में माधव निदान, शार्ङ्गधर संहिता और भावप्रकाश ग्रन्थ आते हैं। इनमें भावप्रकाश बहुत ही विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है। मिश्र जी का आयुर्वेदिक ज्ञान उनके पारिवारिक जीवन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। उनका ज्येष्ठ पुत्र लगभग ढाई वर्ष की वय में गम्भीर रूप में अस्वस्थ हो गया। वैद्यों के भी निराश होने पर उन्होंने सुझाव दिया कि यह माता का दूध पीता है, इसलिए इसकी माता को वही औषध दी जाय जो इसे दी जाती है तो कदाचित् लाभ हो, क्योंकि माधव निदान में लिखा है—'दुग्धं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते।' ऐसा करने से बालक रोगमुक्त होकर स्वस्थ हो गया।

उन्होंने आयुर्वेद का सैद्धान्तिक ज्ञान तो प्राप्त कर लिया, पर व्यावहारिक जीवन में उसका उपयोग अल्पमात्रा में ही किया। उनका यह ज्ञान साहित्यिक गुत्थियों को भी सुलझाता रहा। साहित्यिक निबन्ध-लेखक और मनोवैज्ञानिक का भेद आयुर्वेद एवं एलोपैथी की औषध या अनुभव प्रणाली के उदाहरण से बताया—"वैज्ञानिक आँकड़ों के

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग १)—आचार्य मिश्र, पृष्ठ २०६।

आधार पर निर्णय करता है। निवन्ध-लेखक अनुभूति के आधार पर प्रत्यक्ष जीवन को विश्लिष्ट करता है। पहला गणित का सहारा लेता है, दूसरा अनुभूति से बारम्बार वोध ग्रहण करके स्वयं उसका विश्लेषण करता है। इसे आयुर्वेद और एलोपैथी के उदाहरण से समझने में कदाचित् सहायता मिले। किसी का ज्वर आयुर्वेदवेत्ता नाड़ी द्वारा निर्णीत करता है। नाड़ी में ज्वर का पता कैसे चलता है, इसके लिए बहुत दिनों से अनुभूति के आधार पर जो निर्णय होते चले आये हैं उनका सहारा लेने और अपनी अनुभूति मिलाकर निर्णय करने तथा थर्मामीटर से ताप को नाप लेने में अन्तर है। हो सकता है कि थर्मामीटर किसी में ज्वर होने की सूचना दे, पर नाड़ी से यह पता चले कि ज्वर नहीं, केवल ताप है। इसके विपरीत भी हो सकता है कि थर्मामीटर ज्वर का पता न दे, पर नाड़ी से पता लगे कि ज्वर है। अनुभूति केवल ताप के आधार पर नहीं चलती, उसे और बातों का भी विचार करना पड़ता है। आयुर्वेद के अनुसार ज्वर है या नहीं इसके लिए और भी बातों को साथ में लेना पड़ता है। यहाँ आयुर्वेद की वरीयता प्रतिपादित करना प्रयोजन नहीं है, केवल विज्ञान से अनुभूति का पार्थक्य बताना ही लक्ष्य है।"[1]

घनआनन्द-कवित्त की निम्नलिखित पंक्ति प्रस्तुत की जा रही है जिसका स्पष्टीकरण वैद्यक दृष्टि से ही किया गया है—

"देखिये दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की
भसमी विथा पै नित लंघन करति हैं।

भस्मी विथा का अर्थ भस्म कर देने वाली व्याकुलता और भस्मक रोग की व्यथा होती है। भस्मक रोग का उल्लेख वैद्यक ग्रन्थ 'भावप्रकाश' में है। इसमें इसका लक्षण बताया गया है कि इसके उत्पन्न होने पर भोजन शीघ्र पच जाता है। इसलिए भूख बराबर बनी रहती है। अधिकाधिक खाने पर भी पेट नहीं भरता। निपेटिनि अर्थात् अत्यन्त पेटू, अधिक खाने वाली। आयुर्वेद में तीन प्रकार के रोग माने गये हैं—साध्य, दुःसाध्य और असाध्य। इसमें इन तीनों स्थितियों को स्पष्ट किया गया है। असाध्य का असाध तो है ही पर उसकी दूसरी व्यंजना है कि जिन नेत्रों की साध न पूर्ण हुई हो उनकी स्थिति असाध्य हो गई, साध की पूर्ति से रहित। किसी पेटू की साध अधिक खाने की, भस्मक रोग से और अधिक खाने की, फिर लंघन करने से और अधिक साध, पर स्थिति असाध्य। भस्मक रोग यदि लघु आहार करने वाले को हो और उसको खाने को इच्छित मिलता जाए तो औषध से साध्य होता है। यदि भुक्खड़ को हो और पूरा भोजन न मिले तो असाध्य होता है। अँखियाँ अर्थात् दोनों आँखें दो को एक ही प्रकार का रोग दुःसाध्य होता है। जब खाने को ही मिलने में

---

१. चिंतामणि-मंजूषा, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ७।

कठिनाई हो तो असाध्य होता है। अँखियाँ अर्थात् दोनों आँखें। दो को एक ही प्रकार का रोग हो तो विलक्षणता ही है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के भेद से रोग में अन्तर पड़ता है।

नायिका अपनी सखी से प्रिय के प्रति सन्देश देते हुए कहती है कि आप इन आँखों की असाध्य दशा को तो देखिए। ये अत्यन्त पेटू हैं, उनके दर्शन न मिलने से इनमें भस्म कर देनेवाली विरहजन्यावस्था हो रही है फिर इन्हें नित्य लंघन करना पड़ रहा है, आपके कभी दर्शन नहीं होते। अतः इनकी स्थिति उस अकिंचन भस्मक रोग के रोगी की सी हो गई है, जो जन्म से भारी पेटू रहा हो, अधिक खाने का अभ्यासी रहा हो और फिर भी भस्मक रोग की चपेट में आकर अधिकाधिक भोजन की आवश्यकता आ पड़ी हो।"[1]

इस प्रकार के एक और स्थल का उल्लेख किया जा रहा है जो 'रामचरितमानस' के द्वितीय सोपान में आया है, जिसमें चार प्रकार के अर्थों की योजना तुलसीदास ने की है—एक अर्थ तो कथा-प्रसंग के प्रवाह में चलता है, दूसरा आयुर्वेद की दृष्टि से, तीसरा साहित्यशास्त्र की दृष्टि से और चौथा धार्मिक दृष्टि से। इसलिए इस स्थल का अर्थ स्पष्ट करने के लिए इन चारों दृष्टियों का ज्ञान आवश्यक है। वह स्थल निम्नलिखित है—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

—रामचरितमानस, द्वितीय सोपान, दो० २०७।

आचार्य मिश्र ने इन चारों दृष्टियों द्वारा इस प्रसंग का स्पष्टीकरण किया है। "शब्द, अर्थ, रस, छंद, मंगल सब यहाँ बड़े कौशल से विनियुक्त हैं। कवि 'कलंक' शब्द का प्रयोग करके पहले आयुर्वेद की रसक्रिया की ओर ध्यान खींचता है। फिर साहित्य की रसप्रक्रिया में पहुँचकर वहाँ से भक्ति की रसप्रक्रिया में ले जाता है। वहाँ से 'सिद्धि' को लिए दिए 'गणेश' तक पहुँच जाता है। 'अर्थ' को लेकर 'साधना' की सिद्धि को 'इति' तक पहुँचा देता है। 'पारा' किसी पदार्थ में मिलता नहीं। यदि मिलता है तो गंधक में ही यथाकथंचित् मिलता है। उसे कज्जली या कलंक कहते हैं। जो इस गुर या रहस्य (उपदेश) को नहीं जानता वह सिद्ध मकरध्वज क्या बना पाएगा। जैसे कलंक में मकरध्वज रससिद्धि को प्राप्त करता है। वैसे ही तुम्हारे 'कलंक' ने भक्ति रस की सिद्धि का श्रीगणेश कर दिया। अभी तक हम जगत् का त्याग करके बन-बन मारे-मारे फिरते रहे पर सिद्धि पाई ही नहीं। पर तुमने जगत् का त्याग, मिले हुए राज्य-

---

१. घनआनन्द-कबित्त—सम्पादक आचार्य मिश्र, पृ० २९ (भाष्य)।

वैभव विलास को रामभक्ति में लीन होने से तिनके की भाँति आप से आप अनायास छोड़ दिया। काव्य के आचार्य भक्ति को भाव ही मानते रहे, अर्थात् भक्ति को ऐसा भाव स्वीकार करते रहे जो सहृदय में रसात्मक परिणति करने में समर्थ नहीं था। जब पात्र का भाव ही सहृदय का भाव हो जाए तब उसकी रसात्मक परिणति होती है। किसी भक्त के भक्तिभाव से जब सहृदय भी भक्तिभाव में लीन हो तभी भक्तिभाव भक्तिरस कहा जा सकता है। अभी तक तो काव्यशास्त्राचार्य यही मानते आए कि भक्तिभाव की रचना पढ़कर सहृदय भक्त की भाव-प्रवणता की केवल प्रशंसा करता है। स्वयं वह उसमें तन्मय नहीं होता। किन्तु तुम्हारी इस राममय वृत्ति से आज सचमुच भक्त की रसवत्ता की सिद्धि हो गयी। तुम्हारे आचरण ने भक्ति भाव को अस्थायी से स्थायी रूप में परिणत कर दिया। अब जो भी तुम्हारा चरित पढ़ेगा उसे भक्तिरस की अनुभूति होकर ही रहेगी। तुम्हारे चरित ने साहित्य की मान्यता आज से बदल दी—

> भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं।
> सीय रामपद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति॥

'सिद्धि' तो हो गई पर 'सिद्धि' जिसकी शक्ति है वह न आए तो शक्ति मिलेगी भी तो कैसे।

यह समय-अवसर तो साक्षात् गणेश ही हो गया। सिद्धिदाता बनकर आ गया है। यह समय कुछ समय (नियम-अनुबंध) लिए आया है। हमारे लिए, हम वनवासियों के लिए, बाध्यता बनकर आया है। हमें विवश कर दिया है अपना अनुसरण करने के लिए। हम वन में जिस साधना में पड़े थे वह तो व्यष्टि-साधना थी। इसने समष्टि साधना की ओर उन्मुख कर दिया। आयुर्वेद, साहित्य, भक्ति और पुराणेतिहास चार-चार को अपने इस दोहे में बाबा तुलसीदास ने जिस कौशल से सहगामी बनाया है। उसकी विस्तृत व्याख्या के लिए पूरे प्रबन्ध का फलक चाहिए।"[1]

इस प्रकार मिश्र जी बहुज्ञ हैं। उनके धर्म, दर्शन, ज्योतिष एवं वैद्यक के ज्ञान ने ऐसे क्लिष्ट एवं दुरूह पदों का अर्थ स्पष्ट किया है, जो सभी के लिए सम्भव नहीं है।

कृतियाँ

मिश्र जी के साहित्यिक जीवन का आरम्भ उनकी बाल्यावस्था से ही मानना चाहिए। बाल्यावस्था से ही वे 'मुकुंद' उपनाम से ब्रजभाषा और खड़ी बोली में कविताएँ किया करते थे। उन्होंने बारह वर्ष की वय में ही गुजराती भाषा सीखकर 'अहिंसा' विषय पर लेख लिखा था जो जैनों की 'अहिंसा' (वाराणसी की पत्रिका) में प्रकाशित हुआ था। इसी समय उनकी छोटी सी पुस्तक 'शीतलाष्टक' भी प्रकाशित

---

१. तुलसी की साधना—आचार्य मिश्र, पृ० १४-१५।

हुई। इसके पश्चात् उनकी रचित कहानियाँ, लेख एवं कविताएँ (व्रजभाषा और खड़ी बोली की) लगातार प्रकाशित होने लगीं। सन् १९२० ई० में उनकी प्रथम कविता काशी के 'भूमिहार ब्राह्मण' पत्र में 'ब्राह्मण' शीर्षक से प्रकाशित हुई। सन् १९२१ में लालाजी के साहित्य-विद्यालय में पहुँचने पर लालाजी अन्य छात्रों की भाँति इनसे भी समस्यापूर्ति तथा साहित्यलेखन का अभ्यास कराते थे। उन्होंने सबसे प्रथम समस्या दी थी 'बीन-बीन'। उनके शिष्यों की कविताएँ दीनशिष्य के नाम से प्रकाशित हुआ करती थीं। उस समय उन्होंने 'पुष्पवाटिका' नामक एक पुस्तक की रचना की। इसमें तीस-चालीस गीत हैं जो विभिन्न पुष्पों पर हैं। उनकी हस्तलिखित कविताओं के तीन संग्रह देखने को मिले—एक पर 'कविताकुंज', दूसरे पर 'मुकुंद मंजरी' और तीसरे पर 'पुष्पवाटिका' नाम अंकित है। 'पुष्पवाटिका' में पारिजात, कुंद, चंपा, मल्लिका, चमेली, जया, मौलसिरी, धतूरा, सूर्यमुखी, मंदार, किंशुक, निवारी, कनेर, माधवी, मागधी, गेंदा, बन्धूक, जयन्ती, गुलाब, केतकी, मालती, पद्म आदि पर गीत हैं। इनमें से गेंदा, पद्म, कुन्द, मालती कविताएँ पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। उनकी साहित्यिक ख्याति को देखकर लोग अपनी पुस्तकों की भूमिकाएँ भी लिखवाने लगे। सर्वप्रथम सन् १९२३ ई० में प्रकाशित श्री सरयूप्रसाद पाण्डेय द्विजेन्द्रकृत 'ददरी-रहस्य' की भूमिका उन्होंने लिखी।

लालाजी के साथ वे विभिन्न साहित्य-सम्मेलनों में भी सम्मिलित हुआ करते थे। सन् १९२६ ई० में राष्ट्रीय काँग्रेस के साथ होने वाले कानपुर के कवि-सम्मेलन में उन्होंने अपनी वह कविता पढ़ी थी जिसका अंतिम पद था—'कोहरा नहीं है यह धूम बड़वानल का, भानु तापने को आग पानी में लगाते हैं।' कवि-सम्मेलन के सभापति थे बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानु'। उस कविता पर महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने उनको पुरस्कृत किया था। इस प्रकार लालाजी के सम्पर्क से उनकी साहित्यिक प्रतिभा के विकास में अधिक सहायता मिली। इसी साहित्यिक जीवन में उनको आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सान्निध्य भी मिला। उनका व्यक्तित्व आचार्य एवं अध्यापक का था। दीन जी की शिक्षा-दीक्षा तथा सम्पर्क से मध्ययुगीन कवियों के प्रति रुचि, प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन, टीकाकार्य, भारतीय परम्परा में दक्षता आदि की सिद्धि उन्हें मिली। शुक्ल जी ने उनको समीक्षात्मक दृष्टि प्रदान की। यदि उनके सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व को देखा जाय तो उनको कवि, निबन्धकार, सम्पादक, आलोचक, साहित्येतिहासकार, अनुवादक और टीकाकार कहा जा सकता है। कवि, कहानीकार और अनुवादक से कहीं अधिक उनकी गति अन्य विधाओं में है और प्रौढ़ है।

उन्होंने उत्तरमध्ययुगीन कवियों की कृतियों के सम्पादन एवं समीक्षा द्वारा हिन्दी साहित्य-जगत् को समृद्धिशाली बनाया। 'सम्पादक में लेखक से चौगुनी प्रतिभा और

दुगुनी दिग्वुद्धि अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से विश्वनाथ जी का स्थान बहुत ऊँचा जान पड़ता है।'[1] उनका सम्पादन-कार्य भी दो प्रकार का है—एक तो पूर्णतः उनके द्वारा सम्पन्न होनेवाला और दूसरा अन्यों द्वारा सम्पादित पुस्तकों में सहयोग, सुधार, परामर्श एवं भूमिका के रूप में सम्पन्न होने वाला। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रवर्तित 'आकर-ग्रंथमाला' की सम्पादन-योजना में सम्पादित कुछ पुस्तकें तो उनके द्वारा पूर्णतः सम्पादित हैं और कुछ उनके सहयोग एवं परामर्श से। यहाँ उनके द्वारा रचित एवं सम्पादित कतिपय पुस्तकों का संक्षेप में परिचय दिया जायेगा।

उनकी सबसे पहली रचना 'शीतलाष्टक' है जो सन् १९१८ में प्रकाशित हुई थी। इस रचना का साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, अपितु यह साहित्यिक जीवन में इतनी कम वय में प्रवेश करने का आरम्भिक चरण है, जिससे 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' उक्ति पूर्णतः चरितार्थ होती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का सम्पादन उन्होंने दीन जी के साथ सर्वप्रथम किया था, जो साहित्य-सेवक-कार्यालय से सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था। इसके अनन्तर इसके सभी संस्करण लालाजी के दिवंगत हो जाने के कारण मिश्रजी द्वारा ही सम्पादित होकर प्रकाशित हुए। इसी वर्ष दीन जी की 'दोहावली टीका' की भूमिका उन्होंने लिखी थी। पं० मोहनवल्लभ पंत ने टीका लिखने में लेखक का काम किया था। इसी समय तुलसीदासकृत 'कवितावली' का सम्पादन विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ उन्होंने किया। सन् १९२७ ई० में दीन जी ने 'सूरपंचरत्न' में यह लिखा है कि "इस संग्रह के कार्य में हमें अपने दो शिष्यों—मोहनवल्लभ पंत और विश्वनाथप्रसाद मिश्र से बहुत अधिक सहायता मिली। इन दोनों को हमारे दो हाथ दो नेत्र समझना चाहिए। अतः हम आशिष देते हैं कि कृष्ण भगवान् इन पर ऐसी कृपा करें कि ये संसार में उत्तम साहित्यसेवा करते हुए अमर कीर्ति और उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करें।"[2]

मिश्र जी ने सन् १९२७ ई० में 'सुदामाचरित' का सम्पादन विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ किया। नरोत्तम कवि के संक्षिप्त परिचय के साथ काव्यात्मक महत्त्व पर प्रकाश डाला। सन् १९२८ ई० में उन्होंने 'हिन्दी में नाट्यसाहित्य का विकास' नामक पुस्तक लिखी। इस समीक्षात्मक ग्रंथ में हिन्दी नाट्यसाहित्य के विकास पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। इस वर्ष दीन जी की 'विनयपत्रिका' की टीका

---

१. 'प्रमुख साहित्य मर्मज्ञ आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र', देखिये, वैंकटेश्वर समाचार, साप्ताहिक बम्बई, १६ नवम्बर १९५६ ई०'।

२. सूरपंचरत्न—सम्पादक लालाभगवानदीन, वक्तव्य।

का सम्पादन भी उन्होंने किया। इसकी भूमिका में दीन जी का जीवन-परिचय भी दिया गया है।

सन् १९२९ में भूषणकृत 'छत्रसालदशक' की टीका पं० रमाकान्त चौबे के सहयोग से की। सन् १९३० ई० में भूषणकृत 'शिवाबावनी' की टीका श्री बजरंगबली गुप्त की सहायता से लिखी। उन्होंने छात्रों की समस्याओं को दृष्टिगत कर 'काव्यांग कौमुदी' की तीन कलाओं (भागों) में रचना की। इसकी प्रथम कला ऐडमिशन कक्षा के लिए, द्वितीय कला इंटरमीडिएट के लिए और तृतीय कला बी० ए० कक्षा के लिए लिखी गई है। ये क्रमशः सन् १९३०, १९३१ और १९३४ ई० में प्रकाशित हुईं। रस, अलंकार, पिंगल आदि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इतनी सरल, सुस्पष्ट एवं सर्वथा शुद्ध पुस्तकें अन्य नहीं हैं।

उन्होंने विभिन्न कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तकें सम्पादित एवं संकलित कीं। इसी प्रकार की इनकी संकलित एवं सम्पादित पुस्तक 'तुलसीकोर्स' है जो सन् १९३० में प्रकाशित हुई थी। इसमें उन्होंने तुलसीदास का अनुसन्धानात्मक जीवनवृत्त भी प्रस्तुत किया है। इसी वर्ष श्रीअर्जुनदास केडिया के 'भारती-भूषण' के वे परामर्शदाता एवं संशोधक भी रहे।

दीन जी के पाँच शिष्यों ने मिलकर सन् १९३१ में 'भूषण-ग्रंथावली' का सम्पादन किया, जिनमें एक ये भी हैं। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९३६ ई० में उन्होंने प्रकाशित कराया। इसमें उन्होंने हिन्दी साहित्य में वीरकाव्य की परम्परा का तीन उत्थानों में विवेचन किया है।

सन् १९३३ ई० में उन्होंने दीन जी-कृत 'अलंकार-मंजूषा' का सम्पादन टिप्पणी के साथ किया। इसी वर्ष 'गद्य-प्रकाशिका' एवं 'गीतावलीगुंजन' नामक रीडरें भी संकलित की गईं। इसी वर्ष चन्द्रशेखर वाजपेयीकृत बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा सम्पादित 'हमीरहठ' का पुनः सम्पादन एवं संशोधन किया और आगे के संस्करण में भूमिका भी सलग्न कर दी। जसवंतसिंहकृत 'भाषाभूषण' का टीका एवं भूमिका सहित सम्पादन भी इसी वर्ष किया। गीताप्रेस गोरखपुर से सन् १९३४ ई० में प्रकाशित तुलसीदासकृत 'गीतावली' की श्री मुनिलालकृत टीका का संशोधन भी उन्होंने किया। पद्माकरकृत 'गंगालहरी' एवं 'जगद्विनोद' का पृथक्-पृथक् सम्पादन भी विस्तृत भूमिका के साथ उन्होंने इसी वर्ष किया। इसी वर्ष छविनाथ पाण्डेयकृत 'सफल जीवन' का भी सम्पादन किया। उन्होंने सन् १९३५ ई० में 'पद्माकर-पंचामृत' का सम्पादन किया। इसमें हिम्मतबहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोध-पचासा और गंगालहरी पाँच पुस्तकें संगृहीत हैं। इसकी विस्तृत भूमिका में कवि का परिचय, सभी ग्रंथों का संक्षेप में विवेचन, टिप्पणी एवं आलोचना भी दी गई है। सन् १९३६ ई० में

उनका एम० ए० का लघुप्रबन्ध 'बिहारी की कविता' 'बिहारी की वाग्विभूति' के नाम से प्रकाशित हुआ। यह तीन दिनों में लिखा जाने वाला शोधप्रबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें बिहारी के जीवनवृत्त एवं उनके कर्तृत्व का विस्तृत आलोचनात्मक विवेचन है। इसी वर्ष 'गद्यमाधुरी' पाठ्य-ग्रंथ का सम्पादन भी किया। इसकी प्रस्तावना में उपन्यास को छोड़कर गद्य की सभी विधाओं का विवेचन है। सन् १९३९ ई० में उन्होंने 'गद्यमंजरी' पाठ्यपुस्तक संकलित की।

सन् १९४१ ई० में वियोगीहरि द्वारा संकलित हिन्दी-वीरकाव्य-संग्रह 'वीरविरुदावली' का सम्पादन विस्तृत भूमिका के साथ किया। सन् १९४२ ई० में उनकी महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक पुस्तक 'वाङ्मय-विमर्श' प्रकाशित हुई। यह सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्मय का दिग्दर्शन करानेवाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षोपयोगी पुस्तक है। इसमें भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं, भाषाविज्ञान, हिन्दी साहित्य के इतिहास, लिपि आदि पर विचार किया गया है। इसी पुस्तक पर उनको 'द्विवेदी-पदक' से सम्मानित किया गया था। इसी वर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित 'भ्रमरगीतसार' का उन्होंने पुनः संपादन किया और 'आमुख' में सूरदास के भ्रमरगीत का महत्त्व प्रतिपादत किया।

सन् १९४३ ई० में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सूरदास पर लिखित ग्रंथ के अध्यायों—भक्ति का विकास, श्रीवल्लभाचार्य तथा सूरदास पर प्राप्त उनके अन्य निबन्ध को एकत्र कर 'सूरदास' नाम से सम्पादित किया। खंडित एवं त्रुटिपूर्ण अंशों की पूर्ति भी की। इसी वर्ष 'घनआनंद-कवित्त' का सम्पादन विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ किया। यह पुस्तक टिप्पणी एवं चूर्णिका से परिपूर्ण है। इसी वर्ष नागरीप्रचारिणी सभा का 'अर्द्धशताब्दी इतिहास' भी प्रस्तुत किया।

सन् १९४५ ई० में शुक्ल जी के 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' एवं 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबन्धों को संकलित कर उन्होंने 'चिन्तामणि' भाग दो के नाम से संकलित किया। इसी वर्ष घनआनन्द और आनंदघन नाम के दो कवियों की रचनाओं का संकलन-सम्पादन 'घनआनंद और आनंदघन' नाम से प्रस्तुत किया। सन् १९४८ ई० में अनिरुद्ध पाण्डेय के कहानी-संग्रह 'पापपुण्य' का, सन् १९४९ ई० में धर्मवीर भारती के कहानी संग्रह 'स्वर्ग और पृथ्वी' का और आचार्य शुक्ल के सैद्धांतिक मतों का सम्पादन 'रस-मीमांसा' नाम से किया।

सन् १९५० में बिहारी के समस्त दोहों का अकारादिक्रम से सम्पादन और आलोचना 'बिहारी' नाम से प्रकाशित किया। बिहारी के सम्बन्ध में प्रामाणिक एवं अनुसंधानात्मक विस्तृत सामग्री इसमें आकलित है। ओंकारशरद् की कहानियों के संग्रह 'स्पंदन' का संपादन भी इसी वर्ष किया। इसी वर्ष आठवीं कक्षा के छात्रों के बौद्धिक

ज्ञान के अनुरूप 'नवज्योति' का संकलन-संपादन किया। सन् १९५२ ई० में घनआनंद की कृतियों का सम्पादन 'घनआनंद-ग्रन्थावली' नाम से किया जो विस्तृत अनुसंधानात्मक आलोचना से पूर्ण है। इसी समय आधुनिक काल से सम्बद्ध अपने समय-समय पर लिखे गये आलोचनात्मक निवन्धों का संग्रह भी 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नाम से प्रकाशित कराया। यह हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के इतिहास के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

सन् १९५३ ई० में 'भूषण' नाम से भूषण की समस्त रचनाओं का संकलन एवं सम्पादन किया। इसका भूमिका भाग अत्यन्त अनुसंधानात्मक आलोचना से युक्त है। इसमें 'भूषण-ग्रंथावली' में दिया हुआ अंतर्दर्शन तो है ही, साथ ही भूषण का प्रामाणिक जीवनवृत्त एवं उनकी वंशपरम्परा का भी विवरण है। इसी वर्ष उन्होंने आलोचनात्मक भूमिका से पूर्ण 'रसखानि' का सम्पादन भी किया।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की प्रेरणा से उन्होंने 'केशव-ग्रंथावली' का सम्पादन तीन खण्डों में किया। इसमें प्रथम खण्ड सन् १९५४ ई० में, द्वितीय खण्ड सन् १९५६ ई० में और तृतीय खण्ड सन् १९५९ में हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसके प्रथम खंड में 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', द्वितीय खंड में 'रामचन्द्रचंद्रिका', 'छंदमाला', 'नखशिख' और तृतीय खंड में 'वीरचरित', 'रतनबावनी', 'जहाँगीर-जस-चंद्रिका', 'विज्ञानगीता' संगृहीत हैं। इस ग्रंथावली के तृतीय खंड की विस्तृत भूमिका में केशव की भाषा, संपादनशैली आदि पर विचार किया गया है। इसी वर्ष 'भिखारीदास-ग्रंथावली' के प्रथम खंड का सम्पादन किया, जिसमें भिखारीदास की तीन कृतियाँ—रस-सारांश, शृंगार-निर्णय एवं छंदार्णव-संगृहीत हैं। इस ग्रंथावली के द्वितीय खंड का संपादन सन् १९५७ ई० में किया। इसमें केवल 'काव्य-निर्णय' है।

सन् १९५८ ई० में 'रसिकप्रिया' की टीका 'प्रियाप्रसाद तिलक' नाम से प्रकाशित की। इसी वर्ष पद्माकर के 'पद्माभरण' का सम्पादन विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ स्वतन्त्र रूप में किया गया। सन् १९५९ ई० में पद्माकर की सम्पूर्ण कृतियों का सम्पादन 'पद्माकर-ग्रंथावली' के नाम से नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इसमें कवि की—अनूपगिरि-हिम्मतबहादुर की विरुदावली, प्रतापसिंह विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, आलीजाहप्रकाश, प्रबोध-पचासा, गंगालहरी, कलिपचीसी, जमुनालहरी, राजनीतिक-बचनिका, रामरसायन और लीलाहारी लीला—कृतियों का अनुसन्धानपरक विवेचन है। सन् १९५९ में ही केशवदास के उपलब्ध ६३९२ छंदों में से १२२३ छंदों का संकलन 'केशवदास' (संक्षिप्त) नाम से प्रकाशित कराया।

सन् १९५८ ई० में ही 'हिन्दी साहित्य का अतीत' भाग एक की रचना उन्होंने की। इसमें हिन्दी साहित्य के आदिकाल से पूर्वमध्यकाल तक का साहित्यिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। सन् १९६० ई० में 'हिन्दी साहित्य का अतीत' का दूसरा भाग

प्रकाशित हुआ। यह भाग हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों एवं तत्त्वों का उल्लेख करने में पूर्णतया समर्थ है। सन् १९६२ ई० उनके महत्त्व का वर्ष है। इसी वर्ष आठ वर्षों के निरंतर परिश्रम-प्रयास से 'रामचरितमानस' जैसे महान् ग्रन्थ का पाठशोध एवं सम्पादन उन्होंने किया। इस ग्रंथ की विस्तृत भूमिका में उन्होंने पाठसम्पादन-शैली का तलस्पर्शी विवेचन किया है। इसी वर्ष उन्होंने चंद्रशेखर शुक्लकृत 'रामचन्द्र शुक्ल' पुस्तक का संशोधन एवं सम्पादन किया।

सन् १९६३ ई० में तुलसीदास के सम्पूर्ण साहित्यिक एवं व्यावहारिक जीवन की अनुसंधानात्मक आलोचना उन्होंने 'गोसाईं तुलसीदास' नाम से लिखी। इसी वर्ष अपनी हास्य-व्यंग्य की कहानियों का संग्रह 'नीला कण्ठ उजले बोल' के नाम से प्रकाशित कराया। सन् १९७२ ई० में जसवंत सिंह की उपलब्ध सम्पूर्ण कृतियों का सम्पादन 'जसवंतसिंह-ग्रन्थावली' के नाम से किया। सन् १९७४ में नरोत्तमदास की रचनाओं का 'नरोत्तम' नाम से और बोधा की कृतियों का 'बोधा-ग्रंथावली' नाम से संपादन किया, जो विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं से पूर्ण हैं। सन् १९७६ ई० में आचार्य शुक्ल की 'चिंतामणि' (प्रथम भाग) के भूमिका-स्वरूप 'चिंतामणि-मंजूषा' की रचना की। इसी वर्ष उन्होंने बिहारी के पचास दोहों की विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका, चूर्णिका सहित भाष्य 'बिहारी प्रकाश' नाम से प्रकाशित कराया।

आकरग्रंथमाला में मोतीलाल मेनारिया द्वारा संपादित मानकृत 'मानराजविलास' सन् १९५८ में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ। मिश्र जी आकरग्रंथ-माला के प्रधान संपादक थे। इसी प्रकार सन् १९६० ई० में डॉ० वटेकृष्ण द्वारा संपादित 'गंग-कवित्त' एवं सन् १९७३ में प्रकाशित स्व० श्रीचंद्रशेखर मिश्र द्वारा संपादित 'ठाकुर' पुस्तकों में विस्तृत संपादकीय भूमिकाएँ तो दीं ही इनके संपादन में भी पर्याप्त सहयोग किया। जसवंतकृत 'भाषा भूषण' एवं घनआनंदकृत 'घनआनंद-कवित्त' के प्रथम सौ कवित्तों का भाष्य स्व० श्री चंद्रशेखर मिश्र ने किया था, जिनमें इनका पर्याप्त योगदान है।

मिश्र जी ने कई अँग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद भी हिन्दी में किया है। सन् १९३४ ई० में मैत्रेय द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'बुद्ध-मीमांसा' का हिन्दी अनुवाद किया। सन् १९३५ ई० में मैक्सिम गोर्की द्वारा लिखित तथा अंग्रेजी में अनूदित प्रसिद्ध कहानी 'ट्वेन्टी सिक्स प्रिजनर्स एण्ड ए-गर्ल' का हिन्दी में 'टानिया' नाम से उल्था किया। यह चार कहानियों का संग्रह है। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के आदेश से उन्होंने सन् १९४१ ई० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का परिचयात्मक विवरण विश्वविद्यालय की रजत-जयन्ती के अवसर पर हिन्दी में प्रस्तुत किया। इसके पूर्व यह विवरण अँग्रेजी में ही दिया जाता था।

उनकी अनेक पुस्तकें अभी अप्रकाशित पड़ी हैं। 'मानस-मीमांसा', 'ग्वालग्रंथावली', 'देवग्रंथावली', 'आलमग्रंथावली', 'वाग्विलास', 'हनुमानबाहुक', 'चंद्रशेखर वाजपेयी-ग्रंथावली' आदि, इनमें 'मानस-मीमांसा' के कुछ अंश इन्दौर से प्रकाशित होने वाली 'वीणा' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुए हैं। 'भीमसिंह' अनुवाद भी अप्रकाशित पड़ा है।

उनकी गति साहित्य की विविध विधाओं में रही है। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अधिकांश निबन्ध कृति के रूप में संगृहीत हो गए हैं। 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में संगृहीत आलोचनात्मक निबन्ध 'साहित्यिक पलायनवादी क्यों ?'—'समाज' २४ मार्च १९४६ में, 'स्कंद और देवसेना' 'आज' सन् १९४६ ई० में, 'बाबू साहब' 'आज' २७ अगस्त १९४५ ई० में प्रकाशित हुए थे। इसी प्रकार इसमें संगृहीत 'प्रगति-वाद-रसभूमि', 'गुप्त जी की साधना', 'प्रेमचंद की प्रवृत्तियाँ' आदि पहले प्रकाशित हो चुके हैं। तुलसीदास से सम्बद्ध उनके पूर्व प्रकाशित अनेक निबंध 'गोसाईं तुलसीदास' में संगृहीत हैं। उनके अधिकांश निबंध आज, सन्मार्ग, संसार, कान्यकुब्ज, साहित्य-सम्मेलन पत्रिका, स्वदेश, वर्णाश्रम, सनातनधर्म, हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका, काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका, प्रज्ञा, वीणा, आदि पत्र-पत्रकाओं में प्रकाशित हुए।

उनके निबन्ध साहित्यिक एवं धार्मिक कोटि के अधिक हैं। भाषावैज्ञानिक निबन्ध भी उन्होंने लिखे हैं। पं० मदनमोहन मालवीय एवं आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे महा-पुरुषों के जीवनवृत्त पर भी उनके निबन्ध हैं। कान्यकुब्ज समाज, ब्राह्मण संगठन, होली, गोरक्षा, स्त्रियों की समस्या, राष्ट्रभाषा, पशु-बलि आदि विषयों पर उनके बहुत से निबंध हैं। उनके शताधिक निबंध साहित्यिक एवं आलोचनात्मक हैं। अधिकांश पुस्तकाकार रूप में संगृहीत हो गए हैं और अभी कुछ संकलित नहीं हुए हैं। उनके ऐसे निबंध भी हैं जो व्याख्यान रूप में गोष्ठियों में दिये गये हैं। उन्होंने घनचक्कर, जनाना डिब्बा आदि जैसी हास्य-विनोद की कहानियाँ भी लिखी हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

राष्ट्रप्रेम, वीरता, प्रार्थना, त्योहार, प्रकृति, अबला, विरह, प्रेम, रूप-वर्णन, आनंद, पुष्प आदि से सम्बद्ध उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं, जिनमें अधिकांश पत्रों में प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रकृति-चित्रण में उन्होंने फूल, वर्षा, जमुना तट, सावन लागे, वसंत, यमुना आदि पर कविताएँ लिखी हैं। करवीर, क्रांति की टोली, प्रोत्साहन, तल-वार, प्रज्ञा, आर्यवीर एवं वीरांगना आदि उनकी वीररस प्रधान कविताएँ हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत स्वाधीनता, पराधीनता के प्रति, भारतमाता का स्वप्न, अम्बादेश, करुण-क्रंदन आदि कविताएँ उन्होंने लिखीं। उनकी कविताओं में गोलियों की बौछार और तलवारों की झंकार स्पष्ट सुनाई देती है। महात्मा गाँधी के

सत्याग्रह का संदेश अपनी कविताओं के माध्यम से देश में फैलाने का उन्होंने विशेष प्रयत्न किया। यथा—

> सत्याग्रह-संदेश, देश भर में पहुँचाएँ।
> कपट, फूट के भाव, परस्पर बैर मिटाएँ॥
> हिन्दू, मुस्लिम, जैन, पारसी औ इसाई।
> शुभ स्वदेश के इन्हें समझकर मानें भाई॥
> ऊँच-नीच के भाव में, समता रूपी आग दें।
> वस्तु विदेशी त्याग दें, प्रेमपुष्प में ताग दें॥[1]

उन्होंने सरस्वती, लक्ष्मी, श्रीकृष्ण, विश्वनाथ आदि के प्रति विनय के पद्य भी लिखे हैं। उन्होंने खड़ीबोली में तो कविताएँ कीं ही, ब्रजभाषा में भी की हैं, जिनकी भाषा को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह किसी आधुनिक रचनाकार की कृति है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

> कबहूँ नँदलाल बजावत बाँसुरी केलि करैं कबहूँ बट मैं।
> कबहूँ सखियान रिझावत हैं कबहूँ अभिरैं लरिका ठट मैं।
> कबहूँ पिचका कर माँझ 'मुकुंद' कबौं अरुझे दधि के मट मैं।
> कबहूँ पट लै चढ़ि जात कदंब कबौं बिहरैं जमुना तट मैं॥[2]

मिश्र जी ने अन्य विद्वानों की कृतियों पर भूमिकाएँ भी लिखीं एवं उन पर सम्मति भी दी है। किन्तु उनकी किसी पुस्तक में किसी की लिखी भूमिका नहीं है, यहाँ तक कि उनके गुरुओं की भी नहीं। किसी पर कोई सम्मति भी नहीं छपी है। हाँ अपने गुरुजनों को ग्रंथ समर्पित अवश्य किये हैं। 'काव्यांग कौमुदी' लाला भगवानदीन जी को समर्पित है और 'वाङ्मय-विमर्श' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को। वे अपने राम के भरोसे पर्वत पर हरियाने वाले हैं। इस प्रकार वे स्वावलम्बी एवं बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। उनका वैयक्तिक जीवन एवं कृतियाँ दोनों प्रोज्ज्वल हैं।



---

१. ज्योति, भाग ३, सं० ९, जनवरी १९२३ ई०।
२. कान्यकुब्ज, भाग १२, अंक ३, मार्च १९२४ ई०।

तृतीय अध्याय

आचार्य मिश्र के समीक्षात्मक व्यक्तित्व के नियामक तत्त्व एवं सैद्धांतिक मान्यताएँ

समीक्षात्मक व्यक्तित्व के नियामक तत्त्व

भारतीय साहित्य-परम्परा में सर्जक एवं समीक्षक दोनों को विशिष्ट प्राणी माना गया है। मिश्रजी ने इनमें 'सामाजिक चेतना' एवं 'सहृदयता' को आवश्यक माना है। उनकी दृष्टि से 'सामाजिक' को 'सहृदय' होना चाहिए एवं 'सहृदय' को 'सामाजिक'। उन्होंने समाजगत भावना तथा हृदयगत भावना के ग्राहक को ही 'सहृदय-सामाजिक' कहा है।[1] भारतीय दृष्टि से उन्होंने व्यक्तित्व में दो गुण प्रधान माने हैं—सत्ता-सत्त्व, जैसे 'कविता-कवित्व'। जिस प्रकार कवि की, की हुई सृष्टि को 'कविता' कहा जाता है उसी प्रकार कवि की सृष्टि करने की शक्ति को कवित्व। 'सत्ता' किसी की निर्मित सृष्टि है और 'सत्त्व' सृष्टि निर्मित करने की शक्ति। किसी का व्यक्तित्व सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के रहने से लौकिक स्तर का रहता है। रजोगुण, तमोगुण का लोप होने से सत्त्वगुण का उद्रेक होता है, यह सत्त्व किसी दूसरे से जोड़ता है। इसी से वल्लभाचार्य ने सत्त्व को भगवान् की सन्धिनी शक्ति कहा है।

साहित्य का प्रमुख उद्देश्य सम्प्रेषण है। कवि की अनुभूति कविता के रूप में आकार धारण कर अभिव्यक्त होती है। सामाजिक या ग्राहक उसी का अपनी दृष्टि एवं शक्ति से ग्रहण कर आस्वादन करता है। इस प्रकार सर्जन एवं आस्वादन की प्रक्रियाएँ परस्पर पूरक हैं। उनका कहना है कि 'आलोचक के पास जो दृष्टि है, हो सकता है वह कवि में न हो।""समीक्षक के पास कवि की और अपनी दोनों दृष्टियाँ होती हैं।'[2] उन्होंने राजशेखर द्वारा प्रतिपादित 'प्रतिभा' से सम्बद्ध मत का समर्थन किया है। राजशेखर ने प्रतिभा को दो प्रकार का बताया—पहली कारयित्री और दूसरी भावयित्री। कारयित्री प्रतिभा कवि की उपकारक होती है।[3] भावयित्री प्रतिभा

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १४६।

२. 'आज' (दैनिक समाचार पत्र), ज्ञान० लि०, वाराणसी, २४-१२-१९७६।

३. सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री।

—काव्यमीमांसा, पृ० ३०।

भावक या आलोचक की उपकारक होती है। प्राचीन आचार्यों ने भी कवि और भावक (आलोचक) में भेद नहीं माना है, क्योंकि कवि भावक है और भावुक भी कवि है।[१] भावक कवि प्रायः अधम दशा को नहीं प्राप्त होता है।[२]

सर्वप्रथम आलोचक कृति के तटस्थ पाठक के रूप में सामने आता है। पाठक की भाँति ही वह अपने प्रतिबोधक विभावन में किसी न किसी प्रकार के मनोवेगों का अनुभव करता है। इन मनोवेगों से प्रतिभावित व्यक्ति अपने को प्रभावित करनेवाले तत्त्वों से अवश्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। 'समालोचना भी साहित्य की भाँति जीवन की ही अनुभूति है जिसमें बोधपक्ष अधिक उभरा हुआ है और रागपक्ष कुछ दबा हुआ।'[३] पर ऐसा सभी आलोचकों के लिए नहीं कहा जा सकता। आलोचक अपने यथार्थ रूप में केवल कृति का पाठक ही नहीं होता, अपितु कृतिकार की अनन्त संवेदनाओं का व्याख्याता भी होता है। अतः उसकी स्थिति को पाठक की स्थिति से भिन्न कहना ही उचित है। कर्ता और आलोचक दोनों की संवेदना एक-सी होती है, भले ही दोनों के संवेदनाओं के आलम्बनों में अन्तर हो।[४]

पोप का मत है कि ईश्वर से ही कवि एवं आलोचक दोनों प्रतिभा पाते हैं। एक लिखने की प्रतिभा लेकर पैदा होता है तो दूसरा निर्णय देने की प्रतिभा लेकर।[५] बेन जानसन का मत है कि कवियों पर निर्णय देना कवि का ही काम है, और सब तरह के कवियों का नहीं, महत्तम कवियों का।[६] उनकी मान्यता थी कि यदि आलोचक में कवि जैसी महान् प्रतिभा न हुई तो वह न तो किसी महान् कवि की कृति समझ सकता है

---

१. 'भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायं च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुरन्यथा सोऽवकेशी स्यात्। कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः। इत्याचार्याः।' —काव्यमीमांसा, राजशेखर, पृ० ३२।
२. भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम्। —वही।
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य में आलोचना का विकास, डॉ० वेंकट शर्मा, पृ० ११।
४. आलोचना : प्रक्रिया और स्वरूप, संपादक, आनन्दप्रकाश दीक्षित, पृ० ४३।
५. Both must alike from Heaven derive their light, These born to Judge, as well as those to write. (Pope)
—The Making of literature, Scott James, P. 12.
६. To Judge Poets is only faculty of Poets; and not of all Poets, but the best.
—Making of Literature, Scott James, P. 14.

और न किसी को उसका सौंदर्य समझा सकता है। कवि और समालोचक की प्रतिभा में अन्तर स्तर का नहीं विषयवस्तु का है। कवि का क्षेत्र है प्रकृति, मानव-हृदय और उसकी उथल-पथल, जबकि आलोचक की विषयवस्तु हैं प्रकृति या मानव-हृदय की उथल-पुथल दिखानेवाली कृतियाँ और उसका सौंदर्य-निरूपण। प्रतिभा दोनों में अनिवार्य है।

कर्ता अपने परिवेश की वस्तुओं से प्रभावित होता है। ये वस्तुएँ किसी प्रकार की संवेदना का कर्ता में निर्माण करती हैं। इस संवेदना की प्रक्रिया के लिए कर्ता आकुल होता है। उसकी यह आकुलता उसे अभिव्यक्त करने के लिए विवश करती है। उसकी यही अभिव्यक्ति काव्यकृति के रूप में प्राप्त होती है। उसकी इस संवेदना का आलम्बन संसार की कोई वस्तु या घटना या प्रतिक्रिया होती है। समीक्षक के समक्ष कोई न कोई कृति होती है। वह उस कृति का आस्वादन करता है। इस आस्वादन से उस आलोचक के मन में एक संवेदना निर्मित होती है। यह संवेदना भी आलोचक को प्रतिक्रिया करने के लिए विवश करती है। यही विवशता अभिव्यक्त होकर समीक्षा के रूप में सामने आती है। समीक्षक में भी भाव-तत्त्व उतना ही प्रबल होता है जितना सर्जक में। इस प्रकार प्रणेता कृति का निर्माण करता है और आलोचक उसका पुनर्निर्माण करता है। कलाकार वह मार्गदर्शक है, जिसने जंगल को साफ करके मार्ग का निर्माण किया है। आलोचक वह प्रथम निरीक्षक है जो इस मार्ग पर परिभ्रमण करके इसके निर्मित स्वरूप का निरीक्षण करता है।[1] उसके इस निरीक्षण में उसके संस्कार, अध्ययन आदि प्रमुख रूप से उसके सहयोगी रहते हैं।

सर्जन को तीन भागों में विभक्त किया गया है—सर्जन के पूर्व की स्थिति, सर्जन के समय की वास्तविक स्थिति, सर्जन के पश्चात् की स्थिति। आलोचक अपने पठन के आधार पर इनकी तर्कसंगत समीक्षा भले प्रस्तुत कर दे, पर प्रायः उन्हीं स्थितियों एवं मनोदशाओं से गुजरने के लिए उसे केवल अनुमान का सम्बल ग्रहण करना पड़ता है। यह अनुमित कार्य-व्यापार ही आलोचना के क्षेत्र में विवाद, वाद एवं प्रतिवाद का प्रमुख कारण है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सर्जक एवं आलोचक एक-दूसरे के पूरक हैं। सर्जक के अनन्त अपूर्ण स्थलों का आलोचक ने परिहार एवं परिष्कार किया

---

१. The artist may be compared to a pioneer who has surveyed the jungle, cut a way through it, and laid down a track, The critic is like the first inspecter who goes over that finished tract to test it.

—The Making of Literature, Scott James, P. 375–376.

हैं। आलोचना ने ही सर्जक को निर्माण-क्षमता प्रदान की है और सर्जक ने ही आलोचक को आलोचना-प्रक्रिया से अवगत कराया है। एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व का निखार सम्भव नहीं।[१]

कृति के आलोड़न में समीक्षक सर्वप्रथम उसके विषय से साक्षात्कार करता है इस समय उसे दुहरा कार्य करना पड़ता है—एक ओर उसे सहानुभूति के साथ कृति में प्रवेश करना पड़ता है और दूसरी ओर यात्रा के क्षणों में उसे सदैव जागरूक रहना पड़ता है कि उसकी अनुभूति में पूर्वग्रह का समावेश न हो जाय। दूसरे चरण में समीक्षक को रचना की संवेदना से संघर्ष करना पड़ता है और उसके अभ्यन्तर में एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। समीक्षक का तीसरा चरण उस प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति का है जब सुबोध, सुस्पष्ट एवं परिष्कृत शब्दों की तलाश करने के साथ-साथ कृति के भीतर से अपने प्रतिमान प्राप्त करने की ओर वह उन्मुख होता है। इस कार्य को पूर्ण बनाने के लिए उसका विकसमान होना आवश्यक है, अन्यथा इसके अभाव में वह प्राचीन कृतियों को न तो नए सन्दर्भ में व्याख्यायित कर सकेगा और न नयी रचनाओं के साथ सम्बन्ध ही स्थापित कर पायेगा। समीक्षक का अन्तिम कार्य यह है कि विशाल पाठक-समुदाय को ध्यान में रखते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक उत्तरदायित्व को समझते हुए उसके अनुरूप अपना मन्तव्य प्रस्तुत करे।

वास्तविक रूप में समीक्षक अपनी सर्जना द्वारा निष्पक्ष भाव से पूर्वग्रह को त्याग कर साहित्यिक मानदण्डों के आधार पर वही भावभूमि प्रस्तुत करता है जिस भावभूमि पर सर्जक अपनी सर्जना प्रस्तुत किए रहता है। समीक्षक का व्यक्तित्व निर्माता का है न कि विध्वंसक का। समीक्षक की इस रचना के माध्यम से साधारण पाठक भी कृति की वास्तविक भावभूमि पर पहुँच सकता है। इस प्रकार की रचना को प्रस्तुत करने के लिए कवि के साथ समीक्षक में भी सत्त्वगुण का उद्रेक होना चाहिए। मिश्र जी ने 'सहृदय' को भी दो प्रकार का बताया है—पहला भावुक, जो अपने को दूसरे के समान बना लेता है, दूसरा भावक, जो रचना को पढ़कर अपना मत अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से हम आलोचक में भावक गुण ही विद्यमान मान सकते हैं। उनकी यह मान्यता राजशेखर के मत का ही समर्थन करती है।

आलोचक के प्रकार पर राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में विस्तृत रूप से विचार किया है। उन्होंने जैन महाकवि मंडल द्वारा बताये गये भावक या आलोचक के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—पहला अरोचकी और दूसरा सतृणाभ्यवहारी। पर

१. आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी साहित्य—डॉ० शिवकरणसिंह, पृ० ५।

अपने मत में उन्होंने भावक को चार प्रकार का बताया—(१) अरोचकी, (२) सतृणाभ्यवहारी, (३) मत्सरी और (४) तत्त्वाभिनिवेशी ।[1]

अरोचकी आलोचक वे होते हैं जिन्हें उत्कृष्ट रचना भी प्रायः पसन्द नहीं आती । सतृणाभ्यवहारी उसे बताया, जो उत्कृष्ट एवं निकृष्ट सभी प्रकार की रचनाओं पर वाह-वाह करते हैं । मत्सरी आलोचक उन्हें कहा जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नहीं करते और कुछ-न-कुछ दोषदर्शन कराने की चेष्टा करते रहते हैं । वे तत्त्वाभिनिवेशी को ही निष्पक्ष एवं सच्चा आलोचक मानते हैं । ऐसे आलोचक विवेकशील होते हैं । सच्चा एवं विद्वान् आलोचक किसी कवि को बड़े पुण्य-प्रभाव से मिलता है, जो उसकी काव्य-रचना के परिश्रम को समझकर शब्दों की रचनाविधि का भलीभाँति विवेचन करता है, जो सूक्तियों के गूढ़ार्थ को प्रस्तुत करता है और काव्य की अनुभूति से रसपान कर आह्लादित होता है । उस कवि के काव्य पर आश्चर्य प्रकट किया गया है जिसके आलोचक उसके स्वामी, मित्र, मंत्री, शिष्य और गुरु न हों ।[2] वही काव्य-रचना सफल मानी जाती है जो आलोचक द्वारा चारो ओर प्रस्तुत की जाती है । कवि और उसकी रचना तो वहुत उपलब्ध होती हैं, पर वे ही कवि एवं काव्य उत्तम कोटि के होते हैं जो आलोचकों की हृदय-शिलाओं पर खुदे हुए हों, पर ऐसे काव्य कम ही दिखाई पड़ते हैं । कुछ आलोचक केवल रचनाओं के गुणों को ग्रहण करते हैं, तो कुछ उसके दोषों की छान-बीन करते हैं । गुण एवं दोष दोनों पर विचार करना छोड़कर रसा-स्वादन-मात्र करने वाले आलोचक विरले ही मिलते हैं ।[3]

'भावक' का महान् गुण सहानुभूति एवं समानुभूति है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त 'सहृदय' शब्द इसी तथ्य का बोधक है । 'सहृदयता'-विहीन आलोचक उसी प्रकार है जिस प्रकार सरस्वतीविहीन संगम । 'सहृदयता' आलोचक को 'मत्सरी' होने से वचाती है । मात्सर्य-रहित और गुणज्ञ आलोचक विरले ही मिलते हैं ।[4]

साहित्य अखण्ड चेतना की अभिव्यक्ति है । इसको परखनेवाली दृष्टि को नीर-क्षीर-विवेकी होना चाहिए । वास्तव में वही कृति उच्चकोटि की है जिसमें इस अखण्ड चेतना

---

१. 'चतुर्धा' इति यायावरीय : मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च ।

—काव्यमीमांसा, पृ० ३३ ।

२. स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च ।
कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः ॥ —काव्यमीमांसा, पृ० ३५ ।

३. गुणादानपरः कश्चिद्दोषादानपरो परः ।
गुण-दोषहृतित्यागपरः कश्चन भावकः ॥ —वही, पृ० ३५ ।

४. स पुनरमत्सरी ज्ञाता च विरलः ।—काव्यमीमांसा, पृ० ३४ ।

की अभिव्यक्ति हो। उच्चकोटि की कृतियों के अध्ययन के लिए आलोचक को विश्व के उच्चकोटि की साहित्यिक कृतियों का अध्ययन करना आवश्यक है। उसे बहुभाषाविद् एवं बहुज्ञानविद् होना चाहिए और साथ में अभ्यास करना भी आवश्यक है। काव्य को विविध दृष्टियों से परखना, मूल्यों को पहचानना, काव्यानुभूति से उद्बुद्ध प्रतिक्रिया को स्पष्ट एवं व्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्त करने में अभ्यास का भी योगदान रहता है।

पाश्चात्य विचारकों ने काव्य को सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से ही विशेष रूप से परखा है। वहाँ सौन्दर्यानुभूति को क्षमता एवं उत्कृष्ट संवेदनशीलता आलोचक की विशेषता के प्रथम सोपान माने गये हैं। वाल्टर पेटर की दृष्टि में आलोचक वही है जो कलाकार के गुणों को हृदयंगम करके उनका विवेचन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दे।[1] आलोचक अपनी काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से करता है। इस शैली का स्वरूप सुस्पष्ट, आकर्षक एवं आलोच्य विषय के अनुकूल होना चाहिए।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के सम्पूर्ण समीक्षक व्यक्तित्व पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समीक्षक व्यक्तित्व के निर्माण में किन-किन तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का अधिक योग रहा है। हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल के अध्ययन की रुचि पहले से ही उनमें थी। लाला भगवानदीन 'दीन' के सम्पर्क में आने पर सम्पादन, टीकाकार्य, बिहारी के प्रति विशेष रुचि, अलंकार भावना एवं रीतिकाल से सम्बद्ध दृष्टि मिली। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से साहित्येतिहासलेखन एवं नई आलोचना की दृष्टि मिली। अध्ययन एवं परिश्रम से संस्कृत काव्यशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन की क्षमता उन्होंने प्राप्त की। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा से उनको प्रौढ़ दृष्टि तो प्राप्त हुई ही, वे राजशेखर से विशेषरूप से प्रभावित हुए।

ये सर्वप्रथम सन् १९२१ ई० में लालाजी के सम्पर्क में आये। उनके साथ इनका सर्वप्रथम साहित्यिक कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का संपादन था, जो सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुआ। 'ज्ञान की अर्गला खोल, प्रोत्साहन की वर्तिका, आशीर्वाद के स्नेह (तैल) से उपदेशामृत के प्रदीप को दीप्त कर लेने वाले, गोविन्द से भी अग्रपूज्य गुरु लाला भगवानदीनजी 'दीन' से मिश्रजी का यह प्रथम परिचय किंवा उर्वरा मही में पृथक् बीजारोपण था।[2] 'दीन'जी के साथ विभिन्न साहित्यिक सम्मेलनों में योग देने से उनकी साहित्यिक प्रतिभा में उत्तरोत्तर विकास होता गया। सन् १९२६ ई० में ही उन्होंने लालाजीकृत 'दोहावली' की टीका की भूमिका लिखी। उनकी प्रेरणा से ही आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की एवं साहित्य सम्मेलन की परीक्षाएँ दीं।

---

१. देखिए—आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त—डॉ० एस० पी० खत्री, पृ० ३८८।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पाण्डेय, पृ० १४।

अपने प्रथम साहित्यिक संस्कार के निर्माता गुरु लाला भगवान दीनजी के प्रति उनकी धारणा है कि दीनजी काव्य-रचना में रीतिकाल के पूरे प्रतिनिधि थे, पर रहन-सहन में भक्तिकाल के प्रतिनिधि। आधुनिक युग का प्रभाव उन पर कुछ भी नहीं पड़ा था।[1] सन् १९२१ से सन् १९२८ ई० तक वे एकमात्र उन्हीं को साहित्यिक आदर्श मानते रहे। दीनजी ने मध्यकालीन काव्य में उनका सम्यक् प्रवेश कराया, उसके प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न की। काव्य का अर्थ समझने-समझाने की क्षमता, काव्यशास्त्रीय परम्परा के निर्वाह के प्रति आग्रह, प्राचीन ग्रंथों के संपादन, प्रकाशन के प्रति कर्तव्य-बोध, टीका, भाष्य के प्रति झुकाव, निर्भीक, दबंग समीक्षा का साहस तथा परम्परा-अवांछित नवीनता का विरोध आदि प्रवृत्तियाँ मिश्रजी को दीनजी से मिलीं।[2] मिश्रजी का कहना है कि 'मेरे गुरुदेव लाला भगवानदीनजी कहा करते थे कि जिसे इस युग के रीतिकाव्य का ज्ञान नहीं, वह हिन्दी के साहित्य का साहित्यज्ञ नहीं।'[3]

उन्होंने संकल्प लिया था कि 'जिन कार्यों को पूर्वज गुरुजन करते रहे हैं, उनकी पूरकता यथासाध्य मेरे द्वारा होती रहे और यदि अवसर मिले तो उनके किए कार्य का उपबृंहण भी करूँ।'[4] दीनजी ने 'रामचन्द्रचन्द्रिका' की टीका 'केशव कौमुदी' के नाम से और 'कविप्रिया' की 'प्रियाप्रकाश' के नाम से की, पर 'रसिकप्रिया' की टीका योजनाबद्ध होकर भी रह गयी। इसकी टीका मिश्रजी ने 'प्रियाप्रसाद तिलक' के नाम से की। दीनजी ने विहारी के प्रति प्रेम-भावना दी, शुक्लजी की भावुक प्रवृत्ति ने उन्हें घनआनन्द के प्रति भावुक बनाया।[5] शुक्लजी की घनआनन्द पर कार्य करने की इच्छा थी, पर उसकी पूर्ति मिश्रजी द्वारा हुई। लालाजी में शास्त्रीय पाण्डित्य एवं गूढ़ अर्थ-मीमांसा की प्रतिभा थी एवं आचार्य शुक्ल में साहित्यालोचन से सम्बद्ध मौलिक मनीषा।[6] मिश्रजी ने इन दोनों प्रतिभाओं के समन्वित रूप को ग्रहण किया। उन पर परम्परा-पालन का दोष लगाया जाता है। उन्होंने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि परम्परापालन से दोष भी होते हैं, पर परम्परा का पालन करनेवाला अपने रूप की रक्षा भी करता है। वह प्रवाह में बह नहीं जाता, हवा में उड़ता नहीं, यह भी

---

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ८२।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ (सं० सन्दर्भ), पृ० ५२–५३।
३. हिन्दी साहित्य का अतीत (द्वि० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ६५१।
४. गोसाईं तुलसीदास—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पुरोवाक्, पृ० ६।
५. हिन्दी के आलोचक—संपादिका शचीरानी गुर्टू (देखिये, ठाकुरप्रसाद सिंह का निबन्ध।
६. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ, सं० सन्दर्भ, पृ० २६।

सत्य है।[१] "इनमें एक विशिष्ट एवं स्पष्ट तलस्पर्शी पाण्डित्य है।....केवल रीतिकालीन एवं रीति परम्परा के कवियों की साहित्यिक निधि के प्रामाणिक ज्ञाता और व्याख्याता ही नहीं हैं, साथ ही मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की समस्त शाखाओं के प्रौढ़ पाण्डित्य से सम्पन्न हैं। ....नीरस-शास्त्र पण्डित और एकान्त अध्येता ही नहीं अपितु अत्यन्त स्नेहशील, हँसमुख, विनोदी, परिहासप्रिय, सरस और बातचीत के कुशल संचालक हैं।"[२]

मध्यकालीन ग्रन्थों के पाठालोचन एवं पाठसंपादन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण यश प्राप्त किया। दीनजी एवं शुक्लजी से पाठनिर्धारण की जो पद्धति प्राप्त की उसे 'साहित्यिक' पद्धति कहा। इसमें व्याकरण, छन्द, साहित्य-परम्परा आदि की दृष्टि से अशुद्ध अथवा सदोष या खण्डित पाठ को पूर्ण कर देने की संपादकी सदाशयता के कारण संपादक परिवर्तन, परिवर्द्धन कर देता है। अपने जीवन की आरम्भिक संपादित पुस्तक से लेकर 'मानस' के काशिराज संस्करण तक की यात्रा इस शक्ति के निरन्तन विकास की सूचिका है। इसके अनन्तर भी इस क्षेत्र में उनकी यात्रा अपने पूर्ण वैभव के साथ गतिशील है। इस अतिशय परिश्रमसाध्य एवं नीरस किन्तु आधारभूत कार्य में जिस लगन एवं विवेक के साथ वे संलग्न रहे हैं उसके कारण अपने गुरुओं से ही नहीं, अपने समकालीनों से भी इस दिशा में कहीं वे आगे निकल गए हैं।[3] इस प्रकार उन्होंने दीनजी के कविता के प्रति स्नेह और समादर को तथा आचार्य शुक्ल की सौम्यता और गम्भीर विश्लेषणात्मक सैद्धान्तिक समीक्षा-पद्धति को आधुनिक ढंग से गृहीत किया।[४]

सन् १९२८ ई० में मिश्रजी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्पर्क में आये। शुक्लजी का उन पर गहरा प्रभाव है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि शुक्लजी उनके साहित्यिक संस्कारों के सशोधक भर हैं, निर्माता नहीं।[५] आधुनिक साहित्य के प्रति शुक्लजी का निर्णय उनके लिए लगभग अन्तिम था। उनका कहना है कि उन्होंने अपनी स्थापनाओं में जो पकड़ अपनाई. वह अपरिवर्तनीय है। वे पहाड़ की ऐसी चट्टान थे, जिस पर आघातों का प्रभाव नहीं पड़ता या युगों के प्रहार भी जिस पर अल्प प्रभाव डाल पाते हैं।[६] काव्य में लोकमंगल का आग्रह, ऐतिहासिक परिवेश में कृति की प्रतिष्ठा,

---

१. विहारी—आचार्य मिश्र, पृ० ९७।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ, संस्मरण सन्दर्भ, पृ० २६–२७।
३. वही (सं० सन्दर्भ), पृ० ६१।
४. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—'यात्री' साप्ताहिक 'आज', १९५७ ई०।
५. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ, सं० सन्दर्भ, पृ० ५३।
६. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० १२०।

साहित्येतिहास संशोधन, प्राचीन समीक्षा-सिद्धान्तों का अभिनवीकरण, पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों में से अनकूल का समन्वय प्रतिकूल का विरोध, व्यावहारिक विश्लेषणात्मक समीक्षा-प्रणाली आदि साहित्यिक क्षेत्र में शुक्लजी के मतों से साम्य हैं।

जिस प्रकार आचार्य शुक्ल के सैद्धांतिक-आदर्श के अनुकूल तुलसीदास पड़े और उन्होंने उनको अधिक महत्त्व दिया एवं उनकी कतिपय कृतियों का सम्पादन भी किया, उसी प्रकार इन्होंने भी। इस क्षेत्र में उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य सन् १९६२ ई० में 'रामचरितमानस' का सम्पादन है, जिसके पाठ अत्यन्त शुद्ध एवं प्रामाणिक हैं।

मिश्र जी की समीक्षात्मक दृष्टि का स्वतन्त्र रूप में भी विकास हुआ। जहाँ शुक्ल जी की दृष्टि भारतीय सिद्धान्तों को मनोविज्ञान की दृष्टि से गृहीत करने की ओर रही वहीं उनकी दृष्टि भारतीय साहित्य-दर्शन की तात्त्विक उपलब्धियों की ओर रही। दार्शनिक पक्ष से सम्बद्ध दोनों के विचारों में भी भिन्नता है। भ्रमरगीतसार की भूमिका में शुक्ल जो गोपियों के वियोग को बैठे बिठाए का प्रलाप मानते हैं। थोड़ी दूर पर स्थित कृष्ण का न आना उनकी दृष्टि में प्रपंच है। परन्तु मिश्र जी उनके विरह को बौद्धिक या मर्यादा की दृष्टि से तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उचित मानते हैं। थोड़ी दूर पर स्थित कृष्ण का गोपियों के पास न आ सकना राजकीय मर्यादा का पालन और आध्यात्मिक भूमिका पर आत्मा के विरह-ताप को प्रतिपादित करने वाला है। शुक्ल जी का भक्ति से सम्बद्ध विचार जहाँ उनकी व्यक्तिगत रुचि पर आधृत है, वहाँ मिश्र जी का विचार उनके महान् आस्तिक और भक्त हृदय के व्यावहारिक ज्ञान से प्रोज्ज्वल है, इसी से यहाँ शास्त्र-सम्मत भक्ति की व्याख्या भी उपलब्ध है।

शुक्ल जी ने काव्य में लोकमंगल की कामना की। मिश्र जी की मान्यता आदर्श-वादी एवं भावुकतापूर्ण है। वे भी शुक्ल जी के लक्ष्य पर ही पहुँचते हैं। उनका कहना है कि 'काव्य का लक्ष्य या प्रयोजन क्या है? यही न कि रसानुभूति के द्वारा चित्त विश्रान्त हो और रसानुभव कर्त्ता सामाजिक का जीवन मंगलमय हो, अपने लिए भी और समाज के लिए भी।'[1] समीक्षा के मानदण्ड प्रायः उनके वही रहे हैं जो शुक्ल जी के। उनका आग्रह रहा है कि हिन्दी के आलोचक रस-सिद्धान्त का समुचित विकास कर उसके आधार पर अपना नया आलोचनाशास्त्र गढ़ें तो उचित है। उन्होंने खेद प्रकट किया है कि पश्चिमी आलोचना का पदानुसरण करने का फल यह है कि यहाँ नया आलोचनाशास्त्र नहीं बन रहा है।[2] मिश्र जी भी शुक्ल जी की भाँति मुख्यतः काव्य-समीक्षक ही हैं।

---

१. गोसाईं तुलसीदास—आचार्य मिश्र, पृ० ५६।
२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १४३।

साहित्येतिहासलेखन-सम्बन्धी उनके कार्य अधिकांशतः शुक्ल जी से साम्य रखते हैं, पर शुक्ल जी से उनकी दृष्टि अधिक उदार है। जिस प्रकार शुक्ल जी ने नाथों, सिद्धों तथा निर्गुणियों की अधिकांश बानियों को साहित्य में स्थान नहीं दिया, उसी प्रकार उन्होंने भी असामाजिक कहकर उनका त्याग किया। हिन्दी-साहित्य के नामकरण में साम्य-वैषम्य दोनों दिखायी पड़ता है। उन्होंने नामकरण रसदृष्टि अर्थात् आभ्यंतर प्रवृत्ति की दृष्टि से किया है। शुक्ल जी के 'वीरगाथा काल' के स्थान पर उन्होंने इसी दृष्टि से 'वीररसकाल' या 'वीरकाल' नाम दिया।

हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल को शुक्ल जी ने 'रीतिकाल' कहा, पर वे स्वयं इस नामकरण से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली, उनका उप-विभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किये बिना विभाग कैसे किया जा सकता है।'[1] उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि 'बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर आगे चलकर शायद कोई विभाग का आधार मिल जाए....।'[2] उन्होंने सुझाव दिया था कि वास्तव में श्रृंगार और वीर रसों की कविता ही इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृङ्गारकाल कहे तो कह सकता है।[3] मिश्र जी ने ठोस प्रामाणिक आधारों पर शुक्ल जी द्वारा व्यक्त इन सम्भावनाओं की पूर्ति की।

मध्यकालीन साहित्य के विवेचन में शुक्ल जी ने केशवदास के महान् पाण्डित्य को खण्ड-खण्ड कर दिया, पर मिश्र जी ने अपना निर्णय दिया कि 'महाकवि केशवदास ... का प्रयास हिन्दी के मध्यकाल में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।'[4] देव द्वारा लिखित निम्नलिखित दोहे की व्याख्या आलोचकों ने अपने ढंग से की है—

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लच्छनालीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन॥

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में कहा कि 'देव जी का यहाँ व्यंजना से तात्पर्य पहेली-बुझौवल वाली 'वस्तुव्यंजना' का ही जान पड़ता है।' उन्होंने २४वें हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के सभापति पद से भाषण करते हुए देव के इसी छोटे दोहे को ध्यान में रखकर कहा—इससे स्पष्ट होता है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है व्यंग्यार्थ

१,२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, सं० २००३ वि०, वक्तव्य।

३. वही।

४. केशव-ग्रंथावली—सं० आचार्य मिश्र, पृ० ३४।

या लक्ष्यार्थ नहीं। हिन्दी के पुराने कवि देव ने शायद यही समझकर काव्य में केवल वाच्यार्थ माना था। मिश्र जी ने देव का यह दोहा नायिकाभेद के प्रसग का वताया है।[१] उनका कहना है कि शुक्ल जी की देखा-देखी देव के मूल पर विचार न करने से इस दोहे को लेकर वहुत भ्रम फैला।

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के आचार्यों में वे विशेषरूप से राजशेखर के निकट जान पड़ते हैं। राजशेखर के सूत्र 'अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा'[२] की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'भाष्य का अर्थ है व्याख्या'। व्याख्या ऐसी होनी चाहिए कि उसमें अवान्तरार्थ का विच्छेद भी हो। भीतरी व्याख्या भी हो, गहरी छानवीन भी हो, उसमें हट-बढ़कर इधर-उधर भटका न जाए तभी कोई विचार समीक्षा है।[३] उनकी कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं।

उन्होंने गवेषणामूलक साहित्येतिहासलेखन, साहित्येतिहासकार की वैयक्तिक एवं सामाजिक पीठिका के परिप्रेक्ष्य में उसके साहित्य का विवेचन, प्राचीन ग्रंथों के पाठा-लोचन आदि में पश्चिमी उपकरणों की सहायता ली। 'पश्चिमी उपकरण उन्हें स्वीकार हैं, पर पश्चिमीकरण नहीं।'[४] वे पाश्चात्य काव्यशास्त्र के मानदण्डों को कम स्वीकृति देते हुए उसके सिद्धान्तों की आयातित शब्दावली और नारों से अपनी समीक्षा-दृष्टि को आवद्ध-आक्रांत नहीं होने देना चाहते। वे तो भारतीय समीक्षा का नवीनीकरण ही चाहते हैं।[५] पश्चिमी आलोचना के इस विचार से उन्होंने सहमति प्रकट की है कि निर्माण को देखो निर्माता को नहीं। साहित्य की दृष्टि निर्माता-विधाता की ओर नहीं होती। ज्ञानवाङ्मय को पराजय का भय रहता है, शक्तिवाङ्मय को नहीं।[६] पाश्चात्य प्रभाव से साहित्य में वढ़ रहे विभिन्न राजनीतिक प्रभावों से साहित्य को दूर रखने पर उन्होंने वल दिया है। "साहित्य में आज अनेक 'वाद' घुस गए हैं, घुस रहे हैं। इनसे साहित्य की रक्षा करनी होगी।....साहित्य भावयोग है और मन से निकलकर मन को ही प्रभावित करने वाला है।"[७]

इस प्रकार उनकी उन उपलब्धियों का विवेचन किया गया जो भारतीय, पाश्चात्य एवं विभिन्न आचार्यों के मतों से प्रभावित होते हुए भी अपनी महत्तम उपलब्धियों के

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २)—आचार्य मिश्र,
पृ० १९० (त०-सं०—सं० १०३६)
२. काव्यमीमांसा—राजशेखर, पृ० १२।
३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १३५।
४,५. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रंथ, सं० संदर्भ, पृ० ५७, १२०।
६,७. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग १)—आचार्य मिश्र, पृ० २१, २५।

लिए विख्यात हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्यिक जीवन को देखने से स्पष्ट होता है कि उनमें कारयित्री एवं भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ हैं, पर वास्तविक निखार उनकी भावयित्री प्रतिभा में ही आया। उनकी समीक्षात्मक दृष्टि मुख्यरूप से अनुसन्धानात्मक एवं व्याख्यात्मक है। वे उन प्रसंगों में हस्तक्षेप ही नहीं करते ज' उनके मत के पूर्णतः विपरीत पड़ते हैं। इस प्रकार उनकी समीक्षा गुण-दोष से मुक्त व्याख्यात्मक है, चाहे वह रचना किसी भी प्रकार की हो। इसलिए उनको राजशेखर द्वारा बताये गये आलोचक के प्रकारों में 'तत्त्वाभिनिवेशी' के अधिक निकट माना जा सकता है।

भारतीय समीक्षात्मक-दृष्टि

आधुनिक काल का हिन्दी-साहित्य भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-सिद्धांतों से प्रभावित है। इसी प्रकार भारतीय समीक्षा भी प्रभावित हुई, पर इसके मूल में भारतीय समीक्षात्मक दृष्टि ही रही। आधुनिकता के नाम पर हिन्दी-समीक्षा में अनेक साहित्यिक मत जोड़े गये, जो हिन्दी-समीक्षा में एक प्रकार की समस्या के रूप में सामने आये। इस विषमता और वैविध्य के अतिरिक्त कतिपय ऐसे प्रातिभ भी हिन्दी-साहित्य-जगत् में सामने आये जिन्होंने इस वैविध्यपूर्ण स्थिति में भी सामंजस्य और संतुलन बनाये रखा। आचार्य मिश्र ऐसे ही विवेचकों में हैं। इनका 'वाङ्मय-विमर्श' शास्त्र के आलोड़न, काव्य के अनुशीलन, इतिहास के संवर्धन में लगने वालों को हिन्दी के परम्परागत स्वरूप का आभास देने और भारतीय एवं अभारतीय प्रवृत्तियों की रूप-रेखा उनके समक्ष प्रस्तुत करने के लक्ष्य से प्रेरित होने का परिणाम है।

'वाङ्मय' और 'साहित्य' दो शब्द आरम्भ से ही समानार्थक रूप में प्रचलित हैं। हिन्दी में प्रयुक्त 'साहित्य' शब्द ही मराठी में 'वाङ्मय' के नाम से अभिहित होता है। निर्गुण-निराकार सार्थक वाणी का सगुण-साकार रूप में संकलित होने को ही उन्होंने 'वाङ्मय' कहा है।[1] उनको वाङ्मय के द्विविधरूप मान्य हैं जिसे पाश्चात्य विद्वान् डीक्वेंसी ने 'ज्ञान वाङ्मय' (लिटरेचर ऑव् नालेज) तथा 'शक्ति वाङ्मय' (लिटरेचर ऑव् पावर) कहा है। उनका क्रमशः सम्बन्ध तर्क या ज्ञान या बुद्धि या मस्तिष्क से तथा राग या भाव अथवा हृदय या मन से है।[2] पहले का कार्य है उपदेश, शिक्षा या ज्ञान और दूसरे का संवेदन, आंतर स्पन्दन, तल्लीनता।[3] इसी का विवेचन भारतीय आचार्यों के यहाँ क्रमशः 'शास्त्र' और 'काव्य' नाम से हुआ।[4] 'काव्य' और

१,२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० क (प्रवेशक)।
३. हिन्दी-साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ३।
४. वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। —काव्यमीमांसा, पृ० ६।

'शास्त्र' इन्हीं दीनों के योग को 'साहित्य' कहा है।[1] वेद जिसमें शब्द की प्रधानता हैं, पुराण जिसमें अर्थ की, काव्य जिसमें शब्द-अर्थ के सहभाव की और शास्त्र जिसमें किसी विषय की विस्तार-सीमा का शासन, विचार-विवेचन होता है, इन सभी को वे वाङ्मय के अन्तर्गत मानते हैं।[2] अत: वाङ्मय शब्द का व्यवहार शुद्ध साहित्य अर्थात् उसके काव्य एवं शास्त्र-पक्ष, इतिहास, भाषा और लिपि सबके लिए किया गया है।[3] इस प्रकार उन्होंने अपने सम्पूर्ण 'साहित्य' का विवेचन अपने 'वाङ्मय-विमर्श' में किया है, जैसा कि इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट होता है।

परम्परागत रूप से उन्होंने भी काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु आदि पर विचार कृति, कर्ता और ग्रहीता (पाठक, श्रोता या दर्शक) इन तीनों पक्षों को दृष्टिगत करके किया है। भारतीय काव्यशास्त्र में प्रचलित विविध सम्प्रदायों पर भी विचार किया है। कालक्रमानुसार श्यामानन्द शास्त्री ने हिन्दी-काव्यशास्त्रियों की परम्परा में उनको भी स्थान दिया है तथा इस परम्परा का अन्तिम आचार्य भी माना है।[4] डॉ० कृष्ण-लाल 'हंस' ने भी हिन्दी-काव्यशास्त्रियों में उनको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

काव्य के स्वरूप या लक्षण का निर्धारण दो दृष्टियों से किया जाता रहा—बाह्य-निरूपक एवं आभ्यन्तर-निरूपक। बाह्य या वर्णनात्मक लक्षण में काव्य के केवल बाहरी रूप का और उसके अवयवों के संघटन का उल्लेख रहता है। आभ्यन्तर या सूत्रात्मक में काव्य के आभ्यन्तर में पायी जाने वाली विशेषता को लक्षित करने का प्रयास किया जाता है। यदि रचना दोष-रहित, गुण-सहित और अलंकार से प्राय: युक्त हो तो वह 'काव्य' है। ऐसे काव्य के तत्त्व मात्र का ही बोध होता है। काव्य में शब्द और अर्थ की योजना को दृष्टि में रखकर शब्द और अर्थ के सद्भाव को काव्य कहना उसी प्रकार है जैसे यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें नाक, कान, मुँह, हाथ तथा प्राण साथ-साथ रहते हैं।[5] वे इन सभी को काव्य का स्थूल लक्षण मानते हैं। साहित्यदर्पणकार ने रसमय वाक्य को काव्य कहा है। 'रसमय' तत्त्व काव्य के भीतरी रूप का बोधक है। मिश्र जी काव्य के उभय पक्षों को दृष्टिगत कर काव्य के उद्देश्य के परिवेश में काव्य का लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। काव्य के भावों में लीन होने से या उसके द्वारा रंजित होने से हृदय की वृत्तियों का व्यायाम होता है, वे परिष्कृत होती हैं। अत: काव्य का चरम लक्ष्य मनोवृत्तियों का परिशोधन है।[6] 'रंजन' सुखात्मक और

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, (क–ख)।
२. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० १।
३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ख।
४. काव्यशास्त्र की रूपरेखा—श्यामनन्दन शास्त्री, पृष्ठ ६३।
५,६. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृष्ठ १, २।

दुःखात्मक दोनों अनुभूतियों का होता है। काव्य की प्रक्रिया कृति, कर्ता और ग्रहीता के मध्य पूर्ण होती है। इस प्रक्रिया को पूर्ण बनाने के लिए कवि और ग्रहीता का 'सहृदय' होना आवश्यक है।

'सहृदय' में विशेष प्रकार भावों को ग्रहण करने की क्षमता होती है। वे साहित्य के स्वरूप-निर्धारण में आचार्य शुक्ल के निकट जान पड़ते हैं। उन्होंने साहित्य को साधना माना है और उस साधना को भावयोग कहा है। उनकी दृष्टि में काव्य साधना अवश्य है पर उसका साध्य भी है। वह साध्य है जगत् के साथ मानव के भावात्मक संबंध की स्थापना, उसका परिचालन, उसकी व्यवस्था।[1] यही साधना भावयोग है और मन से निकल कर मन को ही प्रभावित करनेवाली है।[2] मनोवृत्तियों का परिशोधन शुक्ल जी की हृदय की मुक्तावस्था है जिसे वे रसदशा कहते हैं। हृदय की वृत्तियों का परिष्कार होता है रस-मग्न होने से, मन के रमने से। अतः काव्य का स्वरूप ठहरता है भावों की योजना करके रसमग्न करनेवाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता। उसका चरम लक्ष्य ठहरता है, वृत्तियों का शोधन।[3] उनकी दृष्टि में काव्य या साहित्य को जो मनोरंजन का साधन मात्र मानते हैं वे अपनी हीनता का परिचय देते हैं।

उन्होंने काव्य के प्रयोजन पर विचार काव्य के कर्त्ता और ग्रहीता को दृष्टिगत करके किया है। कर्त्ता की दृष्टि से काव्य का प्रमुख प्रयोजन यश की प्राप्ति और गौण अर्थ की प्राप्ति माना है, और ग्रहीता की दृष्टि से आनंदानुभूति। पर काव्य का चरम लक्ष्य माना है रसानुभूति से चित्तविश्रांति एवं सामाजिक के जीवन का मंगलमय होना।

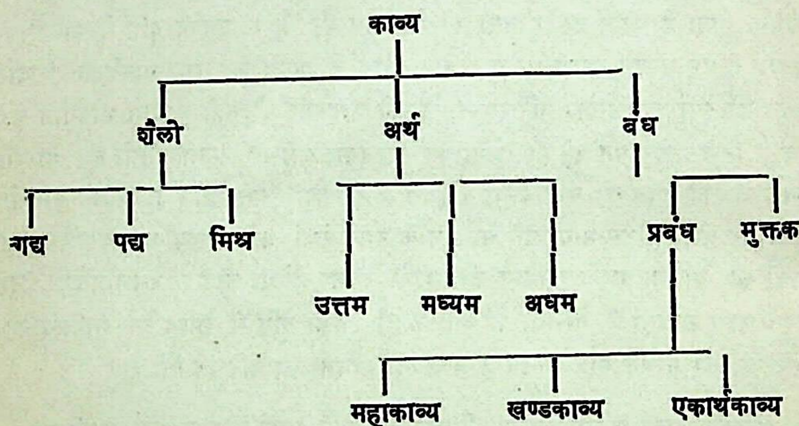
काव्य के हेतु के संबंध में उन्होंने संस्कृतशास्त्रों का आलोड़न करते हुए अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया है। परंपरागत उल्लिखित तीन हेतु—शक्ति, निपुणता और अभ्यास माने हैं।[4] और इनमें शक्ति को विशेष महत्त्व दिया है। यह शक्ति काव्य का मूल बीज है जो वृक्षाकार होकर फलती-फूलती है। यह शक्ति सहजा और उत्पाद्या दो प्रकार की होती है। उत्पाद्या में ही निपुणता और अभ्यास का अन्तर्भाव है। निपुणता के लिए लोक-निरीक्षण, शास्त्रानुशीलन और काव्य-परंपरा का अध्ययन आवश्यक है। निरीक्षण के लिए दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—'पहली निरीक्षित वस्तु के स्वरूप को हृदयंगम करने की शक्ति और दूसरी प्रत्येक परिस्थिति में अपने को डालकर उसकी अनुभूति कर सकने की क्षमता।[5] इनमें पहली में बुद्धि तत्त्व का योग होता है जो ज्ञान-प्रधान है, दूसरी में हृदय-तत्त्व का योग होता है जो भाव-प्रधान है।

१,२. हिंदी साहित्य का अतीत (प्र. भा.)—आचार्य मिश्र, पृ० ९।

३-५. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ३, ९, १०।

उन्होंने परंपरा से विमुख होकर काव्य-सर्जन को उचित नहीं कहा। इसी से उन्होंने शास्त्रानुशीलन के अन्तर्गत ही काव्य-परंपरा के अध्ययन को स्वीकार किया। काव्य में व्यवस्था अभ्यास द्वारा आती है। इस प्रकार काव्य-सर्जन में तीन हेतुओं का योग आवश्यक है।

लेखन-शैली, स्वरूप और रमणीयता की दृष्टि से काव्य के तीन भेद किये हैं।[1]



पद्य रचना में छंदों का विधान होता है। इसमें रचनाकार सामान्य भाषा और व्याकरण संबंधी स्वीकृत नियमों का उल्लंघन कर सकता है। गद्यशैली में व्याकरण के नियमानुसार वाक्यों का विन्यास होता है। संस्कृत में गद्य-पद्य की रचनाओं में केवल शैलीगत भेद है, पर हिन्दी में वर्ण्य-विषय का भी भेद है।[2] पद्य में कविता तथा गद्य में उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि लिखे जाते हैं। नाटकों में गद्य-पद्य दोनों शैलियाँ चलती हैं।

अर्थ या रमणीयता की दृष्टि से भी काव्य तीन प्रकार के हो सकते हैं—उत्तम या ध्वनिकाव्य, मध्यम या गुणीभूतव्यंग्यकाव्य, अधम काव्य (सामान्य या अलंकार काव्य)। प्रत्येक रचना का कोश-व्याकरणादिसम्मत जो अर्थ निकला करता है उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं। कभी-कभी मुख्यार्थ के अतिरिक्त उन्हीं शब्दों से दूसरा अर्थ भी प्रतीत होता है उसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। अतः व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य को उत्तम या ध्वनि काव्य कहते हैं। जिसमें मुख्यार्थ या व्यंग्यार्थ की समतुल्यता या व्यंग्यार्थ अप्रधान होता है, उसे मध्यम या गुणीभूत काव्य कहते हैं तथा जहाँ मुख्यार्थ की ही प्रधानता होती है उसे अधम काव्य कहते हैं। भारतीय रस सिद्धान्त को सींचनेवाले मिश्र जी ध्वनि-काव्य को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

१,२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ९, ६–७।

काव्य के स्वरूप या प्रवाह की दृष्टि से उन्होंने दो प्रवाह बतलाये—पहला चारुत्व-प्रवाह, जिसका सम्बन्ध श्रव्यकाव्य से है और दूसरा अनुभूतिप्रवाह, जिसका सम्बन्ध दृश्यकाव्य से है। जिस काव्य में कोई कथा क्रमबद्ध कही जाती है वह 'प्रबंध काव्य' कहलाता है। जिसमें कोई विशेष कथा नहीं होती और वह स्वच्छन्द रूप से किसी पद्य या गद्य-खण्ड के द्वारा कोई रसभाव या तथ्य को व्यक्त करती है उसे 'निर्बन्ध' या 'मुक्त' कहते हैं। महाकाव्य में पूर्ण जीवनवृत्त-विस्तार के साथ वर्णित होता है। 'खण्डकाव्य' में खण्डजीवन महाकाव्यानुरूप वर्णित होता है। 'एकार्थकाव्य' महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की रचना होती है। इसमें जीवन के किसी एक पक्ष का विस्तार मिलता है। इसे केवल 'काव्य' भी कहा जा सकता है। उन्होंने साहित्यदर्पणकार के इस सम्बन्ध में दिये गये लक्षण[1] के 'एकार्थ' शब्द को लेकर हिन्दी में भी 'एकार्थकाव्य' की कल्पना की है, जो हिन्दी साहित्य को उनकी देन है। उन्होंने इसी कसौटी पर कसकर हिन्दी के प्रियप्रवास, साकेत, वैदेही वनवास, कामायनी आदि को एकार्थकाव्य की श्रेणी में रखा। उनकी इस अवधारणा के आधार पर डॉ० रामअवध द्विवेदी ने प्रियप्रवास और साकेत को एकार्थकाव्य की श्रेणी में रखा है।

साहित्य के क्षेत्र में पद्य का प्रचलन गद्य से पहले हुआ। हिन्दी के वर्तमान गद्य-युग में कविता पद्य के प्राचीन साँचे में न ढलकर अंग्रेजी लय वाले साँचे में ढलती जा रही है। अंग्रेजी साहित्य का प्रवाह बंगाल की खाड़ी तक पहुँचा, जिसकी लहर ने हिन्दी-क्षेत्र को भी प्रभावित किया। नवीनधारा के जो कवि छन्द का बन्ध स्वीकार नहीं करते उनके सम्बन्ध में उनका कहना है कि जब वे अपनी कविता को संगीत-तत्त्व से पूर्ण मानते हैं, तो क्या लय या ध्वनि का अनुगमन पराधीनता नहीं है।[2] वे नयी मान्यताओं को स्वीकार करते हैं पर परम्परा से विमुख होकर नहीं।

भारतीय मान्यताओं से पूर्णरूपेण प्रभावित होते भी उन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के उच्चकोटि के विचारों का भी स्वागत किया है। उनका मत है कि "जहाँ कविता में आवश्यक संगीततत्त्व का पर्याप्त परिमाण में नियोजन हुआ नहीं वहाँ की रचना का अनुधावन करके अपनी वह परस्परा निष्प्रयोजन तोड़ने का दुःसाहस करना जिसमें बहुत प्राचीन काल से संगीत का उचित और सच्चा विधान होता चला आ रहा हो, समझदारी की बात नहीं है।"[3] उन्होंने पद्य की विशेष महत्ता का कारण उसके कंठस्थ करने की सुगमता और माधुर्य या संगीततत्त्व को स्वीकार किया है।

---

१. भाषाविभाषानियमात् काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्॥—साहित्यदर्पण, ६।३२८।

२,३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २०, २१।

उन्होंने महाकाव्य का विवेचन उसके संघटन एवं वर्ण्य-विषय की दृष्टि से किया है। भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यताओं को स्वीकृति देते हुए उन्होंने महाकाव्य में 'सर्ग' के विभाग का लक्ष्य कथा को सुभीते के अनुसार विभाजित करके उसका नियोजन करना माना है न कि संख्या निश्चित करना।[1] उन्होंने साधारणीकरण के लिए महाकाव्य की कथा को मुख्यतः प्रख्यात होना स्वीकार किया है, कल्पित नहीं।[2] यदि कथा के पात्र ऐतिहासिक या पौराणिक होते हैं तो उनके स्वरूप की पाठक में स्थूल धारणा पहले से ही विद्यमान रहती है। कवि उनका व्यवस्थित रूप भर दर्शाता है। इसी से उन्होंने आधुनिक परिवेश में महाकाव्य या कविता में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा को स्वीकार किया है, यथातथ्यवाद की प्रतिष्ठा को नहीं।[3] उन्होंने महाकाव्य की सर्वगुणसम्पन्नता की दृष्टि से 'रामचरितमानस' को महाकाव्य कहे जाने का अधिकारी माना और अपने इस विवेचन में इसे ही महाकाव्य का आदर्श मानकर अन्य ग्रंथों का विवेचन किया है।

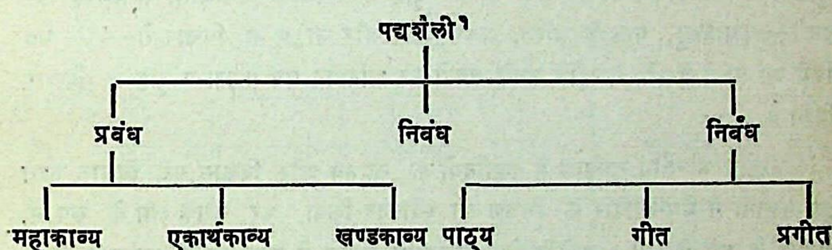
एकार्थकाव्य पाँचों सन्धियों से युक्त नहीं होता, उसमें पूर्ण जीवनवृत्त तो ग्रहण किया जाता है, पर महाकाव्य जैसा उनका विकास नहीं होता। इसमें जीवन का कोई एक पक्ष विस्तार पाता है। मुक्तकरचना के दो प्रवाहों का उन्होंने उल्लेख किया है—एक लौकिक और दूसरा अलौकिक।[4] 'लौकिक गीत साहित्य-शास्त्रीय विधान से स्वच्छन्द होकर भावों को व्यक्त करने में प्रवृत्त दिखाई देते हैं जिन्हें नागर लोग 'ग्राम्यगीत' कहते हैं। साहित्य की रूढ़ियों के अनुकूल जो कवियों द्वारा निर्मित हुए हैं वे साहित्यिक गीत हैं।'[5]

आचार्य मिश्र ने गीत या प्रगीत का अन्तर स्पष्ट करने के लिए पाश्चात्य काव्य के विभाजन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, क्योंकि हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य प्रभाव से ही प्रगीतों का प्रचलन हुआ। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में कविता के दो प्रकारों का उल्लेख है—वाह्यार्थनिरूपक (आब्जेक्टिव) और दूसरा स्वानुभूति-व्यंजक (सब्जेक्टिव)। पहले प्रकार में कवि तटस्थ रहता है, पर दूसरे की रचना में कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशन होता है। प्रगीतों में इसी स्वानुभूति की व्यंजना रहती है। पर वे इस विभाजन को निर्मूल बताते हैं। उनका कहना है कि बाह्यार्थनिरूपक रचनाओं में भी स्वानुभूति का योग होता है, तभी तो एक ही चरित पर लिखे गये 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रचन्द्रिका' और 'साकेत' में इतना भेद है।

पश्चिम में कविता को 'कला' के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। कला में स्वानुभूति की ही प्रधानता होती है। इसी दृष्टि से कविता का वहाँ विभाजन भी किया गया है।

१-५. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृष्ठ २३, २५, २६, ३२, ३२।

कलाकृति सौन्दर्यमूलक होती है और कविता रसानुभूति उत्पन्न करनेवाली। भारतीय-वाङ्मय में कविता चौसठ कलाओं के अन्तर्गत नहीं आती। प्रवन्ध के विपर्यास में प्रकीर्ण या मुक्तक नाम उन्होंने दिया है। प्राचीन कवि ऐसी फुटकल रचनाओं को 'कवित्त' कहा करते थे। कवित्त मुख्यतः घनाक्षरी के लिए प्रयुक्त होता है, पर 'कवित्तावली' में सवैया, छप्पय, झूलना आदि छन्द भी हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 'कवित्त' शब्द और व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा था। इस प्रकार गीत और प्रगीत का बाहरी स्वरूप एक सा दिखाई देता है, किन्तु दोनों की व्यंजना-प्रणालो में स्वरूप-भेद है। पद्य शैली के अन्तर्गत जिन रचनाओं का परिगणन हुआ उनका वृक्ष उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—



आधुनिक युग में कुछ ऐसी रचनाएँ होने लगी हैं जो कहीं तो कुछ कथा का सहारा लेकर चलती हैं और कहीं कुछ वर्ण्य विषय की वर्णना करती हैं। ऐसी कथावद्ध रचनाओं को उन्होंने काव्य-निबन्ध कहा है।[2] जो प्रवन्ध जैसे विस्तार का नहीं संकोच का द्योतक है।

हिन्दी के आधुनिक काल को 'गद्य-युग' ही कहा गया। उपन्यास, निबन्ध, कहानी आदि गद्य की सरल शैली में इसका विशेष परिष्कार हुआ। नाटकों का स्वरूप भी अधिकांश गद्यमय हो गया। आचार्य मिश्र ने मनुष्य की दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है—एक कुतूहलवृत्ति जिसकी प्रधानता उपन्यास में होती है और दूसरी भाववृत्ति या रमणवृत्ति जो मुख्यरूप से कविता में पायी जाती है। उन्होंने इसी आधार पर कथाकृति और कविता में अन्तर दर्शाया है। उन्होंने कथाकृति की परम्परा का प्राचीन संकेतक संस्कृत में दण्डी के 'दशकुमारचरित' को बताया है। आधुनिक युग के उपन्यासों के विषय में विचार करते हुए उन्होंने संस्कृत की कथाकृतियों का लक्ष्य रस माना और आधुनिक उपन्यासों का साध्य शीलवैचित्र्य।[3] हिन्दी साहित्य के आदिकाल में उपन्यासों से सादृश्य रखनेवाली कथाएँ पद्य में लिखी गयीं। इसका कारण गद्य का

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २२, २१, ३९।

साहित्य में प्रचलित न होना और उसका निखरा रूप न उपलब्ध होना बताया। अतः हिन्दी में नए उपन्यासों का प्रचलन अधिकांशतः अंग्रेजी और बंगला के उपन्यासों की प्रेरणा से हुआ।

हिन्दी के आरम्भिक युग में कथाकृतियों की शाखा में घटना-वैचित्र्य पर अधिक ध्यान दिया गया। इस पद्धति में भारतीयता के प्राचीन रूप-रंग की भी झलक मिलती है। मिश्रजी ने हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों को चाहे वे साहित्यिक हों या असाहित्यिक, आधुनिकवादों एवं विकृतियों से युक्त अपने क्षेत्र में अर्थ उच्च बताया है। आधुनिक हिन्दी उपन्यासों की समृद्धि के साथ उन्होंने इनके वर्ण्य-विषय के परिमित क्षेत्र और त्रुटियों का भी उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में उपलब्ध उपन्यासों के आधार पर इनके—कथावस्तु, पात्र के शील, कथन शैली और उद्दिष्ट के विचार से—चार भेद किये जा सकते हैं।[1] उन्होंने उनके तत्त्वों पर भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि से विचार किया है।

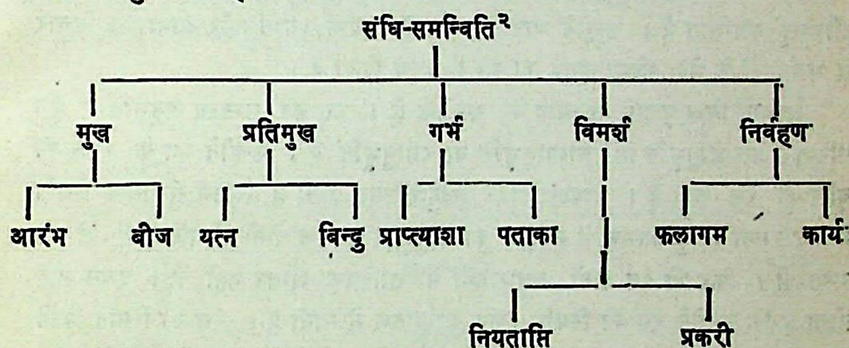
उन्होंने भारतीय साहित्य में कहानियों के उद्भव और विकास पर विचार करते हुए कहानी में प्रेम-व्यापार के चित्रण को स्वीकार किया, पर उसके अंग के रूप में, सर्वस्व के रूप में नहीं। क्योंकि प्रेम की व्याप्ति जीवन में अत्यधिक है पर वही जीवन नहीं है इसे भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।[2]

लेख वह गद्य-रचना है जिसमें किसी विषय का प्रतिपादन अथवा वर्णन किया जाय।[3] विस्तार और व्यक्तित्व की दृष्टि से यह दो प्रकार का होता है—प्रबन्ध और निबन्ध। प्रबन्ध में प्रतिपाद्य विषय की प्रधानता रहती है और व्यक्तित्व की नाममात्र की योजना होती है, पर निवन्ध में लेखक के व्यक्तित्व का भी प्रकाशन रहता है। उन्होंने निवन्ध के पाँच प्रकार बताये—विचारात्मक, वर्णनात्मक, भाषात्मक, कथात्मक और आत्मव्यंजक। शुद्ध साहित्यिक कोटि में विचारात्मक निवन्ध को ही स्थान दिया, क्योंकि इसमें प्रतिपाद्य विषय का बुद्धि और हृदय के समुचित योग से विवेचन रहता है।

उन्होंने नाटकों की उत्पत्ति का कारण अनुकरण की वासना माना है। इसकी उत्पत्ति पर का भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से विचार किया है। दोनों दृष्टियाँ नाटक की उत्पत्ति का मूल उत्सव में होने वाले नृत्य-गान को ही मानती हैं। पर मिश्र जी की दृष्टि में केवल नृत्य ही नाटक में नहीं होता, भावाभिनय भी होता है। वे नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के सिद्धान्त से सहमत हैं और वेदों को उत्पत्ति का आधार मानते

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ४३, ५३, ५८।

हैं। भारतीय दृष्टि से उन्होंने नाटकों के तीन प्रमुख तत्त्वों पर विचार किया है—वस्तु, नेता और रस।[1] नाटक में मुख्य होता है उसका 'फल।' इस 'फल' को वे कथा का 'कार्य' मानते हैं। नाटक की समस्त रचनाओं में यह 'कार्य' कई अवस्थाओं में दिखायी देता है। फलसिद्धि के साधनों के विचार से वस्तु का प्रयोजन भी पाँच प्रकार का होता है और इन पाँचों का नाम अर्थप्रकृति हैं। नाटकों में कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों को जोड़नेवाली पाँच सन्धियाँ भी होती हैं। उन्होंने इनका समन्वित वृत्त निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—



इनमें आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम कार्यावस्थाएँ हैं; बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य अर्थप्रकृतियाँ हैं और मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण सन्धियाँ हैं। अर्थप्रकृति में पताका और प्रकरी वैकल्पिक हैं, ये हो भी सकती हैं और नहीं भी। उन्होंने रंगशाला और अभिनय पर भी विचार किया है। हिन्दी में नाट्य-वाङ्मय के अन्तर्गत आनेवाले एकांकी नाटक, हास्यात्मक प्रसंग और चलचित्र पर भी चलता विचार है।

आचार्य मिश्र ने शास्त्रीय पक्ष पर विचार करते हुए कहा है कि "काव्य या साहित्य के स्वरूप और नियन्त्रण का जिसमें विचार हो वह 'शास्त्र', काव्यशास्त्र या साहित्य-शास्त्र है।"[3] रचना में शब्द और अर्थ की ही प्रधानता होती है, इसलिए उन्होंने भारतीय परम्परा की दृष्टि से शब्द के तीनों प्रकारों—वाचक, लक्षक और व्यंजक एवं इनसे निकलने वाले अर्थों—वाच्यार्थ या मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ पर विचार किया है। इन अर्थों का ज्ञान कराने वाली शक्तियों (क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना) का भी विवेचन है।

---

१. हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास—आचार्य मिश्र, पृ० ३।
२,३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ६६, ८९।

उन्होंने अलंकार को अभिव्यंजना की एक शैली माना है। आभूषण-रहित होने पर भी सौन्दर्यवर्णा स्त्री के सौन्दर्य में कोई त्रुटि नहीं आती अर्थात् उसका सौन्दर्य नष्ट नहीं होता, पर कविता से अलंकारों को पृथक् करते ही उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। अतः साहित्य-संस्कार में कविता के साथ अलंकारों का वही स्थान है जो कामिनी और उसके सौन्दर्य में पाया जाता है।[१] उन्होंने अलंकार को ही सब कुछ नहीं माना। भावों को कविता का रूप देने का कार्य शैली करती है और शैली उसका झलमलाता हुआ बाहरी रूप है।[२] इस प्रकार काव्यालंकार कविता-कामिनी से हारादिवत् अलग नहीं 'नीर-क्षीरवत्' समन्वित है। उन्होंने भारतीय दृष्टि से शब्दार्थ, वर्ण्य और आधार के विचार से अलंकारों के भेद, संख्या आदि का भी विवेचन किया है।

आचार्य मिश्र मूलतः रसवाद के समर्थक हैं। रस का सम्बन्ध अनुभूति से है। परिष्कृत प्रत्यक्षानुभूति ही काव्यानुभूति या रसानुभूति है। उन्होंने मन के रमने की वृत्ति को 'रस' कहा है। प्रत्यक्षानुभूति सुखदुःखात्मक होती है, जिसमें सुखात्मक स्थिति में मन रमता है, दुःखात्मक में नहीं। काव्यानुभूति में इन दोनों स्थितियों में ही मन रमता है। फिर भी इन दोनों अनुभूतियों में तात्त्विक अन्तर नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने रस की स्थिति दर्शक या पाठक में मानी है। रस की स्थिति किसी ने अनुकार्य में, किसी ने अनुकर्ता में, किसी ने अनुकार्य एवं अनुकर्ता दोनों में तथा किसी ने दर्शक या सामाजिक या ग्रहीता में मानी है। इन्हीं मतवादों को लेकर उत्पत्ति-वाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और व्यक्तिवाद का प्रतिपादन हुआ। मिश्रजी ने भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में कथित सूत्र का उल्लेख करते हुए उसके व्याख्याकारों की दृष्टि में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों के मान्य अर्थ का विवेचन किया है।

साधारणीकरण पर उनकी दृष्टि खण्डन-मण्डन और मत-निर्धारण की दिशा में नहीं गयी। उनके विचार अभिनवगुप्ताचार्य के विचारों की व्याख्या हैं। उनको न शुक्लजी के मत से वैमत्य है, न अभिनवगुप्त की दृष्टि से अपलाप। संक्षिप्त, पर स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने की क्षमता उनकी अपनी विशेषता है।[३] उनकी दृष्टि में जो साधारण नहीं है उसे साधारण करना ही साधारणीकरण है।[४] काव्य के तीनों तत्त्व—कर्ता, ग्रहीता और पात्र सबके सब विशेष होते हैं। कुछ विशेषता सामान्य रूप से सभी में होती है। उनकी दृष्टि में काव्य या साहित्य वही प्रयोजनीय है जिसमें इस विशेषता को पकड़ने की क्षमता होती है। वे विभावादि सबका साधारणीकरण स्वीकार करते

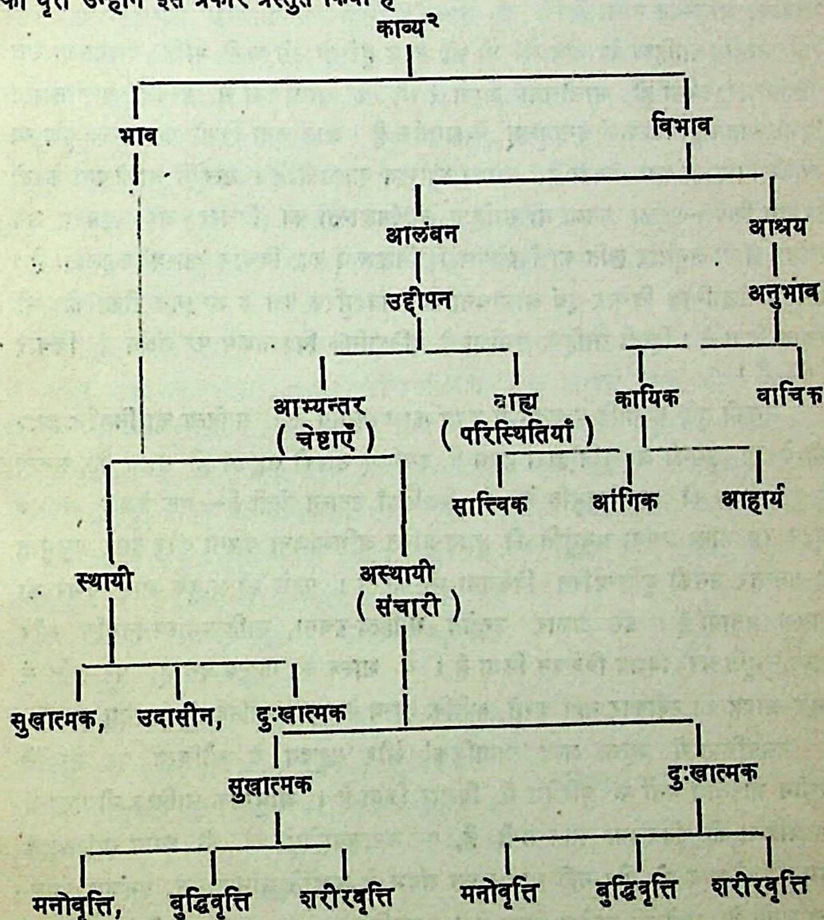
१,२. भूषण—आचार्य मिश्र, पृ० ४, २।

३. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पाण्डेय, पृ० ९९।

४. चिन्तामणि-मञ्जूषा—आचार्य मिश्र, पृ० ६३।

हैं। आचार्य शुक्ल ने 'विभावन' मात्र को ही साधारणीकरण माना है। इस मत पर आलोचकों के बहुत आघात हुए, पर मिश्रजी ने उनके 'आलम्बनत्वधर्म' के अन्तर्गत काव्य की त्रिकोणात्मक स्थिति को समेट कर उनकी साधारणीकरण से सम्बद्ध व्यापक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहा कि शुक्ल जी के धर्म या सामान्य गुणों के आरोप का तात्पर्य यह है कि आलम्बन उचित होने से 'साधारणीकरण' होता है।[1] उनकी दृष्टि में साधारणीकरण एक सिद्धान्त है, नियम है, जिसका नियामक किसी रचना का कर्ता नहीं।

उन्होंने इसके चार अवयवों—विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारी भाव की भारतीय दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की है। काव्य में उसकी स्थिति एवं विभाग उपविभाग का वृत्त उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—



१. चिन्तामणि-मंजूषा—आचार्य मिश्र, पृ० ६४।
२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १०७, १०९।

भारतीय साहित्यशास्त्र में रसराज या मूल रस के निर्धारण में अनेक मत प्रचलित हैं। रस विशेष की श्रेष्ठता उसकी विस्तार-सीमा से आँकी जा सकती है। रतिभाव की सीमा सबसे बड़ी है। उसमें सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार की वृत्तियों का समावेश होता है। इसका ग्राहक क्षेत्र भी विस्तृत है। इसीसे उन्होंने शृंगार को ही रसराज कहा है। उन्होंने रस-प्रक्रिया में आलम्बन को प्रमुख माना हैं, क्योंकि सहृदयों में रस चर्वणा आलंबन के औचित्य से ही होती है। आलम्बन परिस्थिति से युक्त एवं मुक्त दोनों होता है। परिस्थिति आलम्बन की वह पीठिका है जिससे वह ठीक-ठीक पहचाना जाता है।[1] उन्होंने वातावरण के अनुकूल साधारण और असाधारण सभी को भाव का आलम्बन माना है।

उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में जो भी उपज हुई हो उसे भली भाँति देखना या उस पर विचार करना ही आलोचना माना है।[2] वे आलोचना से सम्बद्ध प्राचीन मत 'एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम्' के समर्थक हैं। आलोचना किसी रचना का गुण या उसकी विशेषता स्पष्ट करती है, उसका स्वास्थ्य बतलाती है। उन्होंने आलोचना के दो विभाग किये—पहला काव्य या साहित्य के सिद्धान्तों का विचार और दूसरा उन सिद्धान्तों के अनुसार कृति का विश्लेषण। सिद्धान्तों का विचार 'शास्त्र' कहलाता है। उन्होंने सैद्धान्तिक विचार एवं आलोचना के व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत टीका को भी स्थान दिया है। हिन्दी साहित्य समीक्षा के ऐतिहासिक विकासक्रम पर संक्षेप में विचार किया है।

उनकी दृष्टि में साहित्य हृदय से हृदय का व्यवसाय है। साहित्य का निर्माण हृदय की प्रेरणा, उसकी अनुभूति द्वारा होता है, इसलिए उसको सहृदय ही ग्रहण कर सकता है। सहृदय की काव्यानुभूति से दो स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं—एक केवल अनुभव करके रह जाना अथवा अनुभूति की हृदय-प्रेरित अभिव्यंजना करना और दूसरे अनुभूति के अनन्तर उसकी बुद्धि-प्रेरित विवेचना भी करना। पहले को भावुक और दूसरे को भावक बताया है। इस प्रकार उन्होंने साहित्य-रचना, साहित्यशास्त्र-निर्माण और काव्यानुभूति का विशद विवेचन किया है। वे शास्त्र को महत्त्व देते हैं, पर कृति में इसके आग्रह को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि शास्त्र केवल मार्गनिर्देशन के लिए है।[3]

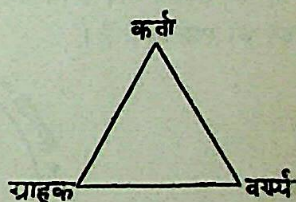
रसप्रकिया में प्रयुक्त शब्द 'सामाजिक' और 'सहृदय' के औचित्य पर उन्होंने प्राचीन भारतीय मतों के परिवेश में विचार किया है। आधुनिक साहित्य मीमांसा में रस प्रक्रिया की विवेचना होने लगी है, पर समाजवादियों का भी ध्यान साहित्य के 'सामाजिक' शब्द की ओर नहीं गया। इस संदर्भ में उन्होंने अभिनवगुप्त, धनंजय, भानुदत्त आदि के मतों का उल्लेख किया है। सामाजिक एवं सहृदय इन दोनों के अर्थ एक

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ११४, १३५, १४०।

दूसरे के पूरक हैं। 'सामाजिक' को 'सहृदय' तथा 'सहृदय' को 'सामाजिक' होना चाहिए। उनका मत है कि यदि काव्य में समाजगत अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो, सर्वसामान्य अनुभूति की व्यजना न हो तो सामाजिक के लिए वह अग्राह्य हो सकता है, उद्वेगजनक चाहे न हो। व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक के आस्वाद में अपरिपूर्णता ला सकती है। काव्य में आये ऐसे प्रसंग को उन्होंने 'रसाभासयुक्त' कहा है।[१] 'रस-प्रक्रिया' में 'सामाजिकता' ही प्रमुख है। इसीसे उन्होंने औचित्य-विचार का दूसरा नाम 'सामाजिकता-विचार' माना है।

साहित्य की सार्वभौमिकता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि अद्यतन वादों में उलझे हुए आलोचक आचार्यों की नवीनोद्भावना को परखने का प्रयास नहीं करते, रूढ़ियाँ सर्वदा त्याज्य रही हैं। जहाँ न वर्ग-भेद है न स्त्री-पुरुष का लिंग-भेद, जहाँ रसप्रक्रिया-शुद्ध सामाजिकता के साधारणीकरण के साम्यभाव पर ही टिकी है। उनकी दृष्टि में साहित्य की सामाजिकता की व्याप्ति बहुत अधिक है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में नवीनता की पुकार करनेवालों के लिए कहा है कि जो प्राचीन रसप्रक्रिया को समाज के काम की नहीं मानते हैं उन्हें उसको समझने का प्रयास करना चाहिए। साहित्य में 'बाल-वचन' नहीं, 'बुधबचन' की साधना होती है। उन्होंने रस को लौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

साहित्य में व्यष्टि और समष्टि के महत्त्व पर विचार करते हुए उन्होंने 'साहित्य' के 'सहित' शब्द की व्याख्या की है। आरंभ में 'सहित' का तात्पर्य 'शब्द' और 'अर्थ' के सहितत्व के लिए हुआ। 'साहित्य' में 'शब्द और 'अर्थ' दोनों का तुल्यबल होता है। कविता रमणीय है जिसके बाह्य और आभ्यंतर दोनों रमणीय होते हैं। काव्य न केवल रमणीय अर्थ है, न अर्थ का प्रतिपादक शब्द मात्र। उन्होंने 'सहितानाम् भावः' के तत्त्व को स्वीकार करते हुए साहित्य की व्याप्ति संसार की सभी प्रकार की विद्याओं से अधिक मानी है। वे स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं कि यह कोई आधुनिक व्याख्या नहीं है, प्राचीन भारतीय आचार्य ऐसा ही मानते आए हैं।[३]

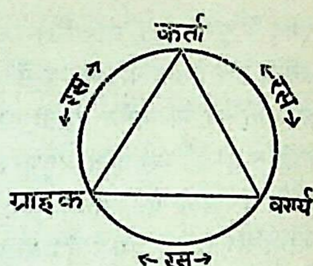


चित्र सं०—१

साहित्य के निर्माण की स्थिति को उन्होंने त्रिकोणात्मक माना है जिसके शीर्ष बिन्दु पर कर्त्ता, दूसरे पर वर्ण्य और तीसरे पर ग्राहक होता है (चित्र सं० १)। कर्त्ता साहित्य में वर्ण्य की जिस अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है ग्राहक उसका ग्रहण करता है। यह अनुभूति वर्ण्य-विषय,

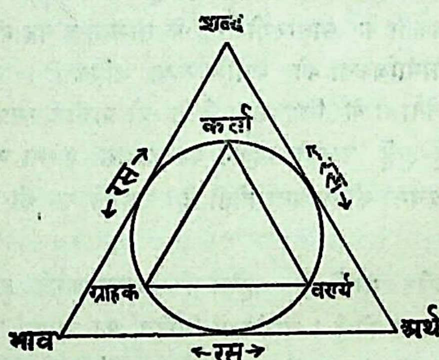
१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १२७, १५१, १५६।

कर्त्ता से प्रवाहित होती हुई ग्राहक के हृदय-प्रदेश में प्रविष्ट होकर एक वृत्त बनाती हैं। भारतीय दृष्टि में इसे ही 'रस' कहा गया है। उन्होंने इसका स्पष्टीकरण रेखाचित्र संख्या २ द्वारा किया हैं।



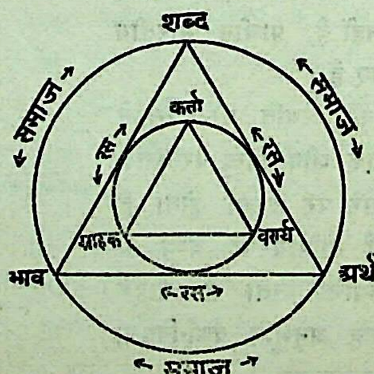
चित्र संख्या—२

रसमीमांसा में भारतीय आचार्यों ने रस के लिए शब्द, अर्थ और भाव तीनों को आवश्यक माना है। उसमें वस्तुव्यंजना भी हो सकती है, पर उसका चरम लक्ष्य 'भाव' ही है। इसमें शब्द का कर्त्ता से अर्थ का वर्ण्य से और भाव का ग्राहक से सीधा सम्बन्ध है। इसका स्पष्टीकरण मिश्र जी ने चित्र संख्या ३ द्वारा किया हैं।



चित्र संख्या—३

साहित्य के ये तत्त्व समाज से आते हैं। समष्टि ही साहित्य में अभिव्यंजित है। उन्होंने साहित्य में अस्तित्व समाज या समष्टि का ही माना है। साहित्य और समाज का वृत्त शब्दार्थ-भाव के त्रिकोण को आवृत्त किए हुए है। उन्होंने चित्र संख्या—४ द्वारा इसे भी स्पष्ट किया है।

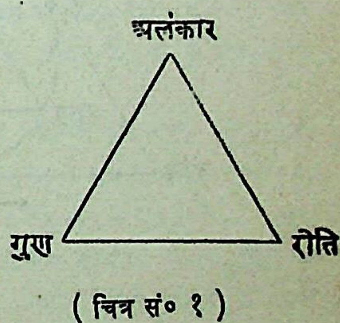


चित्र संख्या—४

उन्होंने साहित्य को सत् का प्रतिबिम्ब माना है असत् का भ्रम नहीं। इसी दृष्टि से साहित्य की व्याप्ति के लिए समष्टि को व्यापक और व्यक्ति को व्याप्य माना है।[१] साहित्य में व्यक्ति या विशेष का महत्त्व बढ़ने का कारण उन्होंने पाश्चात्य देशों की अनुकृति कहा है। पश्चिम में साहित्य कला के रूप में मान्य है और उसका लक्ष्य मनोरंजन है, जबकि भारतीय साहित्य का लक्ष्य रसानुभूति है। उनके मतानुसार अहंता का 'समष्टि' में लय यह भारतीय सूत्र है, 'समष्टि' से 'अहंता' का पार्थक्य—यह विदेशी प्रक्रिया है।[२] उन्होंने साहित्य की व्यापकता के लिए भारतीय समष्टि-दृष्टि को ही उपयुक्त माना है।

उन्होंने वर्णना और चर्वणा के प्रसंग में साहित्य के भेद और काव्य की परिभाषा भी प्रस्तुत की है। साधारण कथन, वचन, उक्ति या वार्ता को काव्य नहीं माना, असाधारण या विशेष उक्ति ही काव्य-पद-वाच्य है।[३] उन्होंने 'वर्णना' और 'चर्वणा' का दृष्टि-भेद स्पष्ट करते हुए 'वर्णना' की दृष्टि 'व्यक्ति' की और 'चर्वणा' की दृष्टि 'समष्टि' की मानी है। इसमें पहला वर्ग अभिधा में और दूसरा वर्ग व्यंजना में काव्यत्व मानता है। उन्होंने पहले को 'वक्रोक्ति-वर्ग' और दूसरे को रसवर्ग या औचित्य-वर्ग कहा है।[४]

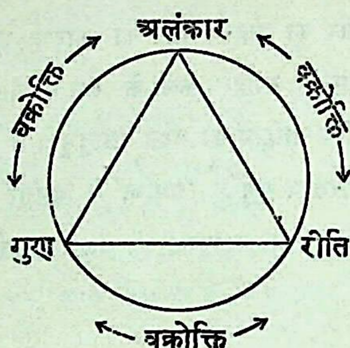
भारतीय साहित्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए उन्होंने साहित्य में दो प्रवाह—चारुत्वप्रवाह और अनुभूतिप्रवाह—का उल्लेख किया है जिनमें से प्रथम का सम्बन्ध श्रव्य-काव्य और दूसरे का दृश्य या नाट्यशास्त्र से बताया है। श्रव्यकाव्य या चारुत्वप्रवाह कर्ता और वर्ण्य से एव दृश्यकाव्य या अनुभूतिप्रवाह ग्रहीता और अनुकार्य से सम्बद्ध हैं। चारुत्वप्रवाह में अलंकार और रीति की पद्धति है। रीति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए गुण का विचार हुआ और काव्य में अलंकार को अनित्य और गुण को नित्य धर्म बताया गया। इस प्रकार चारुत्व-



(चित्र सं० १)

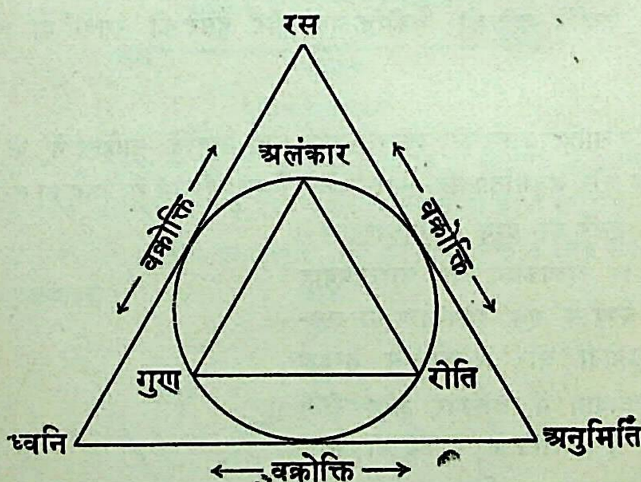
१-४. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १५६, वही, १५८, १५९।

प्रवाह की त्रिकोणात्मक सीमा अलंकार, गुण और रीति से परिमित होती है (चित्र सं० १)। इसमें सामान्य रूप से रहनेवाली विशेषता के रूप में वक्रोक्ति की कल्पना की गयी है



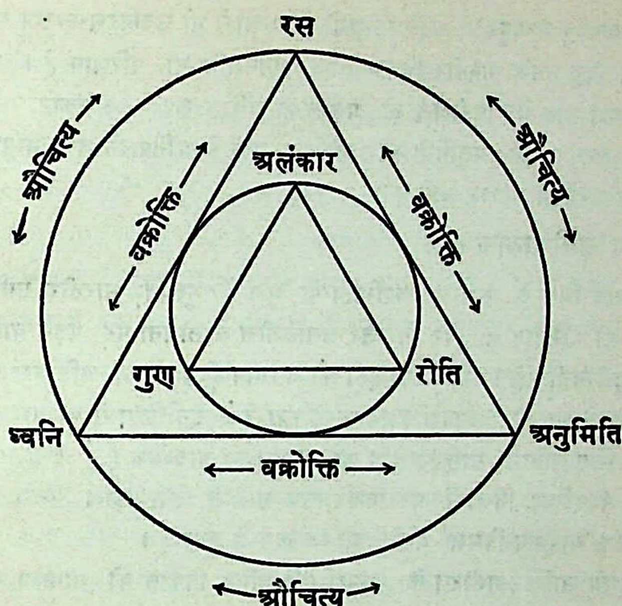
(चित्र सं० २)

(चित्र सं० २)। रस, ध्वनि, अनुमिति से अनुभूति-प्रवाह का सम्बन्ध है (चित्र सं० ३)। अनुभूतिप्रवाह के वैशिष्ट्य से रस, ध्वनि और अनुमिति ने चारुत्वप्रवाह को उदरस्थ कर लिया।



(चित्र सं० ३)

रस, ध्वनि आदि में औचित्य को सर्वव्यापी मानकर उसकी प्रतिष्ठा हुई। भारतीय साहित्यशास्त्र के सारे प्रपंच को उन्होंने रेखाचित्र संख्या ४ द्वारा प्रस्तुत किया है।



(चित्र सं० ४)

आचार्य मिश्र ने भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के इन मतों की व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट रूप से की है। उन्होंने सौन्दर्य के दो रूप बताये—एक नैसर्गिक सौन्दर्य और दूसरा सजावट से उत्पन्न सौन्दर्य। अलंकार-रीति वाले आचार्यों ने सजावटी चमत्कार या सौन्दर्य को महत्त्वशाली माना और यह कहा कि काव्य का ग्रहण सौन्दर्य के कारण होता है, उससे प्रदर्शन की अपेक्षा हो गयी। मिश्रजी ने जहाँ समाज के जीवन का दर्शन नहीं है, वहाँ प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती हुई पायी। इस दृष्टि से आलंकारिकों और रीति वालों के यहाँ समाज के जीवन का दर्शन नहीं, केवल प्रदर्शन है। अद्यतनकाल पर चर्चा करते हुए उन्होंने आज के जीवन का दर्शन प्रदर्शन को ही बताया।

वक्रोक्ति में सर्वप्रथम सौन्दर्य की सहज नैसर्गिक भंगिमा की ओर संकेत किया गया। पर जब ग्राहक सामाजिक या सहृदय का विचार भी इसमें आया और वही मुख्य हुआ तब चारुत्वप्रवाह अनुभूति के प्रभाव से प्रधान रूप से जा जुड़ी।[1] अलंकारवादी भी रस से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को उनकी मान्यताओं के आधार पर ही स्पष्ट किया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के आदि

१. चिन्तामणि-मंजूषा—आचार्य मिश्र, पृ० ६२।

आचार्यों अर्थात् मध्ययुगीन रीतिशास्त्रियों के ग्रन्थों से भी उदाहरण-स्वरूप स्थल उद्धृत किये हैं। यह उनके गम्भीर चिन्तन एवं मननशक्ति का परिणाम है। उनकी सूक्ष्म एवं निष्पक्ष भाव से निरीक्षण की प्रवृत्ति ही संक्षिप्त रूप से अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, अनुमिति और औचित्य मतों के प्रतिपादन तथा सम्पूर्ण प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने में सक्षम रही है।

पाश्चात्य समीक्षात्मक दृष्टि

आचार्य मिश्र के समीक्षक व्यक्तित्व के मूल में मुख्यतः भारतीय साहित्यशास्त्रीय दृष्टि का ही योगदान है, पर निरन्तर प्रगतिशील आलोचना पर पड़ने वाले प्रभाव से भी वे अछूते नहीं रहे। हिन्दी साहित्य की वर्तमान विधाओं का अधिकांश रूप पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा और आदर्श ग्रहण कर रहा है। इन विधाओं का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए पश्चिमी साहित्यशास्त्र का अवलोकन आवश्यक है। इसी से उनको भी पाश्चात्य सैद्धान्तिक विचारों पर निर्णयात्मक सम्मति देनी पड़ी। उनके इन विचारों का आकलन 'वाङ्मय-विमर्श' में ऐतिहासिक क्रम में हुआ है।

पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा के सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास को सामान्य रूप से तीन कालों में बाँटा जाता है—प्राचीनकाल, मध्यकाल और अद्यतनकाल। पाश्चात्य समीक्षक आलोचना का आरम्भ यवनान (यूनान) देश से मानते हैं जो पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र रहा है। मिश्रजी ने इस ऐतिहासिक विकास पर विचार करते हुए इसके उद्भावकों अफलातूँ, अरस्तू आदि पर भी संक्षेप में विचार किया है। सत्रहवीं शताब्दी में साहित्य में नवजीवन का संचार हुआ। आधुनिक युग में आकर पाश्चात्य आलोचना बहुत समृद्धि को प्राप्त हुई। इसमें अनेक वादों का आविर्भाव और तिरोभाव हुआ। इस युग में प्रवाहित होनेवाली दो धाराओं का उन्होंने उल्लेख किया—"एक है 'अर्थ' की दृष्टि, जिसका प्रवर्तन मार्क्स के द्वारा समाज में हुआ और जो भावना समाज के साथ साहित्य में भी घर करने लगी। दूसरी है 'काम' की दृष्टि जिसका प्रवर्तन मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड के द्वारा हुआ जिसकी विवेचना बढ़ते-बढ़ते बहुत व्यापक हो गयी।"[१] इसने भी साहित्य में अपना स्थान बना लिया। शेक्सपियर के नाटकों में जिस स्थल पर संगति नहीं बैठती थी उसको सुसंगत समझाने का कार्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि ने किया।

उन्होंने 'काव्य' को 'कला' से पृथक् माना है। पाश्चात्य आलोचना में काव्य को कला माना जाता रहा है और इस कला के वहाँ दो रूप स्वीकार किये गये हैं—उपयोगी कला और ललित कला। शिल्प को उपयोगी कला के अन्तर्गत माना जाता

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २०२।

है। वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला, अभिनयकला और काव्यकला को ललितकला में स्थान दिया गया है। ललितकला मानसिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।[1] भारतीय साहित्यशास्त्र में 'कला' शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है—संगीतकला और शिल्पकला। काव्य इन दोनों से अलग है। उन्होंने पश्चिम में मान्य काव्यकला के सिद्धान्तों के विपरीत भारतीय मत का उल्लेख कर काव्य को साधारण कोटि की कारीगरी से पृथक् माना है।[2] पाश्चात्य साहित्य-जगत् में जिन कलाओं को स्थान दिया गया है वे केवल सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करने वाली हैं। पर काव्य में प्रदर्शित या व्यंजित भाव में मग्न होने से रसानुभूति के अनन्तर सौंदर्यानुभूति होती है।

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति के प्रसंग में पाठक के मन की दो स्थितियों का उल्लेख किया गया है—पहली स्थिति में वह भावमग्न होता है और दूसरी स्थिति में प्रशस्तिपाठ करता है। यदि पाश्चात्य देशों की सौंदर्यानुभूति को माना जाय तो केवल दूसरी ही स्थिति सामने आती है। यदि ग्रहीता सहृदय न भी होगा तब भी दूसरी स्थिति का स्वांग रच सकता है। पर कृति और पाठक का स्वाभाविक सम्बन्ध पहली स्थिति से ही स्थापित होता है। पाठक में रसानुभूति के लक्षण व्यक्त होने पर ही वह सहृदय कहा जा सकता है। उनकी दृष्टि में पाश्चात्य काव्यशास्त्र में स्वच्छंन्द अन्वेषण के परिणामस्वरूप वहाँ के आलोचक धरातल की उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच सके जिस पर भारतीय आचार्य बहुत पहले से प्रतिष्ठित हैं। उनको रिचर्ड्स और अवरक्रांबी के ग्रंथों में रस तक पहुँचने का मार्ग पाने की व्याकुलता का आभास मिला है।

पाश्चात्य आलोचना में काव्य की प्रक्रिया में कल्पना का विशेष स्थान मानकर प्रातिभज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित किया जा रहा है। वे काव्य में वस्तु और भावों को महत्त्व न देकर आकृति को ही सब कुछ मानते हैं। जगत् की वस्तुओं का हृदय पर पड़ने वाला संस्कार आकृति कहा गया है। यह आकृति प्रातिभज्ञान के संयोग से कल्पना का रूप ग्रहण करती है तभी काव्य की रचना होती है। वे भावों को काव्य के क्षेत्र के अन्तर्गत इसलिए स्थान नहीं देते कि भावों की अनुभूति सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों होती है, पर काव्यानुभूति केवल सुखात्मक अथवा आनन्द-स्वरूप ही हो सकती है। मिश्र जी का मत है कि "काव्यानुभूति एवं भावानुभूति में अन्तर नहीं, दोनों की अनुभूति सुखदुःखात्मक होती है। अन्तर इतना ही है कि काव्यानुभूति में काव्य का कर्ता और ग्रहोता विशेषत्व का त्याग कर सामान्यत्व की भूमि पर पहुँचता है। सामान्यत्व की भूमि सत्त्वस्थ होती है जो रज-तम से मुक्त होती है या दोनों दब जाते हैं। इसी से काव्यानुभूति सुखात्मक या आनन्दस्वरूप जान पड़ती है।"[3]

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २०३, २०४, २१०।

पश्चिमी आलोचना में काव्य ललितकला होने से उसमें सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण ही प्रधान होता है। यह अधिकतर व्यक्तिगत माना जाता है, लोकगत नहीं। लोक में रुचि-भिन्नता से सौंदर्य के स्वरूप में भी भिन्नता हो जाती है, पर मिश्र जी ने लोक-दृष्टि से इस विविधता में भी एकता का दर्शन किया है। उन्होंने प्रमाण सहित यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि काव्य और लोकजीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि तथा पाठक काव्य के निर्माण में सर्वसामान्य भूमि पर पहुँच जाते हैं। इसी तथ्य के निरूपण में भारतीय साहित्य में साधारणीकरण का प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से 'सौंदर्य' की भी सामान्य भूमि है।

काव्य और कला को व्यक्तिगत सिद्ध करने के लिए उस पर आध्यात्मिक परदा डाला जाता रहा और काव्य को दिव्य विभूति, अतीन्द्रिय उपलब्धि, अलौकिक ज्योति आदि कहा जाता रहा। पाश्चात्य आलोचक क्रोचे ने भी 'एस्थेटिक्स' में काव्य को मीमांसा की दृष्टि से लोक से परे कहा। उन्होंने ज्ञान को दो प्रकार का—कल्पनाजन्य और तर्कजन्य—माना। कल्पना से प्रतिभज्ञान उत्पन्न होता है जिससे किसी व्यक्ति या विशेष पदार्थ का ज्ञान होता है। तर्कजन्यज्ञान प्रमा को लेता है जिससे व्यक्ति विशेष का नहीं जाति का ज्ञान होता है। प्रतिभज्ञान आत्मा से उद्भूत मूर्त क्रिया है। आत्मा की यह क्रिया आध्यात्मिक वस्तु है जो सदा स्थिर और एकरस दिखाई देती है। काव्य में दिखाई देने वाली भिन्नता उपादान रूप द्रव्यों के कारण होती है। कल्पनारूप के सूक्ष्म साँचे निर्मित किया करती है। उपादान या द्रव्य कल्पना के उसी साँचे में ढल कर व्यक्त हुआ करता है।[1] इसीलिए काव्य में कल्पना-निर्मित इन सूक्ष्म साँचों का महत्त्व है न कि द्रव्य या उपादान का। सौन्दर्य का मूल है आकृति, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।[2]

क्रोचे ने अभिव्यंजना में सजातीय सादृश्य स्वीकार किया है, पर मिश्र जी का मत है कि जो अखण्ड और एकरस होगा वह ब्रह्म की भाँति सजातीय, विजातीय, स्वगत आदि भेदों से रहित होगा। सजातीय की चर्चा करना भेद को स्वीकार करना है।[3] उसने अलंकारों को शोभा के लिए ऊपर से चिपकाई वस्तु मात्र कहा है। पर मिश्र जी ने वामन, जयदेव, आचार्य शुक्ल जैसे आचार्यों के मत प्रस्तुत कर स्पष्ट करने प्रयत्न किया है कि काव्य से वह पृथक् नही है, यह भी उसका एक अविच्छिन्न तत्त्व है। क्रोचे ने काव्यानुभूति को सुखदुःखात्मक अनुभूति से भिन्न माना है। मिश्र जी ने रस-वादियों के मत प्रस्तुत कर, स्पष्ट किया है कि रसानुभूति वास्तविक अनुभूति से इस अर्थ में भिन्न है कि वह निःस्वार्थ और निर्लिप्त होती है। इस प्रकार का भेद करना उनकी दृष्टि में व्यर्थ है।

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २१३। वही, पृ०२१४।

उन्होंने 'वक्रोक्ति और अभिव्यंजना' पर विचार करते हुए यह भ्रांति दूर करने का प्रयास किया है कि वे दोनों मूलतः एक हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने शुक्ल जी के कथन—'भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान क्रोचे का अभिव्यंजनावाद है'—पर कुछ आलोचकों द्वारा लगाये गये आरोप—'उन्होंने क्रोचे को समझा नहीं'—का समाधान किया है। उन्होंने वक्रोक्तिवाद की काव्य-सम्बन्धी मूलभूत मान्यताओं को यों रखा है[1]—

१. काव्योक्ति सामान्य वार्ता से विशिष्ट होती है।

२. अभिधा में, काव्य की उक्ति में चमत्कार होता है।

३. सौंदर्य ही 'अलंकार' है, सौंदर्य से ही काव्य की ग्राह्यता है।

४. काव्य की उक्ति प्रतिभा की उद्भावना है।

यहाँ 'रस' के भाव का तिरस्कार नहीं किया गया। वक्रोक्ति के प्रतिपक्ष में वस्तु के सामान्य वर्णन को 'स्वभावोक्ति' कहा गया। उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को समझने के लिए और वक्रोक्ति से इसके सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए यस्पर्सन की उक्ति प्रस्तुत की है, जिसमें वह वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से पड़ने वाले अन्तःसंस्कार या प्रभाव (इम्प्रेशन), उसकी अभिव्यक्ति में होने वाले दबाव या दमन (सप्रेशन) और तदनन्तर उन प्रभावों का संकेतित होना (सज्जेशन) और अभिव्यक्ति (एक्स-प्रेशन) का उल्लेख किया है।[2] यह अभिव्यक्ति सामान्यजन और कलाकार दोनों में होती है।

क्रोचे ने ज्ञान को दो प्रकार का बताया है—कलासम्बन्धी एवं तर्क-सम्बन्धी। पहले में प्रातिभज्ञान (इंट्यूशन), कल्पना में उद्भूत ज्ञान, व्यक्ति का संकेत ग्रहण या किसी एक वस्तु का ज्ञान माना है। कला के क्षेत्र में साँचा (फार्म) ही सब कुछ है, द्रव्य (मैटर) कुछ नहीं। प्रातिभज्ञान का साँचे में ढलकर व्यक्त होना कल्पना है और वही मूल अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) है। उसने कलासम्बन्धी अभिव्यंजना को प्रकृत अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन इन दि नेचुरलिस्टिक सेंस) से भिन्न माना। उसका मत है कि "कला-सम्बन्धी ज्ञान प्रातिभज्ञान है, प्रातिभज्ञान की ही अभिव्यंजना होती है, प्रातिभज्ञान ही अभिव्यंजना है, सौन्दर्य अभिव्यंजना में होता है, साँचे या आकृति का होता है, वस्तु में सौन्दर्य नहीं होता, वह मूलतः आन्तर होता है।"[3]

भारतीय धारणा प्रतिभा और प्रातिभज्ञान के विषय में क्रोचे की धारणा से पूर्णतः

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २१५, २१६, २१७।

भिन्न है, पर मिलाने के लिए आचार्य मिश्र ने इन्हीं शब्दों का व्यवहार किया है।
क्रोचे के अनुसार[1]—

१. प्रातिभज्ञान = अभिव्यंजना = सौन्दर्य। तीनों अखण्ड हैं, एक हैं।

२. साधारण जन की अभिव्यंजना = कवि की 'अभिव्यंजना।' दोनों में स्वरूप-भेद है।

३. सौन्दर्य कला में होता है। पर सौन्दर्य कलाकार का कर्म नहीं।

४. वस्तु में सौन्दर्य नहीं होता।

क्रोचे की कुछ बातें तो वक्रोक्तिवादियों से मिलती हैं और कुछ रसवादियों से, पर मिश्र जी ने उनको भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यता से पूर्णतया भिन्न माना है। भारतीय दृष्टि में प्रतिभा हेतु है, काव्य कार्य है। प्रतिभा के साथ अभ्यास और निपुणता भी हेतु हैं। भारतीय दृष्टि से काव्य में कर्म और प्रयत्न की अपेक्षा होती है। क्रोचे ने काव्योक्ति और सामान्य जनों की उक्ति को भिन्न नहीं माना। पर भारतीय दृष्टि में अलंकारवादी अलकार्य (वस्तु) और अलंकार (अभिव्यंजना = फार्म) में पार्थक्य मानकर विचार करते हैं।[2]

भारतीय साहित्य दर्शन से भी प्रभावित हुआ। दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार साहित्य का विवेचन भी हुआ। अलौकिक दृष्टि से विचार करते हुए भी काव्य के लौकिक पक्ष को स्वीकार किया गया, पर क्रोचे ने कला में लौकिक विवेचन को व्यर्थ माना। अभिव्यंजना व्यक्तिगत होती है—क्रोचे के इस मत को उन्होंने असंगत बताया है। उनकी दृष्टि में वक्रोक्तिवादियों से अभिव्यंजनावादी क्रोचे का इतना ही मेल है कि दोनों काव्योक्ति में सौन्दर्य मानते हैं। अर्थात् दोनों में कर्तृत्व-पक्ष से विचार किया गया है। क्रोचे ने काव्यकला को 'सौन्दर्यानुभूति' से आगे नहीं माना। वह रसवादियों की 'सुन्दरता' से बढ़कर रमणीयता तक नहीं पहुँच पाया।

क्रोचे ने वास्तविक वस्तु या काव्य की वर्ण्य वस्तु में सौन्दर्य न मानकर उसकी अभिव्यंजना अर्थात् उक्ति में उसे माना है। वह सौन्दर्य को संस्कारजन्य मानता है। मिश्र जी ने सुन्दरता या कुरूपता को वस्तु का धर्म माना है, हृदय की कोई संस्कारजन्य वृत्ति नहीं।[3] उन्होंने उदाहरण-स्वरूप संसार से विरक्त उन योगियों और महात्माओं को प्रस्तुत किया है जो संस्कारों को मार चुके हैं, फिर भी उनके हृदय में प्रकृति की वे सुन्दर विभूतियाँ सुन्दर ही प्रतीत होती हैं जो संसार अथवा कवियों में देखी जाती हैं।

उसने काव्यानन्द को सभी प्रकार के आनन्दों से विलक्षण कहा है। काव्य में सुख-दुःख की अनुभूतियाँ आनन्दमय प्रतीत होती हैं, इसके मूल में क्रोचे ने अनुभूत्याभास

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २१७, २१८, २२०।

माना है। उसने काव्यगत अनुभूति के वेग को नहीं स्वीकार किया। काव्यानुभूति एवं रसानुभूति के वेग में अन्तर नहीं है। इसके वेग के न दिखाई देने का कारण मिश्र जी ने काव्य के पाठक या श्रोता के समक्ष प्रत्यक्ष कोई आलम्बन न होना बताया है। इसके परिणामस्वरूप नाटकों के करुणात्मक प्रसंगों में विलाप करते हुए सहृदयों का उल्लेख किया है। क्रोचे सामान्यतया कलाकारों के शब्दों, स्वरों या आकारों को कला की अभिव्यंजना न मानकर भौतिक जगत् को मानता है। उसने कला की अभिव्यंजना को आध्यात्मिक क्रिया माना है। शब्द, वर्ण, रूप, चेष्टा आदि उसको प्रकाशित करने वाली अभिव्यंजना मात्र हैं।

पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में काव्य के दो भेद किये गये हैं। पहला वाह्यार्थ निरूपक (आब्जेक्टिव)—इसमें वस्तुपक्ष का प्राधान्य होता है और दूसरा स्वानुभूति निदर्शक—(सब्जेक्टिव) यह व्यक्तित्व-प्रधान होता है। मिश्र जी ने इस विभाजन को स्थूल कोटि का माना है। ये विशेषताएँ दोनों प्रकार के काव्यों में पायी जाती हैं। वाह्यार्थनिरूपक कहे जाने वाले काव्यों में भी अन्तःसत्ता की प्रधानता होती है तभी तो जगत् के एक ही रूप का निरीक्षण कर विभिन्न कवि उसे विभिन्न प्रकार से काव्यवद्ध करते हैं और उनकी रचनाओं में भी भिन्नता पायी जाती है। उसी प्रकार जो काव्य वाह्य-जगत् से अछूता है वह समाज के लिए अनुपयोगी है। प्रबन्ध, कथाकाव्य एवं नाटक बाह्यार्थ-निरूपक माने जाते हैं। प्रगीत या स्वच्छन्द मुक्तक कवि की अंतःप्रेरणा और संगीतप्रवृत्ति से सम्बद्ध होने से स्वानुभूतिनिदर्शक काव्य की कोटि में रखे गये हैं।

मिश्र जी ने काव्य में व्यक्तिवैचित्र्य के आग्रह को अस्वीकार किया है। काव्य और व्यक्तिवैचित्र्य पर विचार करते हुए उन्होंने व्यक्ति के दो रूपों का उल्लेख किया है—पहला व्यक्ति का पारिवारिक परिमित रूप और दूसरा लोक तक पहुँचा उसका विस्तृत रूप। कवि अपने परिमित क्षेत्र से ही ग्रहण कर ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त करता है जो सर्वसामान्य होती हैं, ऐसी स्थिति में उसका पाठक से तादात्म्य स्थापित हो जाता है। किन्तु इसकी अनुभूतियाँ व्यक्तिगत उसी की रहीं तो वह पाठक के साथ तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकता। तब पाठक उस रचना को घृणा, क्रोध, आश्चर्य और हास्यपूर्ण दृष्टि से देखेगा। उन्होंने वर्तमान हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध पाठकों में ऐसी रुचि उत्पन्न होने का कारण व्यक्तिवैचित्र्य को ही माना है।

पाश्चात्य जगत् मे कथा-कहानियों के विशेष प्रचार के साथ उसके स्वरूप का निर्धारण यथातथ्य और आदर्श के आधार पर होने लगा और साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद चर्चा के विषय बन गये। ये आदर्श को दुर्लभ एवं यथार्थ को सर्वसुलभ मानते हैं। पश्चिम में कविताएँ अब तक आदर्श रूप में होती रही हैं, पर कथा-कहानियों के यथार्थवादी प्रभाव से अब ये भी वंचित नहीं रहीं। काव्यगत सत्य जीवनगत

सत्य से परिष्कृत होता है जिसकी आधारभूमि लोकमान्य है। आलोचकों ने जीवनगत सत्य के दो रूप माने—एक को जीवन का 'प्रकृत' रूप कहा जो सम्भावित नहीं वास्तविक होता है और दूसरा उसका यथार्थरूप जो सम्भव है चाहे वह सर्वत्र भले न दिखाई दे। जीवन का यथार्थरूप भी काव्य का प्रकृत रूप ही है। इस प्रकार काव्य में जीवन के परिष्कृत रूप को स्वीकार करना वस्तुतः उसकी आदर्शवादी दृष्टि का ही परिचायक है। आदर्श जीवन के उदात्तवृत्ति वाले चरित्रों मे दिखाई देता है। बहुत लोग इसको अलौकिक मानकर त्याग देते हैं। भारतीय परम्परा में आदर्शवादी दृष्टि ही स्वीकृत है। पश्चिमी देशों में काव्य का लक्ष्य मनोरंजन स्वीकृत होने से वहाँ यथार्थ पर अधिक बल दिया गया। मिश्र जी वाद के झमेले में पड़कर काव्य को अपभ्रष्ट नहीं होने देना चाहते, उनकी दृष्टि में काव्य में आदर्श का त्याग अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला ही हो सकता है।[1] उन्होंने काव्य में सम्भावित आदर्श और परिष्कृत यथार्थ को स्वीकार किया है, अर्थात् आदर्श के नाम पर वह न स्वर्गीय हो और न यथार्थ के नाम पर नारकीय।

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित काव्य में अनुकरण के सिद्धान्त का विवेचन मिश्र जी ने भारतीय साहित्यशास्त्रीय मान्यताओं के परिवेश में किया है। वह अनुकरण की प्रवृत्ति सहज मानता है और इसके तीन रूपों का उल्लेख करता है—प्रकृत रूप, उत्कृष्ट रूप और अपकृष्ट रूप। भारतीय नाट्यशास्त्रों में भी अनुकरण का उल्लेख मिलता है। साहित्य के निर्माण में अनुकृत का योग होता है। अरस्तू के इस कथन का भारतीय आचार्यों की उक्ति से साम्य भी है। पर उसने अनुकरण में मनोवेगों की प्रेरणा मानी। राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' में कवि की कारयित्री और आलोचक की भावयित्री शक्ति को प्रेरक माना है। मिश्र जी ने काव्य के मूल में शुद्ध अनुकरण को ही नहीं भाव एवं विभाव का कारण रूप माना है।[2] जिसकी प्रेरणा से अनुकरण की प्रवृत्ति जगती है।

काव्य में प्रयुक्त 'क्लैसिकल' एवं 'रोमांटिक' शब्द का विवेचन करते हुए उन्होंने 'क्लैसिकल' का अर्थ उत्तम एवं 'रोमांटिक' का अर्थ ग्राम्य भाषा बताया है। यवनानी (यूनानी) एवं रोमी साहित्य के लोक में आवृत्त होने से उसे 'क्लैसिकल' कहा गया। उनके अनुकरणकर्ता आलोचकों को भी 'क्लैसिकल' कहा गया। जो सभी प्रकार के साहित्यिक उन्मेष का प्रातिनिध्य करे उस कृति का भी 'क्लैसिकल' कहा गया। उत्तम श्रेणी की कृति, सर्वयुगीन कृति, साहित्यिक परिपूर्णता वाली कृति 'क्लैसिकल' ही मानी गई।[3] रोमांस कही जाने वाली, ग्राम्य लातोनी में लिखी जानेवाली कथा-कहानियों

१-३. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २१७, वही, पृ० २३१।

को भी 'रोमांस' कहा गया। इसी 'रोमांस' से 'रोमांटिक' शब्द बना है। साहसिकता, रहस्यात्मकता, कामवृत्तिविशिष्टता, काव्यव्यापार की अनियमितता तथा प्रभावोत्पादकता से युक्त 'रोमांस' की विशेषता 'रोमांटिक' में भी पायी जाती है। 'रोमांटिक' नायक आत्मकेन्द्रित और 'रोमांटिक' कवि विद्रोही माना गया है। रूढ़ि-विद्रोह, स्वतःनिर्गत प्रवाह (स्पोंटेनिटी) कलात्मकता, रहस्यात्मकता, प्रातिभज्ञान (इन्ट्यूशन) प्रगीतात्मकता (लिरिसिज्म) और अन्तर्मन की वृत्ति इसमें समाविष्ट हुई।[1] उन्होंने क्लैसिकल को नियमबद्ध, वाह्यार्थ-सौन्दर्य का अनुसंधायक, प्रकृत सत्य पर अवलम्बित मौलिकतावादी, जीवन से आवद्ध, वुद्धिपरक, चारित्र्य-विकास पर वल, यांत्रिक व्यवस्था एवं परम्परा से परिचालित वताया तथा रोमांटिक को आध्यात्मिक संधान करने वाला, काल्पनिक गतिशीलता पर अवलम्बित, उन्मुक्त, भावपरक मानववादी (ह्यूमैनिस्ट), व्यक्तित्व विकास पर वल, मूल वृत्तियों से आवद्ध, आंगिक व्यवस्था और अन्तर्वेग से परिचालित वताया। इस प्रकार उन्होंने इनकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण तुलनात्मक दृष्टि से किया है।

उन्होंने रोमांटिक तथा यथार्थ का भेद भी स्पष्ट किया है। रोमांटिक मानव का चित्रण उस रूप में करता है जिस रूप में उसे होना चाहिए, पर यथार्थवादी उसे उसी रूप में रखता है जिस रूप में वह है। यह वस्तुमय होता है पर रोमांटिक भावमय। रोमांटिक को उन्होंने तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, रहस्य आदि से पोषित और भावमय होने से उसमें वास्तविकता से पलायन, आन्तरिकता का आग्रह वताया है। उन्होंने यथार्थ को मनोविज्ञान से पोषित, उसमें वास्तविकता का आग्रह, वाह्यदर्शन पर जोर देनेवाला बताया है। पहले में धर्म का पोषण होता है तो दूसरे में विज्ञान का। एक में शील-निदर्शन का माहात्म्य होता है तो दूसरे में कार्य-प्रदर्शन का। एक जीवन के आदर्शों में रमना चाहता है तो दूसरा उसे समझना।

मिश्रजी ने हिन्दी काव्य में आदिकालीन दवी हुई प्रकृति-प्रेम की प्रवृत्ति को अंग्रेजी-प्रभाव से ही आधुनिक युग में मुखरित माना। हिन्दी के मध्यकालीन कवियों में राजाश्रयमुक्त तुलसी आदि कवियों को छोड़ दिया जाय तो प्रकृति-चित्रण से यह काल शून्य हो जायेगा। हिन्दी में पहले के अधिकतर कवि शास्त्रीय दृष्टि से भी प्राकृतिक वैभव का निरूपण करते रहे। शास्त्रों में रसिकप्रिया के विवेचन में प्राकृतिक वैभव श्रृङ्गार के उद्दीपन रूप में रख दिये गये हैं। इसके सम्पर्क में आने से भावों का उद्रेक होता है। इसी दृष्टि से उनका कहना है कि 'यदि भानुभट्ट मायारस की कल्पना कर सकते हैं तो

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २३२।

'प्रकृतिरस' की कल्पना से प्रकृति-प्रेमियों को कौन रोक सकता है ?[१] प्रत्यक्षानुभूति एवं काव्यानुभूति दोनों में प्रकृति के आलम्बन से उत्पन्न भाव रसमय ही होते हैं। समाजवादी उसे बाह्य आवश्यकता का साधन मात्र मानते हैं, पर उनके हृदय की तृप्ति प्रकृति के व्यंजनों से ही होती है। वे प्रकृति का निरूपण किसी वाद के परिमित घेरे में रहकर करना उचित नहीं मानते और न अपने भावों के चमत्कार से उसे बोझिल बनाना चाहते हैं। हिन्दी की आधुनिक कविता को उन्होंने ऐसे ही भावों के बोझ से दबी हुई माना है।

उन्होंने प्रकृतिवाद को आदर्शवाद और रोमांटिक-विरोधी तथा यथार्थवाद के निकट माना है और 'प्रकृति' के दो अर्थों का उल्लेख किया है--एक प्रकृति या सृष्टि से व्यापक अर्थ से सम्बद्ध तथा दूसरा मानव के सहज रूप से सम्बद्ध। पहले में सृष्टि का यथार्थ चित्रण करनेवाली कृतियों को स्थान दिया है एवं दूसरे में इसकी कई कृतियों का उल्लेख किया है।

हिन्दी काव्य के क्षेत्र में अध्यात्मवाद रहस्यवाद-छायावाद के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। क्रोचे आदि विचारकों द्वारा उठाई गई आध्यात्मिक चर्चा का प्रभाव साहित्य के लिए उन्होंने उचित नहीं माना। उनकी दृष्टि में काव्य में किसी भी प्रकार के अज्ञात को लेकर चलना मतवादिता है, क्योंकि हृदय का सम्बन्ध ज्ञात से होता है अज्ञात से नहीं, जब कि अध्यात्म का सम्बन्ध अज्ञात से है। उन्होंने अन्य शास्त्रों की बातों का काव्य में संकेत रूप में ही ग्रहण करना स्वीकार किया है। वे विद्यापति, सूर आदि कवियों की कृतियों में आध्यात्मिक अर्थ निकालना कृति के रस-प्रवाह में अवरोध उपस्थित करना मानते हैं। इस प्रवृत्ति के मूल में उन्होंने पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव को माना है जो बंगला साहित्य से हिन्दी में आ गया। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक अर्थ आधिभौतिक एव आधिदैविक अनर्थों से मिलाकर त्रिताप का रूप धारण कर रहे हैं।[२]

उनकी दृष्टि में पश्चिमी साहित्य में लोक-जीवन की वह स्थिरता नहीं आयी, जो भारत में आदिकाल से ही है। असामंजस्यपूर्ण स्थिति में चल रहे वहाँ के आन्दोलन के प्रभाव से काव्य का चरम लक्ष्य साधारण जन-जीवन का चित्रण ही माना जाने लगा है। भारत और यहाँ के साहित्य में भी पश्चिमी आन्दोलन के स्वर को परखा जा रहा है। जिसका अधिक प्रभाव गद्य-साहित्य में दिखायी पड़ रहा है। मिश्र जी साहित्य में साधारण जन-जीवन को तो स्वीकार करते हैं, पर मतवादी भावना से उसे दूर रख कर। वे प्रेमचन्द की ग्रामीण भूमि को तो स्वीकार करते हैं, पर मजदूरों के बीच

१,२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २३७, ३४०।

मार्क्सवादी भूमि पर खड़े रचनाकारों को अस्वीकार कर देते हैं। उनका मत है कि 'जीवन के किसी एक अंग का स्वरूप-बोध कराना साहित्य का लक्ष्य नहीं।'[1]

उन्होंने फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद पर संक्षिप्त रूप में विचार किया है। इसके परिवेश में ही युग के विचारों पर भी दृष्टि डाली है। भारत में मान्य 'सुत वित लोक'—इन तीन एषणाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने वित्तैषणा से मार्क्सवाद को, पुत्रैषणा या दारैषणा से फ्रायड, युंग के मत को एवं लोकैषणा से एडलर के मत को सम्बद्ध माना।

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के पाश्चात्य एवम् भारतीय मत के अवलोकनानन्तर यह कहा जा सकता है कि उनके समीक्षक-व्यक्तित्व की आधारभूमि भारतीय सैद्धान्तिक मान्यताएँ ही रही हैं। इसी परिवेश में उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताओं की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है।

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २४०–२४१।

चतुर्थ अध्याय

समकालीन समीक्षा और मिश्रजी की दृष्टि

हिन्दी साहित्य में समीक्षा का आविर्भाव आधुनिक साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति भारतेन्दु युग में हुआ। तत्कालीन समीक्षा का स्वरूप निबन्धों और पत्रिकाओं में प्रकाशित टिप्पणियों में ही दिखायी पड़ता है। इस समय की समीक्षा पुस्तक और लेखक के परिचय तक ही सीमित थी। इस युग के समीक्षक पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा की व्यावहारिक प्रणाली से यद्यपि अत्यधिक प्रभावित थे, तथापि भारतीय साहित्यशास्त्र की सैद्धांतिक समीक्षा पूर्णत: भूले नहीं थे।

भारतेन्दु युग की समीक्षा से द्विवेदी युग की समीक्षा में बहुत परिवर्तन हुआ। इस युग ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा के लिए सुदृढ़ पीठिका प्रस्तुत की। इस युग की समीक्षा में व्याप्त सभी प्रवृतियाँ आचार्य शुक्ल एवं उनके पश्चात् की समीक्षा में कुछ परिवर्तित, विकसित एव परिष्कृत रूप में दिखायी पड़ती हैं। इस युग में संस्कृत के साथ हिन्दी के रीतियुगीन कवियों के काव्य-सौन्दर्य का तुलनात्मक रूप से विचार किया गया। ऐसे समीक्षकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन प्रमुख हैं। इस युग के उत्तरार्द्ध में ही आचार्य श्यामसुन्दरदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रतिभाशाली आलोचकों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने आगे चलकर हिन्दी आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। द्विवेदी युग की हिन्दी आलोचना मुख्यत: रूढ़िवादी ही थी। इस युग में आधुनिक सैद्धांतिक आलोचना का आरम्भ नहीं हुआ था। कवियों और लेखकों की विशेषताओं और युगीन प्रवृत्तियों का अन्वेषण और विवेचन करने वाली गम्भीर आलोचना का विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के युग में ही हुआ। इस युग की व्यावहारिक आलोचना को मुख्य रूप से तीन खातों में रखा जा सकता है—(१) प्राचीन काव्य की समीक्षा (२) आधुनिक काव्य की समीक्षा, (३) गद्य साहित्य एवं गद्य-लेखकों की समीक्षा।

शुक्लयुग के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा अन्य प्रभावों को ग्रहण कर उनसे प्रेरित होकर अनेक रूपों में विकसित हुई। शुक्ल जी के अनन्तर उनकी समीक्षा पद्धति कुछ परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप में विकसित हुई जिसे शुक्ल-समीक्षा-पद्धति कहना अधिक समीचीन है। इसके अतिरिक्त छायावादी (स्वच्छन्दतावादी), प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, प्रभाववादी, ऐतिहासिक आदि समीक्षात्मक धाराएँ स्वतन्त्र रूप से विकसित हुईं। इन आलोचना प्रणालियों का सम्यक् विवेचन हिन्दी आलोचना के

ऐतिहासिक विकास-क्रम में हुआ है। आगे कतिपय महत्त्वपूर्ण 'दृष्टियों' का अवलोकन एवं विश्लेषण किया जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना के युग-प्रवर्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक हिन्दी आलोचना को सुस्पष्ट एवं प्रौढ़ दृष्टि दी। वे समन्वयात्मक समीक्षा के प्रवर्तक एवं नियामक थे। इस युग के दूसरे प्रभावशाली समीक्षक आचार्य श्यामसुन्दरदास थे। शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना का केवल मार्ग ही प्रशस्त नहीं किया, अपितु व्याख्यात्मक एवं निगमनात्मक समीक्षा का श्रीगणेश भी किया। उनकी यह समीक्षा भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों के समन्वित रूप पर आधृत है। उनकी व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़तम रूप 'तुलसी-ग्रंथावली', 'जायसी-ग्रथावली', और 'भ्रमरगीतसार' नामक ग्रन्थों की भूमिकाओं में मिलता है। उनके सैद्धांतिक विचारों की कुंजी उनकी 'रस-मीमांसा' और 'चिन्तामणि' (दोनों भाग) कृतियाँ हैं। चिन्तामणि में सैद्धांतिक निबन्धों के साथ व्यावहारिक समीक्षा के निबन्ध भी संगृहीत हैं।

उन्होंने काव्य के विभिन्न स्वरूप, लक्षण, प्रयोजन आदि पर अपना सैद्धांतिक मत प्रस्तुत किया है। इन विचारों में लोकमंगल और रसदृष्टि की प्रधानता है। वे काव्य को भावप्रसार का साधन मानते हैं जिसका व्यापार इस अनन्त, अनेक रूपात्मक जगत् में चलता है। रस की दृष्टि से ही उन्होंने काव्य की परिभाषा की है। उनका कहना है कि "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"[1] कविता को उन्होंने मनोविकार का परिष्कारक तथा शेष सृष्टि के साथ व्यक्ति का रागात्मक सम्पर्क स्थापित करने वाली साधना माना है। उन्होंने कविता में रसतत्त्व को लोकहित से प्रेरित बताया है। वे 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के समर्थक हैं। उन्होंने काव्य में चमत्कार का प्रयोग किसी भाव या अनुभूति को तीव्र करने के लिए माना है, न कि उसका नित्य-गुण। उनकी दृष्टि मर्यादावादी एवं नैतिकतावादी है। इसलिए उनकी दृष्टि से साहित्य का मूल्य-निर्धारक लोकमर्यादा या नीति ही है।

उन्होंने भावों की दृष्टि से मंगल का विधान करने वाले दो भाव माने हैं—करुणा और प्रेम। इनमें से करुणा की गति को रक्षा की ओर और प्रेम की गति को रंजन की ओर माना है तथा लोक में प्रथम साध्य रक्षा को बताया और उसके अनन्तर रंजन

---

१. चिन्तामणि, (प्र० भा०)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ११३।

को।[1] उन्होंने लौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ बतायी हैं—साधनावस्था और सिद्धावस्था। इसमें प्रथम का वीजभाव करुणा है और द्वितीय का प्रेम।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के उपयोगितावादी मूल्य को पाश्चात्य उपयोगिता का भारतीयकरण बताया है।[2] उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय साहित्य को पूर्णतः आत्मसात् कर गम्भीर चिन्तन एवं अवलोकन द्वारा हिन्दी का अपना निजी समीक्षाशास्त्र निर्मित करने का प्रयत्न किया है। अतः उनका समीक्षाशास्त्र न तो भारतीय साहित्यशास्त्र की उद्धरणी है और न पाश्चात्य साहित्यशास्त्र का अनुकरण। इसलिए उनको परम्परावादी आलोचक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

उन्होंने सुन्दर से पृथक् सौन्दर्य को कोई पदार्थ नहीं माना। यह उसी प्रकार है जिस प्रकार वीरकर्म से पृथक् वीरत्व नहीं। उन्होंने उस सौन्दर्य को दिव्य विभूति माना है जिसकी भावना में मनुष्य मग्न होकर अपनी पृथक् सत्ता को उसमें पूर्णतः विसर्जित कर देता है। वे सौन्दर्य को वाहर की वस्तु नहीं भीतर की वस्तु मानते हैं। उनकी दृष्टि में भीतर वाहर का भेद करना व्यर्थ है, जो भीतर है वही वाहर है।[3] शुक्ल जी मूलतः रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा कहा है।[4] उन्होंने भरत मुनि की भाँति 'रस' का विवेचन काव्य के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत किया है। उनके रस सिद्धान्त को बहुतों ने रिचर्ड्स से प्रभावित माना है। दोनों की आलोचना का मुख्य आधार मनोविज्ञान ही है, पर दोनों के विचारों में अन्तर भी है। रिचर्ड्स ने साहित्य का मूल्यांकन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया है और शुक्ल जी ने साहित्यिक दृष्टि से। आचार्य शुक्ल ने हृदयवाद और रसवाद की अभिन्नता का प्रतिपादन किया। रसानुभूति के सभी अवयवों—आश्रय, आलम्बन, अनुभाव, उद्दीपन आदि का सम्यक् विवेचन किया। रस के विषय में उनका आधार तो प्राचीन ही है, पर उसकी प्रक्रिया, प्रसार आदि पर उनके विचार कुछ नवीन हैं।[5]

उन्होंने भावों का वर्गीकरण करके उनका विस्तृत रूप में विवेचन किया है। वे अनुभूति को सुखात्मक एवं दुःखात्मक दोनों प्रकार की मानते हैं। इसी आधार पर उन्होंने भावों को भी सुखात्मक एवं दुःखात्मक दो वर्गों में स्थापित किया। उनके स्थायी भाव का विवेचन शास्त्रीय न होकर मनोवैज्ञानिक है। विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा रस-व्यंजना उन्होंने भी स्वीकार की है। अनुभाव का प्राकट्य भाव या

---

१. चिन्तामणि, (प्र० भा०)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७९।
२. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, (१३वाँ भाग), पृ० २४६।
३,४ चिन्तामणि, (प्र० भा०)—आचार्य शुक्ल, पृ० १३२, ११३।
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—शिवनाथ, पृ० १५४।

उसके संचारी के प्रतीति-काल में माना है। भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को उन्होंने 'शीलदशा' कहा है। भाव में आलम्बन की भावना प्रत्यय के रूप में परिस्फुट होती है। भाव का विश्लेषण कर उन्होंने उसके भीतर पाये जाने वाले तीन अंगों[1] का उल्लेख किया—

(१) वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में चेतना में रहता है (वासना)।

(२) वह अंग जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और 'भाव' का प्रकृतस्वरूप है (भाव, आलम्बन आदि की भावना)।

(३) वह अंग जो आकृति या आचार में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।

उन्होंने भावों की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है—भावदशा, स्थायीदशा और शीलदशा। एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति होनेवाली दशा को 'भावदशा', अनेक अवसरों पर एक ही आलम्बन के प्रति होनेवाली दशा को 'स्थायीदशा' और भावों के प्रकृतिस्थ हो जाने की दशा को 'शीलदशा' कहा है।[2] उन्होंने संचारी भावों का विशद विवेचन किया है। "संचारी प्रधान भावों के अंग होते हैं। उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं, अंगांगि-भाव सम्बन्ध होता है। अन्तःकरण की अन्य वृत्तियाँ जो रागात्मिका नहीं हैं वे भी संचारी में परिगणित हैं। काव्य में इनका ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक प्रत्यक्ष रूप में ये भावों द्वारा प्रेरित हों।"[3]

उन्होंने विभावों का भी सूक्ष्म रूप से विवेचन किया है। उनके अनुसार 'विभाव' में शब्द द्वारा उन स्वरूपों की प्रतिष्ठा करनी होती है जो भावों के आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन होते हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है। वे विभाव के अन्तर्गत उन सब वस्तुओं और व्यापारों को लेते हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुरी, दीप्ति, क्रांति आदि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य में विभावपक्ष ही मुख्य है, क्योंकि यही भाव को जगाता है। आलम्बन भाव को उठाते तथा जगाते हैं, उद्दीपन उन्हें उत्कर्ष तक पहुँचाते हैं। काव्य में आलंबन की इतनी अधिक प्रधानता है कि वे रसोद्दीप्ति में समर्थ हो जाते हैं।[4]

रसास्वादन के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों में भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भोगवाद और अभिव्यक्तिवाद की

---

१. रस-मीमांसा—आचार्य शुक्ल, सं० आचार्य मिश्र, पृ० १६४।
२. रस-मीमांसा—आचार्य शुक्ल, पृ० १८६।
३. हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा—डॉ० रामअवतार शर्मा, पृ० ७९।
४. आचार्य शुक्ल के आलोचना सिद्धांत—डॉ० रामलाल सिंह, पृ० १८९।

स्थापना की। शुक्लजी ने रसानुभूति की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए 'साधारणीकरण' पर भी विचार किया है और इसके आधार पर रसात्मक बोध के विविध रूपों से हमें अवगत कराया है। उनकी दृष्टि में काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं। उनकी दृष्टि में साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है। उन्होंने रसात्मक अनुभूति के दो लक्षणों का उल्लेख किया है—(१) अनुभूतिकाल में अपने व्यक्तित्व की भावना का परिहार, (२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय मात्र के साधारणीकरण अर्थात् उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।[1] इस प्रकार साधारणीकरण से उनका अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की अभिव्यंजना करने वाला पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता, अपितु पाठक या श्रोता का भी आलंबन हो जाता है। अतः उस आलंबन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है।

उन्होंने काव्य को अलंकार का साधक माना है, साध्य नहीं। उनका कथन है कि 'जिस प्रकार एक कुरूप स्त्री अलंकार लाद कर सुन्दर नहीं हो सकती, उसी प्रकार प्रस्तुत या तथ्य की रमणीयता में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव रूप नहीं खड़ा कर सकता।'[2] रीतिवादियों जैसा महत्त्व उन्होंने 'रीति' को नहीं दिया। उनके अनुसार काव्यरीति के चार प्रमुख तत्त्व हैं[3]—(१) गोचर रूप-विधान-विषयक शब्द, (२) विशेष रूप एवं व्यापार निदर्शक शब्द, (३) वर्ण-विन्यास और (४) साभिप्राय विश्लेषण।

उन्होंने रसाश्रित 'रीति' को अधिक महत्त्व दिया है। वे 'वक्रोक्ति' और 'गुण' को भी रसाश्रित ही देखना चाहते हैं। नैतिकता के परिणामस्वरूप वे औचित्य के विशेष समर्थक हैं।

शुक्लजी के समय में काव्य के क्षेत्र में रहस्यवादी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हो रहा था। उनकी दृष्टि में इस प्रवृति से काव्य जीवन के समीप की वस्तु न रहकर कल्पना के रहस्यमय लोक में विलीन होता जा रहा था जो उनको पसन्द नहीं था। उन्होंने सम्पूर्ण व्यक्त जगत् को ईश्वर की क्रीड़ाभूमि माना है। वे जगत् की नाना प्रकार की व्यक्त एवं गोचर सत्ता को काव्याभिव्यक्ति का प्रमुख साधन मानते हैं और अगोचर एवं अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाशगंगा में तैरनेवालों, हृदय की नसों का सितार बजानेवालों, असीम प्रियतम के संग प्रलय-सा ताण्डव करनेवालों अथवा मुँदी नयन-

---

१. रस-मीमांसा—आचार्य शुक्ल, पृ० २७०।
२,३. चिंतामणि (प्र० भाग)—आचार्य शुक्ल, पृ० १४७, १४०–१४४।

पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखनेवालों[1] पर अविश्वास ही नहीं करते, अपितु उनके इस कार्य को काव्य-सृष्टि के प्रकृत स्वरूप के अन्तर्गत मानने से भी इन्कार करते हैं। उन्होंने किसी कविता को 'वाद' के दलदल में फँसाना नहीं चाहा। सच्ची कविता में जगत् की अभिव्यक्ति मानी, न कि 'वादों' का चक्कर। वादग्रस्त काव्य को अधिकतर काव्याभास कहा है। उन्होंने अपनी मान्यताओ द्वारा तत्कालीन छायावादी साहित्य में निहित रहस्यवादी प्रवृत्ति का विरोध किया है। 'छायावाद' एवं 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में उनका आक्षेप है कि—

(१) 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' शब्द काव्यवस्तु (मैटर) के सूचक हैं अतः काव्यवस्तु में कोई 'वाद' नहीं है, केवल व्यंजना-शैली के वैचिव्य का अनुकरण है, वहाँ 'अभिव्यंजनावाद' की नकल है।[2]

(२) व्यंजना-वैचित्र्य के प्रलोभन में भिन्न-भिन्न स्थानों से गृहीत वाक्यों एवं पद-विन्यास का असम्बद्ध और असंश्लिष्ट ढेर-सा दिखाई पड़ता है।[3]

(३) रहस्यवादी कविताओं में सचाई का अभाव (इन्सिन्सियरिटी) और व्यंजना की कृत्रिमता (आर्टिफिशियलिटी) का आधिक्य है।[4]

(४) छायावाद की कविताओं में छन्द-बन्ध का त्याग और लय (रिद्म) का आलम्बन है। यह अमेरिका के विद्वान् वाल्ट ह्विटमैन का अनुकरण है।[5]

शुक्लजी ने 'रहस्यवाद' का विरोध नहीं किया, पर हिन्दी काव्यक्षेत्र में रहस्यवादी कविता उसे माना जो 'वादों' से मुक्त होकर स्वाभाविक रहस्य भावना का आश्रय लेकर चले।[6]

उन्होंने 'अभिव्यंजना' को कलावादी सिद्धांत मानते हुए उसकी व्याख्या की है। अभिव्यंजनावादी क्रोचे का मत है कि कला में अभिव्यंजना ही सब कुछ है—अभिव्यंजना से अलग कोई और अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता।[7] शुक्लजी ने अभिव्यंजनावाद को अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़कर चलनेवाला माना है जो केवल कुतूहल उत्पन्न करता है। अभिव्यंजनावाद को उन्होंने वक्रोक्तिवाद का विलायती रूप माना है।[8] उन्होंने कलावाद का भी खुलकर विरोध किया है।

उनकी व्यावहारिक आलोचना भी समृद्ध है। इस समीक्षा के स्पष्टतः दो रूप दिखायी देते हैं। इस क्षेत्र में उनका सर्वप्रमुख कार्य साहित्येतिहासलेखन और द्वितीय प्रधान कार्य सूर, तुलसी और जायसी के सम्बन्ध में लिखी गयी समीक्षाओं का है। उन्होंने अनेक साहित्यिक मान्यताओं की स्थापना द्वारा हिन्दी साहित्य की अन्धकारावृत

१-३. चिन्तामणि (भा० २) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६१, १०८, १०९।
४-८. चिन्तामणि (भा० १)—आचार्य शुक्ल, पृ० १३३, १५७-५८, १६६, १८५, १०५।

निधि को प्रकाशित किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन और नामकरण का सुस्पष्ट एवं आधारभूत स्वरूप प्रस्तुत किया। समीक्षा को व्याख्यात्मक रूप प्रदान कर आलोचकों को स्वच्छ दृष्टि प्रदान की। उन्होंने समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना बताया है। वह जब होगी तब विचारात्मक ही होगी। कल्पना या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना से नहीं। पश्चिम में स्थूल रूप से विकसित निर्णयात्मक, निगमनात्मक और प्रभावाभिव्यंजक आलोचना पद्धति का समन्वित रूप उनकी आलोचना में दिखायी पड़ता है। प्रभावाभिव्यंजक आलोचना को उन्होंने ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं माना। समालोचना के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनों को अपेक्षित माना है।

'गोस्वामी तुलसीदास' नामक पुस्तक—जो तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका के रूप में लिखी गयी थी—में उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति के अनुसार तुलसाकालीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का वर्णन करके उनकी क्रियाप्रतिक्रिया के प्रभाव को तुलसी में खोजने का प्रयत्न किया है। आरम्भ के कई अध्यायों में तुलसी की भक्ति पद्धति, प्रकृति और स्वभाव, लोकधर्म और जातीयता का सम्बन्ध, मंगलाशा, लोकनीति और मर्यादावाद, शील-साधना और भक्ति, ज्ञान और भक्ति आदि में शुक्लजी ने ऐतिहासिक आलोचना पद्धति द्वारा तुलसी के काव्य की प्रेरणाओं, उद्देश्य तथा विचारभूमि का अन्वेषण और तर्कपूर्ण विवेचन किया है। भारतीय दृष्टि से उसकी रचनाशैली पर भी विचार किया है।

शुक्लजी ने 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिका द्वारा सर्वप्रथम जायसी की महत्ता से हिन्दी-जगत् को परिचित कराया। यह समीक्षा उनकी मौलिक, गम्भीर एवं तटस्थ आलोचनात्मक दृष्टि की परिचायक है। उन्होंने इस काव्य की समीक्षा ऐतिहासिक, भारतीय साहित्यशास्त्र एवं आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से को है।

'भ्रमरगीतसार' की भूमिका सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें किसी प्रसंग की योजना करते समय पहले सिद्धान्तों की स्थापना करके, उसके आधार पर व्यावहारिक आलोचना में वे प्रवृत्त हुए हैं। इस आलोचना में तुलनात्मक प्रसंग भी प्रस्तुत किये हैं, पर इस तुलना का उद्देश्य तुलनात्मक आलोचकों जैसा अपने मनोनुकूल कवि को श्रेष्ठ दिखाना नहीं है, अपितु प्रसग के स्पष्टीकरण के लिए यह पद्धति अपनायी गयी है।

उन्होंने तुलसी को तो श्रेष्ठ माना, पर सूर को उनसे नीचा नहीं दिखाया। उनके अनुसार तुलसी के काव्य में शैलियों की विविधता, जीवन-दशाओं की व्यापकता, आदर्श चरित्रों की ऊँचाई, लोकमंगल की भावना और सांस्कृतिक एकता तथा दार्शनिक समन्वय

की प्रवृत्ति जितनी अधिक है उतनी सूर के काव्य में नहीं मिलती।[1] फिर भी वे सूर के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते। वे तुलसी की प्रतिभा को सर्वतोमुखी और सूर को एकमुखी मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि 'एकमुखी होकर भी उन्होंने अपनी दिशा में जितनी दूरी तक दौड़ लगाई है उतनी दूरी तक तुलसी ने भी नहीं और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट् हैं।'[2]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

शुक्लोत्तर समीक्षकों में द्विवेदीजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे मानवतावादी समीक्षक हैं। उनका मत है कि "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[3] अपनी समन्वयात्मक मान्यताओं के समर्थन में पाश्चात्य एवं भारतीय सभी मतों को उन्होंने ग्रहण किया है। उनकी चिन्तन पद्धति आदर्शवादी है, पर दर्शन स्वच्छद और रूढ़िमुक्त।

उनके आविर्भाव के समय साहित्येतिहास एवं समीक्षा में दो प्रकार की विचार-धाराएँ आपस में टकरा रही थीं। पहली विचारधारा के प्रतिनिधि आचार्य शुक्ल थे, जिन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से नैतिकता को महत्त्व देते हुए साहित्य को युग-सापेक्ष माना और इसी के आधार पर सभी प्रकार की कृतियों का मूल्यांकन किया, दूसरी विचारधारा का प्रतिनिधित्व आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कर रहे थे। इस धारा के आलोचकों ने 'छायावादी' काव्यधारा के मूल स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की एवं नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि अपनाकर अपनी समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। "एक में लोकमंगल की भावना हिन्दू राष्ट्रीयता और पुनरुत्थानवाद बनकर रह गई थी तो दूसरे में वैयक्तिक सौंदर्य-चेतना ही 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त की सीमा तक पहुँच गई थी। पहला मतवाद महत्तावादी दृष्टिकोण (क्लासिकल आउट लुक) से अनुप्राणित था तो दूसरा रोमानी और प्रभाववादी दृष्टिकोण (रोमांटिक एण्ड इम्प्रेशिनस्ट आउट लुक) से।"[4] इन दोनों दृष्टियों में आपसी वैमत्य बहुत दिनों तक नहीं चला। हिन्दी साहित्य के

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भा० १३, पृ० ४४९।
२. भ्रमरगीतसार—संपा० आचार्य शुक्ल पृ० ३६।
३. अशोक के फूल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १७९।
४. हिन्दी आलोचना के आधार-स्तम्भ—संपा० डॉ० खण्डेलवाल और डॉ० गुप्त, पृ० १६०।

इतिहास एवं समीक्षा के क्षेत्र में दो नए दृष्टिकोण और सामने आये—पहला ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण था तो दूसरा मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण। पहले के जनक आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी थे तो दूसरे के डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान आदि। द्विवेदी जी की यह समीक्षा-पद्धति साहित्य को अपने आप में स्वतन्त्र मानकर नहीं चलती, अपितु उसे संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानती है। वे साहित्य को संस्कृति की भाँति परिवर्तनशील एवं प्रगतिशील मानते हैं।

भाषा पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने उसे सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक माना है। प्रतिभा का प्रादुर्भाव उन्होंने वंशपरम्परा एवं अन्य व्यक्तियों द्वारा उपलब्ध तथ्यों के ग्रहण द्वारा स्वीकार किया। काव्य की सामग्री को अपने आसपास के जगत् से ही संगृहीत करने वाले कवि को ही उन्होंने प्रतिभावान् कवि बताया है। उन्होंने काव्य को सामाजिक वस्तु माना है जिसका प्रयोजन दूसरे के चित्त में प्रभाव उत्पन्न करना है। वे भी मनुष्यता की उच्चभूमि की बात करते हैं। उनका कहना है कि "जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाए और सामान्य मनुष्यता के साथ एक करा के अनुभव कराए वही उपादेय है। उसके भाव-पक्ष के लिए किसी देशविशेष या कालविशेष की नैतिक आचार परम्परा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है।"[१]

द्विवेदी जी काव्य में 'रसलोक' की सृष्टि के समर्थक हैं। उनका कहना है कि 'जब तक रचयिता के चित्त में स्वयं रस की अनुभूति नहीं होती तब तक उसका चित्र दर्शक के हृदय में भी रस का उद्रेक नहीं कर सकता।'[२] उन्होंने सहृदय में भी रसानुभूति का होना आवश्यक माना है। उनका मत है कि केवल रसानुभूति की अवस्था में ही कलाकार का चित्त और अन्य इन्द्रियाँ बाह्य विषयों से विरत होकर अन्तर्मुखी होती हैं और समाधि की अवस्था में पहुँचाती हैं। उन्होंने रस को अलौकिक, लोकोत्तर या भावगम्य माना है। ये शकुन्तला आदि के प्रेम को लौकिक मानते हैं, पर नाटक या काव्यास्वाद से जो दुष्यन्त और शकुन्तला हमारे चित्त में बनते हैं उनको अलौकिक। उन्होंने रस की तीन स्थितियों का उल्लेख किया है—

१—कवि के अन्तर्गत भाव, २—विभाव द्वारा आहृत अर्थ, और ३—अभिनयों से दर्शक के चित्त में अनुभूत होने वाला रस।[३]

१-३. हिन्दी आलोचना का आधार स्तम्भ—संपा० डॉ० खण्डेलवाल और डॉ० गुप्त, पृ० १७६, १९३, १९६।

उन्होंने रस की पूर्णता वहीं मानी है जहाँ आश्रय के साथ श्रोता या दर्शक का तादात्म्य हो जाता है। इस स्थिति को शृंगार और वीररस में ही संभव माना है। इन रसों को अधिक भावात्मक माना है और अन्य रसों को कल्पनात्मक।

छायावादी आलोचक-परम्परा में आकर भी द्विवेदीजी उसकी मान्यताओं को व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत रूप में देखने के पक्षपाती हैं। उनको छायावाद की सीमा में ठीक से बाँधना कठिन है। उनमें अन्य विचार-परम्पराओं का भी अद्भुत संयोग है। उनकी 'कबीर', 'सूर' आदि कृतियों में ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के दर्शन होते हैं। व्याख्यात्मक-निर्णयात्मक समीक्षा का संतुलन बनाये रखना आलोचना के लिए अनिवार्य मानते हैं। "द्विवेदीजी की व्याख्यात्मक आलोचनाओं में छायावादी दृष्टि की भावतरलता, अनुभूतिगत गहराई पर बल देने की प्रवृत्ति, वैज्ञानिक दृष्टि की गहन विश्लेषणक्षमता, ऐतिहासिक आलोचना की शोधमूलक जिज्ञासा, समाजवादी आलोचना की सामाजिक सौंदर्य भावना और यथार्थोन्मुखता आदि सभी का सन्तुलित रूप दिखायी पड़ता है।"[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रभाववादी समीक्षा को ठीक-ठिकाने की वस्तु नहीं माना, पर द्विवेदीजी ने इसको महत्त्व देते हुए कहा है कि "आचार्य शुक्ल समीक्षा को बुद्धिमूलक चिन्तनप्रधान मानते हैं, यह उचित ही है, लेकिन वे इस बात को भूल जाते हैं कि काव्य की समीक्षा कितनी भी बुद्धिमूलक क्यों न हो वह भावयोग को समझाने का प्रयत्न करती है।"[२] उनमें कहीं-कहीं प्रभाववादी समीक्षा बहुत प्रांजल रूप में दिखायी देती है। ऐतिहासिक शोध एवं साहित्य-विवेचन दोनों का समन्वित रूप मुझे 'हिंदी साहित्य', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'हिंदी साहित्य की भूमिका' आदि में प्राप्त होता है। उनमें ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति का स्वच्छंद रूप से विकास मिलता है।

उनके सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक विचार उनके द्वारा रचित समीक्षात्मक पुस्तकों, साहित्य के इतिहास एवं निबंध-संग्रहों में प्राप्त होते हैं। उनके आलोचनात्मक साहित्य को साधारण रूप से दो भागों में रखा जा सकता है—(१) इतिहास-सम्बन्धी और (२) समीक्षा-सम्बन्धी। उनका व्यक्तित्व इतिहासकार एवं समीक्षक का मिश्रित व्यक्तित्व है। उनका 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ग्रंथ विशुद्ध आलोचना-ग्रंथ नहीं है, इतिहासपरक आलोचना-ग्रंथ है। सच पूछा जाय तो यह न विशुद्ध आलोचना है और न विशुद्ध इतिहास।[३] शोधों एवं स्थापनाओं से सामग्री ग्रहण करके द्विवेदीजी ने 'हिंदी साहित्य की भूमिका' एवं 'कबीर' नामक ग्रन्थ लिखे जिनमें संग्रहवृत्ति जितनी प्रमुख है उतनी काव्यालोचनवृत्ति नहीं।[४] शुक्लजी नाथ-सिद्धों के साहित्य एवं सन्तों की बानियों को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्थान नहीं देते, पर द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य के

१-४. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, १३वाँ भाग, पृ० ५०४, ५०९-५१०, ४४५, ३३६।

आभोग को और विस्तृत कर दिया एवं इस परम्परा को सिद्धों-नाथों तक खींचकर ले जाने का सुझाव दिया। उनका विशेष कार्य मध्ययुगीन कवियों पर ही रहा।

द्विवेदी जी की समीक्षा-पद्धति गवेषणात्मक है। 'कबीर' नामक उनकी पुस्तक शोध-मूलक ही है। तुलसी की समन्वयवादी दृष्टि में भी लोकहित की भावना देखते हैं, कबीर के वाह्याडम्बर-विरोधी स्वर में भी मानव-हित देखते हैं, सूर की अध्यात्मपरक दृष्टि में भी लोकमंगल की कामना देखते हैं। छायावादी नवीन वैयक्तिक चेतना में भी उन्हें मानव-उत्थान की नयी दृष्टि मिलता है और उन्हें प्रगतिवादी साहित्य में भी नये समाज के कल्याण का आग्रह लक्षित होता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य शुक्ल के प्रतिभाशाली समीक्षक-शिष्यों में आचार्य वाजपेयी भी हैं। उनका साहित्य-जगत् में आविर्भाव समीक्षक-व्यक्तित्व के साथ हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम निवन्ध था। भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं के आलोक में कवियों एवं साहित्य का उन्होंने मूल्यांकन किया, पर रूढ़ियों से मुक्त होकर। नैतिकता के स्थान पर उनकी दृष्टि सौन्दर्यबोधक है, इसीसे उन्हें सौष्ठववादी आलोचक कहा जाता है। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' और 'जयशंकर प्रसाद' पुस्तक उनके द्वारा विभिन्न समयों पर लिये गये निवन्धों के संग्रह हैं। शुक्ल जी के साहित्यिक प्रतिमानों पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "साहित्य, काव्य अथवा किसी कलाकृति की समीक्षा में जो बात सदैव स्मरणीय रखनी चाहिए, किन्तु शुक्ल जी ने जिसे बार-बार भुला दिया है, यह है कि हम किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं कर सकते। इस कार्य में उसका व्यापक अध्ययन, उसकी सूक्ष्म-सौन्दर्य दृष्टि और उसकी सिद्धान्त निरपेक्षता ही उसका साथ दे सकती है, सिद्धान्त तो उसमें बाधक ही वन सकते हैं।"[१] इससे स्पष्ट होता है कि वे क्रोचे के अभिव्यंजना और ब्रैडले आदि की कलावादी समीक्षा-पद्धति से प्रभावित हैं।

उन्होंने काव्य-सौन्दर्य और जीवन-दर्शन को अभिन्न माना है। उनका मत है कि 'सौन्दर्य ही चेतना है, चेतना ही जीवन है, अतएव काव्य का उद्देश्य सौन्दर्य का ही उन्मेष करना है।'[२] पर सौन्दर्य को अभिव्यंजना का ही मध्यवर्ती लक्ष्य माना है, उसका अंतिम लक्ष्य तो "सचेतन जीवन परमाणुओं को संघटित करना और दृढ़ बनाना है।"[३] यहाँ उनका मत ब्रैडले, स्पिगर्न आदि कलावादियों से भिन्न हो जाता है। शुक्ल जी ने काव्य में उपादान को महत्त्व दिया है तथा उपादान में ही सौन्दर्य माना है। वाजपेयी जी ने काव्य में उपादान को नहीं, निर्माण में माना है।[४]

१-४. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (१९४५)—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ८३,१४६,१४६,२००।

वाजपेयी जी भी रसवादी परम्परा के आलोचक हैं, पर उनकी रसदृष्टि परम्परा पर आधृत न होकर आधुनिक व्यापक भूमि पर आधृत है। रस को उन्होंने काव्यानुभूति का दूसरा नाम बताते हुए रसानुभूति को सुखदुःखात्मक माना है। वे 'राम' में ही नहीं 'रावण' में भी रसानुभूति का उल्लेख करते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की भाँति रसों का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया, किन्तु उनकी मान्यताओं के निरीक्षणानन्तर कहा जा सकता है कि वे रसवादी हैं। वे समस्त काव्य में कवि की आत्मानुभूति को ही कार्यरत मानते हैं। साधारणीकरण पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शन) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण में कवि-कल्पित समस्त व्यापार होता है, केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।"[1] रस का उन्होंने निरूपण मानवतावादी दृष्टि से किया है। उनका कहना है कि "जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है, तब हमारा आशय यह है कि प्रत्येक काव्य में यदि वस्तुतः काव्य है, तो मानव-समाज के लिए वह एक आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। 'रस' शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानवतावादी सत्ता से है।"[2] रस-निष्पत्ति के स्पष्टीकरण में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के प्रतिपादित मतवादों को उन्होंने प्रस्तुत किया है। कलावाद एवं उपयोगितावाद का उन्होंने विरोध किया है और कला की वाह्य सामग्री पर ध्यान देने के साथ ही उसके अन्तःघटक पर विशेष बल दिया है।

साहित्य और समाज के प्रगतिशील रूप पर विचार करते हुए उन्होंने काव्य का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में काव्य प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है।[3] कविता को उन्होंने सार्वजनीन एवं शाश्वत वस्तु माना है। उन्होंने काव्य एवं वाद दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं का अन्तर स्पष्ट किया है। वाद को एक स्थूल एवम् परिवर्तनशील जीवनदृष्टि माना है तथा काव्य को जीवनव्यापी अनुभूति। उनका मत है कि "कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करने वाली आत्म-प्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर उस कल्पना व्यापार का संचालन करती है जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता

---

१. आधुनिक साहित्य—आचार्य वाजपेयी, पृ० ३९९।
२. आलोचना, अंक २५—पृ० ५।
३. आधुनिक साहित्य—आचार्य वाजपेयी, पृ० ४३३।

में, समस्त वर्णभेद, वर्गभेद और वादभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानव-कल्पना का यह अनुभूति लोक नित्य एवम् शाश्वत है। चिरन्तन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है चिरकाल तक सींचती जायगी।"[1] इस प्रकार उन्होंने साहित्य को समाज की अनुभूति से निर्मित एवं चालित बताया है।

उन्होंने रस को न अलौकिक वस्तु माना और न 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त का विरोध ही किया। उनका मत है कि 'यूरोप में कला-कला के लिए कलावाद और भारत में अलौकिक रसवाद, रीतिबद्ध एवं जीवन-निरपेक्ष साहित्य के निर्माण में कारण बने। नये समीक्षक इस खतरे से अपरिचित नहीं हैं।'[2] वे भी इन नये समीक्षकों के अन्तर्गत हो आते हैं। वे साहित्य को परम्परा से मुक्त देखने के पक्षपाती हैं। उन्होंने प्रगतिवादियों के साहित्य में स्थापित वर्गवादी सिद्धान्त को साहित्य के लिए स्वीकृत नहीं किया। नवीन स्वच्छन्दतावादी साहित्यिक विचारधारा को गाँधीजी के सामूहिक सत्याग्रह-आन्दोलन का परिणाम माना है। छायावादी समीक्षा की कसौटी पर यदि उनको परखा जाय तो उनकी समीक्षा को प्रौढ़ एवं प्रांजल कहा जा सकता है। उनकी दृष्टि छायावादी अन्य समीक्षकों से स्वच्छ है, क्योंकि उन्होंने अन्य सैद्धान्तिक मतों को किसी न किसी रूप में आत्मसात् कर लिया है।

वाजपेयी जी शुक्ल जी की मान्यता से दूर और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के अधिक निकट दिखते हैं। उन्होंने क्रोचे की मान्यता के समर्थन में शुक्ल जी के मत का खण्डन भी किया है। उनका मत है कि "शुक्ल जी क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का विरोध करते हैं और कला-कला के लिए सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हैं, जबकि क्रोचे और ब्रैडले जैसे कलावादियों ने अभिव्यंजनावाद या कलावाद के मूल में उत्कृष्टतम मानसिक तत्त्व और प्रतिभा का अध्याहार कर दिया है।'[3] इस प्रकार कहा जा सकता है कि उनकी नवीन साहित्यिक दृष्टि नवीनतम पाश्चात्य सिद्धान्तों से किसी न किसी सीमा तक अनुप्रेरित एवं प्रभावित है।

व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका कार्य महत्त्वपूर्ण रहा है। 'हिन्दी-साहित्य', 'नया साहित्य : नए प्रश्न', 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', 'महाकवि सूरदास', 'आधुनिक साहित्य', 'जयशंकर प्रसाद', 'प्रेमचन्द' आदि उनकी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। इनमें उन्होंने कवि के व्यक्तित्व तथा उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के सौष्ठव का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन किया है। सन् १९३१ ई० में लिखे गये 'जयशंकरप्रसाद' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने छायावाद को एक नवीन सांस्कृतिक एवं

१,२. आधुनिक साहित्य—आचार्य वाजपेयी, पृ० ४४४, ३२३।

३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—आचार्य वाजपेयी, पृ० ७१।

दार्शनिक चेतना की देन बताते हुए स्पष्ट कहा है कि "छायावाद को हम आचार्य शुक्ल के अनुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक सांस्कृतिक मनोभाव का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन को नियोजना भी।"[१] उनकी दृष्टि मुख्यतः सौन्दर्यवादी है और समीक्षा-पद्धति स्वच्छन्दतावादी।

उनकी व्यावहारिक समीक्षा के विषय आधुनिक हिन्दी साहित्य के कवि, लेखक और उनकी कृतियाँ, नवीन प्रचलित साहित्य की विविध विधाएँ एवं काव्य-धाराएँ रही हैं। 'सूरदास' ग्रन्थ में उन्होंने महाकवि सूरदास की जीवनी, व्यक्तित्व, दार्शनिक सम्प्रदाय आदि के साथ उनके काव्य-सौन्दर्य का भी उद्घाटन किया है। उनकी दृष्टि में सूरदास एवं तुलसीदास दोनों महाकवियों का एक सा स्थान है। शुक्ल जी द्वारा नैतिकता के आधार पर सूर के प्रति दिये गये निर्णय को उन्होंने भ्रान्तिपूर्ण बताया है।

वाजपेयी जी ने प्रसाद जी के काव्य-विकास का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। उनकी काव्य-प्रवृत्तियों और काव्य-सौन्दर्य का तार्किक ढंग से विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि अनुभूति, सौन्दर्यबोध और दार्शनिक गाम्भीर्य आदि की दृष्टि से प्रसाद जी आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ चिन्तक एवं कलाकार हैं। उनके छायावाद में उन्होंने विशेष रूप से प्रकृति-रहस्यवाद माना और उसे छायावाद का अंग बताया। अतः, उनकी दृष्टि में "प्रसाद का रहस्यवाद शक्तिपूर्ण सुदृढ़ मानवता का विकास अपनी छत्रछाया में करता है, तथा अपर कोई लक्ष्य नहीं रखता। इसीलिए हम उसे प्राकृतिक (आरोप) रहस्यवाद कहते हैं, जो सूफी (परोक्ष) रहस्यवाद से स्पष्टतः भिन्न है।"[२] उन्होंने उनके नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम का भी उल्लेख किया है।

शुक्लजी एवं वाजपयीजी का वैमत्य निराला के काव्य-वैशिष्टय और उनकी उपलब्धियों पर प्रस्तुत समीक्षात्मक विचारधारा से स्पष्ट होता है। शुक्ल जी के अनुसार निराला ने सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान दिया है। अतः उनके प्रगीत मुक्तकों में संगीतात्मकता अधिक पायी जाती है। उन्होंने जटिल अर्थों को दूसरों तक पहुँचाने में निराला की पद-योजना को प्रायः अशक्त माना है। वाजपेयी जी ने इस योजना को प्रायः सशक्त माना है। उन्होंने निराला के विश्लेपण और मूल्यांकन में आलोचकों की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए कहा है कि "इस कवि के व्यक्तित्व और काव्य के निर्माण में ऐसे प्रभावों का सन्निवेश हुआ है जिसका विश्लेषण हिन्दी की वर्तमान धारणा-भूमि में विशेष कठिन किया है।"[३] उन्होंने निराला को हिन्दी काव्य का प्रथम दार्शनिक कवि

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—आचार्य वाजपेयी, पृ० १३३।
२. जयशंकरप्रसाद—आचार्य वाजपेयी, पृ० ७३।
३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—आचार्य वाजपेयी, पृ० १३७।

और सचेत कलाकार माना है एवं उनके विकास के मूल में भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्त्व को प्रधान बताया है।

उन्होंने महादेवी के काव्य में प्रकृति के व्यक्त सौन्दर्य की पकड़ और उसकी स्वरूप कल्पना को तो उच्चकोटि का बताया है, परन्तु उनकी चित्रण कला को उन्हें व्यक्त करने में असमर्थ। उन्होंने 'प्रेमचन्द' शीर्षक निबन्ध में उपन्यासकार की प्रतिभा और उसकी सीमाओं पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में प्रेमचन्द जी के पात्रों की गति-विधि यथार्थ का आभास लिए हुए जान पड़ती है। उनको यथार्थवादी कम आदर्शवादी अधिक मानते हैं। इस प्रकार वाजपेयी जी नवीन समन्वयवादी भावना पर आश्रित सौष्ठववादी समीक्षा के विकास का नया अध्याय खोलने का प्रयास करते हैं।

डॉ० नगेन्द्र

शुक्लोत्तर नवोदित सौंदर्यवादी समर्थ समालोचकों में डॉ० नगेन्द्र की गणना की जाती है। उनके सैद्धांतिक निबन्धों का संकलन उनकी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' में हुआ है। उनके विषय में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि उनको किस धारा के समालोचकों में स्थान दिया जाय। कहीं तो वे शुद्ध रूप से फ्रायड, एडलर और युंग के अनुयायी प्रतीत होते हैं, कहीं अभिव्यंजनावादी और कहीं कलावादी प्रतीत होते हैं, कहीं अभिव्यंजना पर सर्वाधिक बल देने वाले स्वच्छन्दतावादो और कहीं सौंदर्यवादी तथा रसवादी मालूम पड़ते हैं।[1] मुख्य रूप से उन्होंने काव्य की प्रेरणा, प्रयोजन," रचना प्रक्रिया और काव्य के तत्त्वों पर विचार किया है।

'काव्य की प्रेरणा' और 'साहित्य और समीक्षा' नामक निबन्ध में उन्होंन मनो-विश्लेपक आचार्यों के सिद्धान्तों—फ्रायड के काम सिद्धान्त, एडलर का क्षतिपूर्ति सिद्धान्त और युंग के जीवनेच्छा सिद्धान्त को काव्य-प्रेरणा-सम्बन्धी सत्य के अधिक निकट बताया है। इन मनोविश्लेषणवादियों के मत का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "स्वस्थ रूप में काम का उपभोग न करके उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है और अस्वस्थ रूप में काम अभुक्त रहकर साहित्य के मूलवर्ती भाव चित्रों की सृष्टि करता है।"[2] यह उद्धरण फ्रायड के उदात्ती-करण-सिद्धान्त का समर्थक है। उन्होंने अपने मत को स्वयं स्वतन्त्र न मानकर उपर्युक्त विद्वानों के मतों पर आश्रित बताया है।

उन्होंने साहित्य को जीवन से दो रूपों में सम्बद्ध माना है—एक क्रिया-रूप में, दूसरा प्रतिक्रिया-रूप में। क्रिया-रूप में वह जीवन की अनुभूति को अभिव्यक्ति है,

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, १३ वाँ भाग, पृ० २९१।
२. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ९।

और प्रतिक्रिया-रूप में इसका पोषक और प्रतिपालक।[१] वे अभिव्यक्ति को ही साहित्य का मूल तत्त्व मानते हैं। उनका मत है कि "आत्माभिव्यक्ति ही वह मूलतत्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी वृत्ति साहित्य बन पाती है।[२] वे संसार में आत्मा और अनात्मा दो तत्त्व मानते हैं। आत्मा अनात्मा के द्वारा अपने को व्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता है। यही जीवन है, अनात्मा के अनेक रूप हैं, इसलिए यह अभिव्यक्ति का प्रयत्न भी अनेक रूपात्मक होता है। उसमें आत्म की शब्दार्थ द्वारा अभिव्यक्ति साहित्य है।[३]

काव्य-प्रेरणा की भाँति काव्य-प्रयोजन, काव्यसर्जन प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी उनकी धारणाएँ मनोविश्लेषण-शास्त्रीय सिद्धान्तों पर ही आधृत हैं। वे साहित्य को जीवन की अन्तर्मुखी साधना मानते हैं। उनका मत है कि "स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य रहता है। वह जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजिकीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जाएगा।....साहित्य में जो महान् है वह दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है।"[४] भारतीय दर्शन में अहं का प्रयोग अहंकार के रूप में होता है। पर डॉ० नगेन्द्र ने जिसे अहं कहा है सम्भवतः वह फ्रायड का 'इड' ही है। क्योंकि 'इड' ही अपने भीतर संचित दमित वासनाओं को बाहर अभिव्यक्त करने के लिए चेतन मन से संघर्ष-रत रहता है। अतः विस्फोट 'अहं' का नहीं 'इड' का सम्भव है। फ्रायड और एडलर भी साहित्यकार का अन्तर्मुखी होना आवश्यक मानते हैं। अतः काव्य की रचना-प्रक्रिया में डॉ० नगेन्द्र का मत फ्रायड के सिद्धान्तों का अनुयायी है।

उन्होंने छायावादी काव्य को उच्चकोटि का काव्य नहीं माना है। उनका मत है कि छायावादी काव्य मूलतः कुंठा से प्रेरित है और कुंठा उच्चकोटि के काव्यों को जन्म नहीं दे सकती। फिर भी वे कहते हैं कि 'संसार का अधिकांश काव्य कुंठाजात ही है। उसकी तीव्रता उसके वैभव विलास का जन्म प्रायः कुंठा से ही होता है।'[५] आचार्य वाजपेयी की समीक्षा की त्रुटि का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि 'इस युग की सामाजिक कुंठाओं का विशेष रूप से सेक्स-सम्बन्धी कुंठाओं का प्रभाव उचित मात्रा में स्वीकार न कर सके।'[६] इस प्रकार उन्होंने कुंठाओं को काव्य का एक प्रमुख हेतु माना है। मनोविश्लेषणवाद और छायावाद दोनों अपने-अपने ढंग से व्यक्तिवाद के समर्थक हैं। अतः इन दोनों से प्रभावित डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य को वस्तुतः वैयक्तिक चेतना माना है।

१-६. विचार और अनुभूति— डॉ० नगेन्द्र, पृ० ११, ५२, ५३, ६६, ६०, १०५।

उन्होंने 'रस' पर विचार कर अपने को रसवादी आचार्य घोषित करने के लिए बहुत कठिन प्रयास किया है। उनका मत है कि 'साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है।'[१] उन्होंने कलाकृतियों का सापेक्षिक महत्त्व उनकी आनन्ददायिनी शक्ति पर आश्रित माना है।"[२] शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति को रस कहा है। रस का अर्थ व्यापक रूप में आनन्द से चलकर जीवन-पोषक तत्त्व तक है।[3] उन्होंने रस को साहित्य की आत्मा बताया और इसी की परीक्षा करना आलोचक का प्रमुख कर्तव्य माना।[४] वे रसानुभूति के सम्बन्ध में भारतीय साधारणीकरण-सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद तथा रोमैन्टिक सौन्दर्यवादी आलोचकों के सिद्धान्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं।[५]

उन्होंने रस की स्थिति कवि में मानना उतना ही अनिवार्य माना है जितना सहृदय में। उनका मत है—"काव्य पढ़कर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं अपनी अस्मिता का रस ले सका हो, नाटक में नट-नटी के विषय में भी यह सत्य मानना पड़ेगा।"[६] उन्होंने रस की स्थिति का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी निरूपण किया है।

उन्होंने साधारणीकरण का अर्थ काव्य की भावना द्वारा पाठक या श्रोता के भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना माना है। उन्होंने सर्वांग का साधारणीकरण माना है। आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करने की भी एक सीमा मानी है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के समस्त अवयवों में से एक आश्रय भी है। अतः रस के जहाँ सभी अवयवों का साधारणीकरण होता है, वहाँ पृथक् रूप से आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। शुक्लजी के 'आलम्बनत्व-धर्म का साधारणीकरण' वाले मत को भी परिमित बताया है। उनका कहना है कि "यह रस दृष्टि परम्परागत नैतिक मूल्यों से परिबद्ध है। सामान्यतः परम्परा और नैतिक मूल्यों का अनुशासन श्रेयस्कर ही होता है और काव्य-मूल्य उससे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकते, फिर भी

---

१. विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ३।
२,३. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३, १२।
४. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १३।
५. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, १३ वाँ भाग, पृ० २९५।
६. रस-सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १९१।

नैतिक मूल्य एवं साहित्यिक मूल्य पर्याय नहीं बन सकते ।' इस तरह तो भाव-क्षेत्र का विकास ही रुक जाएगा और 'मेघनाद वध' जैसे महान् काव्यों की रसवत्ता ही खण्डित हो जाएगी । ·· मानवता की वह दिव्य कांति, जो प्रथा एवं नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस दृष्टि के घेरे में नहीं आती, केवल माइकेल के साथ ही नहीं, सूर और तोल्सतोय जैसे कलाकारों के साथ भी अन्याय हो जाता है ।"[१]

उन्हें भट्टनायक का मत स्वीकार है जिसमें साधारणीकरण सर्वांश का मान्य है । निष्कर्षतः उन्होंने स्पष्ट किया है कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है । उसी कवि की अनुभूति साधारणीकृत हो सकती है जो अभिव्यक्त होने पर सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके । इस साधारणीकरण का आधार उन्होंने भाषा का भावमय प्रयोग बताया ।

डॉ० नगेन्द्र शुक्ल-युग के पश्चात् उत्तरोत्तर भारतीय पद्धति के 'रसवादी' होते गये हैं । आरम्भ में शुक्ल जी की रसवादी विचारधारा का विरोध उन्होंने अपनी संकुचित दृष्टि के कारण किया । उनकी आलोचना-दृष्टि वस्तु-परिमित थी और 'वस्तु एवम् अभिव्यंजना में अन्तर मानकर चलती थी ।'[२] इसी से ये उस समय प्रभाववादी, शास्त्रीय और वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय आवश्यक मानते थे ।[३] पर इन तीनों का समन्वय सम्भव न होने से भारतीय एवं पाश्चात्य शास्त्रीयता को अपना कर चलने लगे । अपनी मान्यताओं को शास्त्रसम्मत बनाने की प्रवृत्ति उनमें आरम्भ से ही थी, इसीलिए उन्होंने 'साहित्य और समीक्षा' शीर्षक निबन्ध में धर्म के चार लक्षणों—आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद को आलोचना के मूल सिद्धान्तों को स्थिर करने में सहायक माना है । समालोचना में भी वे साधारणीकरण को अनिवार्य मानते हैं ।

उनको रस का व्यक्तिवादी विवेचक कहा जा सकता है । वे साहित्य के सांस्कृतिक मूल्यांकन की ओर से प्रायः उदासीन भी कहे जा सकते हैं ।[४] उन्होंने रस-विवेचन में 'मैकडूगल' की प्रवृत्तियों की भी चर्चा की है और संस्कृत के नव रसों की मनोवैज्ञानिकता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है । उनके रस-विवेचन को भारतीय रस-सिद्धान्त की पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक पद्धति पर व्याख्या कहा जा सकता है । अतः इस क्षेत्र में उनकी दृष्टि मौलिक देन की न होकर व्याख्यात्मक ही रही है ।

---

१. रस-सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, पृ० २०८ ।
२, ३. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र, पृ० ५९, १६ ।
४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, १४ वाँ भाग, पृ० ४०६ ।

उनकी व्यावहारिक आलोचना का कार्य सैद्धान्तिक से अधिक रहा है। 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत एक अध्ययन', 'रीतिकाल और देव', 'देव और उनकी कविता' आदि उनकी व्यावहारिक समीक्षात्मक पुस्तकें हैं। व्यावहारिक समीक्षा-क्षेत्र में अभी रस का वह व्यापक मानदण्ड नहीं वन पाया है। 'आरम्भ में मात्र संवेदनाओं के सौष्ठव का साक्षात्कार तथा उसका शास्त्रीय एवम् मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नगेन्द्र जी की प्रायोगात्मक समीक्षा के प्रधान तत्त्व रहे।'[१] छायावादी कवि ही उनके हृदय के अधिक निकट ठहरते हैं। उत्तरोत्तर उनके काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रौढ़ होते जा रहे हैं।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

स्वच्छन्दतावादी सौंदर्यवादी आलोचकों का एक वर्ग ऐसा रहा जिसने विश्लेषणात्मक शैली न अपनाकर प्रभावात्मक एवं काव्यात्मक शैली अपनायी। इस वर्ग के प्रतिनिधि आलोचक द्विवेदी जी हैं। उन्होंने शास्त्रीय आधार पर कविता का मूल्यांकन न कर आलोच्य काव्य या प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उसकी विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इसी से उनको प्रभाववादी समीक्षक कहा गया है। उन्होंने पन्त एवं शरत्चन्द्र को अपनी आलोचना का प्रतिमान माना।

उन्होंने जीवन और साहित्य के अनोन्याश्रय सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार "साहित्य का जन्मस्थान जीवन ही है। इस मौलिक क्षेत्र से विच्छिन्न होकर साहित्य केवल शाब्दिक रह जाता है, जीवन नहीं रह जाता। वह उत्स रहित उत्सव की तरह है, मृगजल है।"[२] उन्होंने कला का लक्ष्य जीवन के सत्य एवं शिव को सुन्दर बनाकर उपस्थित करना माना है। कला-सम्बन्धी उनकी मान्यता कलावादियों एवं अभिव्यंजनावादी क्रोचे की मान्यता से पूर्ण भिन्न है। "कला लक्ष्य नहीं, लक्षण है, साध्य नहीं, साधन है, अभिप्रेत नहीं, अभिव्यक्ति है। लक्ष्य या अभिप्रेत तो जीवन है, जिसे मानव समाज अनेक प्रकार से पाने का प्रयत्न करता है। साहित्य भी उनमें से एक प्रकार है।....कला साहित्य का वाह्य रूप है, जीवन उसका अंतःस्वरूप। कला अभिव्यक्ति है, जीवन अभिव्यक्त।"[३] वस्तुतः द्विवेदी जी का सौंदर्यबोध वस्तु और चेतना दोनों के सामंजस्य एवं अन्वितिपूर्ण प्रभाव को प्राथमिकता देता है। उन्होंने कलावादियों द्वारा प्रतिपादित कला के सिद्धांत का खंडन किया है।

उन्होंने कविता का 'अंतर्जगत् की वाणी', 'भावनाओं का सुघरतम रूप' और 'हमारे हृदय की साँस' माना है। इस प्रकार वे कविता को आत्मव्यंजक मानते हैं,

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, १४ वाँ भाग, पृ० ४०७।
२. सामयिकी—शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० ९५।
३. संचारिणी—शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० ८९।

वस्तुव्यंजक नहीं। वे छायावादी कविताओं की विशेषताओं से प्रभावित हैं। छायावादी कवियों की भाँति ही उन्होंने वस्तुजगत् से भावजगत् को कविता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने रस-सिद्धांत को आत्माभिव्यंजन के सिद्धांत से मिलाने का प्रयास किया है।

द्विवेदी जी ने साधारणीकरण पर भी विचार किया है, पर उनकी मान्यता शास्त्रीय रसवादियों की मान्यता से भिन्न है। रसवादियों ने भावों और विभावों को रस का प्रमुख अवयव माना है, पर सौंदर्यवादी, स्वच्छन्दतावादी समीक्षा में भाव के स्थान पर आत्मानुभूति या स्वानुभूति को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। अनुभूतियों में भाव कहीं परिस्फुट होते हैं, कहीं प्रच्छन्न और कहीं-कहीं तो उनमें संवेदनाओं एवं प्रभावों का जटिल रूप ही वर्तमान रहता है। यह अस्पष्टता सामान्य पाठक समझ नहीं पाता। ऐसी स्थिति में वह आश्रय (कवि) के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता जिससे साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति नहीं हो पाती। द्विवेदी जी के अनुसार कविता में यह अस्पष्टता कहीं-कहीं आवश्यक हो जाती है। उनकी दृष्टि में "कविता सुन्दरी को भी कभी-कभी अवगुंठन की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए कि उसकी शोभा थी एक कुलवधू की सलज्ज मुसकान की तरह संयमित, गूढ़, गम्भीर एवं प्रतिक्षण नवीन बनी रहे।"[1] छायावादी कविता में लाक्षणिकता, व्यंजना और प्रतीक पद्धति की अधिकता इसी मान्यता के कारण है। कला की दृष्टि से जो कविताएँ अस्पष्ट लिखी जाती हैं। वे सर्वसाधारण की नहीं, केवल भावुक सहृदयों के प्रेम की वस्तु होती हैं।[2]

पंत जी समयानुकूल अपने में मोड़ लाये। उसी के साथ द्विवेदी जी की आलोचनात्मक दृष्टि में भी परिवर्तन होता गया। इसी से कतिपय आलोचकों का कहना है कि शांतिप्रिय द्विवेदी की विचार-सरणियों में भी कवि पंत के काव्य विकास की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है।[3] 'युग और साहित्य' में उनकी विचारधारा तत्कालीन प्रगतिशील आन्दोलन से प्रभावित है। उनको प्रभाववादी प्रवाह का ही समीक्षक कहा जाता है। उन्होंने प्रभाववादी समीक्षा को अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिफल माना है तथा इसमें भावुकता के साथ शिल्प-प्रवीणता को भी वर्तमान माना है।

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य में प्रचलित छायावादोत्तर प्रगतिशील आंदोलन के प्रमुख कर्णधारों में रहे हैं। उन्होंने मार्क्स के मतों को ही अपना उपजीव्य बनाकर आन्दोलन के क्षेत्र में प्रवेश किया। वे प्रगति की एक परम्परा सम्पूर्ण प्राचीन

१,२. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास, १३ वाँ भाग, पृ० ३०२, ३०३।

३. हिंदी के आलोचक—सम्पादिका शचीरानी गुर्टू पृ० १९२।

साहित्य में देखते हैं और यथार्थ को काव्य का आधार-स्तम्भ मानते हैं। मार्क्सवादियों की भाँति ही उन्होंने शोषण एवं उत्पीड़न के पूँजीवादी स्वरूप की पूर्णरूप से भर्त्सना की है। ये नवीन समाज-सर्जना के पक्षपाती हैं और साहित्य को भी प्रगतिशील दृष्टि से देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य द्वारा ही जनता का कल्याण सम्भव है। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य में राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय तत्त्वों का समावेश माना है।

उनकी दृष्टि में कलाकार समाज की विरोधी शक्तियों का प्रत्यक्षदर्शी एवं कुछ सीमा तक भुक्त-भोगा जीव होता है। अतएव उसकी कृतियों में यथार्थ के प्रति श्रद्धा एवं अयथार्थ के प्रति विद्रोह की भावना निहित रहती है। मार्क्स ने सौन्दर्यचेतना को संवेदना का एक स्वर माना है और इस सौन्दर्यचेतना का मूल स्रोत मानवीय व्यापारों की समग्रता या वस्तुजगत् के प्रति मानवीय प्रक्रिया को माना है। शर्मा जी ने भी साहित्य में रूप-सौष्ठव का होना आवश्यक माना है, पर उस सौष्ठव को विषयवस्तु से पृथक् नहीं माना। मार्क्स ने सौन्दर्यबोध और लालित्य बोध की प्रक्रिया का उतना विरोध नहीं किया जितना उनके परवर्ती कतिपय मार्क्सवादियों ने किया। शर्मा जी ने सौन्दर्य को वस्तुगत माना है और इसमें प्रकृति, मानव-जीवन और ललितकलाओं के आनन्ददायक गुण का समावेश बताया है।

उन्होंने सामाजिक परिवर्तनशीलता में सामाजिक द्वन्द्व को विशेष महत्त्व दिया है। इस परिवर्तन में कुछ पुराने तत्त्वों का ह्रास एवं नये तत्त्वों का आविर्भाव होता रहता है। उन्होंने इसी में सौन्दर्य की सत्ता मानी है। उन्होंने समाज में प्रमुख रूप से पूँजीवादी एवं श्रमिक दो वर्गों का अस्तित्व माना है और बुद्धिजीवी वर्ग की पृथक् सत्ता न मानकर उन्हीं दोनों में से किसी एक का अंश माना है। उनकी दृष्टि से श्रमिक वर्ग यदि समाज का हाथ है तो बुद्धिजीवी वर्ग उसकी आँख। ये दोनों एक दूसरे के सहयोग से ही कर्मशील रहते हैं। साहित्य को समाज-सुधार का प्रबलशास्त्र माना है। इसलिए उन्होंने एक ओर साहित्यकार से पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध, इसके शोषण, उत्पीड़न एवं अमानवीय व्यवहार के तिरस्कार आदि की अपेक्षा रखी तो दूसरी ओर उसे क्रांति का अग्रदूत भी माना। गाँधीवाद को पूँजीवाद का संरक्षक माना है।

साहित्य की दृष्टि से उन्होंने भाव और कलापक्ष दोनों पर दृष्टिपात करते हुए भावपक्ष की महत्ता प्रतिपादित की। उनकी काव्य में रस की सत्ता तो स्वीकार है, पर उसे वे अलौकिक में फँसने देना नहीं चाहते। उन्होंने रसानुभूति को विषय की प्रकृति एवं उसके चिन्तन करने वाले व्यक्ति के अनुसार पृथक्-पृथक् माना है।

उनके आलोच्य-विषय अधिकतर वर्तमान युग के कवि एवं लेखक रहे हैं। इसके साथ ही उन्होंने तुलसी की प्रगतिशीलता और बिहारी की प्रतिगामिता को भी स्पष्ट किया है। वे रूप के प्रशंसक समीक्षक को समीक्षक की श्रेणी में स्थान नहीं देते।

छायावादी काव्य को उन्होंने सामाजिक आधार पर परखा और छायावादी कवियों में निराला जी को विशेष महत्त्व दिया।

'हिन्दी आलोचना का ऐतिहासिक विकास क्रम' वाले अध्याय में अब तक की प्रचलित सभी समीक्षा-पद्धतियों एवं उस पद्धति के प्रमुख आलोचकों पर विचार किया गया है, पर प्रस्तुत अध्याय में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की युगीन समीक्षा-पद्धति के प्रतिनिधि समीक्षकों की समीक्षात्मक दृष्टि का विश्लेषण अपेक्षित था। इसी तत्कालीन समीक्षात्मक दृष्टि में मिश्र जी की क्या भूमिका रही है इसका विवेचन किया जाता है।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का प्रयोजन ही है हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में मिश्र जी की भूमिका का विवेचन करना। इसलिए प्रस्तुत अध्याय में उनकी समीक्षात्मक दृष्टि का संक्षेप में कथन होगा।

मिश्र जी की काव्यशास्त्रीय दृष्टि मुख्य रूप से उनकी पुस्तक 'वाङ्मय-विमर्श' एवं 'काव्यांग्य-कौमुदी' (तीन भाग) में संगृहीत है। व्यावहारिक आलोच्य पुस्तकें, सम्पादित पुस्तकों की भूमिकाएँ एवं हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में भी यथास्थान उनकी सैद्धान्तिक दृष्टि के दर्शन होते हैं। अपने 'वाङ्मय-विमर्श' में उन्होंने पाश्चात्य-समीक्षा-सिद्धांतों पर भी विस्तृत रूप से विचार किया है।

शुक्ल-युग के पश्चात् शुक्लसमीक्षा-पद्धति कुछ परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप में विकसित होती रही। "उनकी वैधानिक समीक्षा-पद्धति बड़ी खूबी के साथ मिश्र जी ने संवर्धित की है। इनमें उच्चकोटि की शास्त्रीय अभिज्ञता भी है।"[१] उनकी सैद्धांतिक समीक्षा पर उनके दो गुरुओं—दीन जी एवं शुक्ल जी—के मतों का प्रभाव पड़ा है।

मिश्रजी की समीक्षात्मक दृष्टि को तीन वर्गों में रखकर परखा जा सकता है—पहला वर्ग है सैद्धांतिक दृष्टि, दूसरा साहित्येतिहासलेखन एवं कवियों का मूल्यांकन और तीसरा सम्पादन एवं टीकाकार्य। उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र एवं शुक्ल जी के सम्बन्ध में फैली भ्रांतियों का बहुत ही सावधानी से समाधान किया है।

उन्होंने काव्य के स्वरूप, वर्ण्य-विषय, लक्षण, हेतु, विभाग, रस-निष्पत्ति, कार्य, सौन्दर्य आदि पर विचार किया है। काव्य की प्रक्रिया का संचालन कृति, कर्ता और ग्रहीता के मध्य माना है और इस प्रक्रिया को पूर्ण रूप देने के लिए कर्ता और ग्रहीता को सहृदय होना आवश्यक बताया है। मूलतः वे रसवादी समीक्षक हैं और रसदृष्टि से ही काव्य के स्वरूप का निर्धारण भी करते हैं। भावों की योजना करके रसमग्न करने

१. [काव्यालोचन विशेषांक]—आलोचना—वर्ष ७, अंक १, जन १९५९, पृ० ३९८।

वाली रचना अथवा थोड़े में रमणीयता[1] उत्पन्न करने वाली रचना को काव्य कहा है। उनकी यह परिभाषा साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ एवं पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषा का समन्वित रूप है। काव्य का चरमलक्ष्य हृद्गत वृत्तियों का परिष्कार या शोधन माना है, जो शुक्ल जी के हृदय की मुक्तावस्था के निकट है।

मिश्र जी ने अनुभूतियों को दो प्रकार की बताया—एक काव्यानुभूति और दूसरी प्रत्यक्षानुभूति। काव्यानुभूति एवं रसानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से अपेक्षाकृत शुद्ध एवं परिष्कृत माना है। काव्यानुभूति में मन के रमने से सुखात्मक या दुःखात्मक किसी प्रकार के भाव की अनुभूति के समय मन की केवल एक ही स्थिति होती है। प्रत्यक्षानुभूति की चेष्टाएँ ही काव्यानुभूति में अभिव्यक्त होती हैं।

रस-निष्पत्ति के लिए तीनों अवयवों—विभाव, अनुभाव, एवं संचारी भाव—को आवश्यक माना, पर इनमें भी विभावपक्ष को अधिक महत्त्व दिया। रस की स्थिति पाठक या दर्शक में मानी जो अभिनवगुप्त के मत के अधिक निकट है। काव्य की त्रिकोणात्मक स्थिति बताते हुए कहा कि जो साधारण नहीं है, असाधारण या विशेष है उसे साधारण या सामान्य करने की क्रिया ही साधारणीकरण है।

शुक्ल जी ने आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण माना। इस मत पर अनेक आलोचकों ने आक्षेप किये क्योंकि उनकी दृष्टि शुक्ल जी की व्यापक दृष्टि तक पहुँचने में असमर्थ रही। मिश्र जी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि यदि 'धर्म को छोड़कर 'धर्मी' की चर्चा की जाय तो व्यक्ति का विशेष या असाधारणत्व ही हटता है, 'धर्म' की चर्चा द्वारा उसे कर्ता-निर्माता से जोड़ लिया गया है।[2] उन्होंने उनके साधारणीकरण को 'कविकर्म सापेक्ष' बताया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी की मान्यता उनको स्वीकार्य है।

उन्होंने भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस को माना है। वे काव्य को लौकिक भूमि की वस्तु मानते हैं। उनकी दृष्टि में रस लौकिक भूमि है, अलौकिक नहीं।[3] भारतीय रसवादियों की 'अलौकिकता' को भी वे लोक का अनुभव ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्यानुभूति या रसानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से पृथक् करने के लिए 'अलौकिक' कहा गया है।[4]

उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र को श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य के आधार पर दो प्रवाहों—चारुत्वमूलक और अनुभूतिमूलक—में विभाजित किया है। चारुत्वप्रवाह को

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ३।
२. चिन्तामणि-मञ्जूषा—आचार्य मिश्र, पृ० ६४।
३. हिन्दी का सामायिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ५८२।
४. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ३५०।

कर्ता और वर्ण्यविषय से तथा अनुभूतिप्रवाह को ग्रहीता और अनुकार्य से सम्बद्ध माना है। प्रथम के अन्तर्गत अलंकार, गुण, रीति को तथा दूसरे के अन्तर्गत रस, ध्वनि, औचित्य और अनुमिति को प्रतिष्ठित किया है। उनकी दृष्टि में जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर चलता है वह अधिक दिन तक नहीं ठहरता।[1] साहित्य में समष्टि दृष्टि को ही प्रधान माना है। उन्होंने साहित्य का विचार औचित्य की दृष्टि से करना उपयुक्त समझा है और मर्यादा को उसके लिए अपेक्षित और अनिवार्य बताया है। उन्होंने साहित्यकार को 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' की दृष्टि अपनाने का परामर्श दिया है।

अद्यतनकाल में प्रचलित काव्यधाराओं में से स्वच्छंदतावाद को अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि 'यदि कोई मूलतः स्वच्छंदतावादी है तो उसका अन्य वादों के साथ आना जाना काव्य को बिगड़ने नहीं देता, पर यदि वह अन्य वादों के चक्कर में अपना मूलरूप ही खो बैठता है तो उसकी रचना काव्य की सीमा का अतिक्रमण करने लगती है।[2] उनको व्यक्तिवादी तो मानते हैं, पर समाज-विरोधी नहीं। उनकी दृष्टि में उसमें वक्रता तो है, पर कुटिलता नहीं। प्रगतिवाद के आविर्भाव का हेतु रहस्यवाद-छायावाद का जीवन से विलग्न होकर चलना माना।

उन्होंने काव्य में अलंकार का प्रयोग साधन के रूप में बताया है, साध्य के रूप में नहीं। वे इसे अभिव्यंजना की शैली मात्र मानते हैं। उनका मत है कि 'भाव यदि शरीर है, तो अलंकार (शैली) उसका झलझलाता हुआ बाह्य रूप है। अलंकारों का कविता से आभूषणों के समान अलग अस्तित्व नहीं। अलंकार सौन्दर्य है, शब्द हाड़-मांस हैं, भाव शरीरी है।[3] भाषा को भाषानुकूल होना चाहिए।

मिश्र जी ने हिन्दी साहित्य के रीतिकाल को अपना विवेच्य विषय बनाकर बहुत से 'डूबतों को तिराया' है। केशव, बिहारी, पद्माकर, भूषण, रसखानि, घनआनन्द, भिखारीदास, बोधा, ग्वाल आदि कवियों की कृतियों का आलोचन एवं सम्पादन कर ग्वाल के अतिरिक्त सभी को प्रकाशित करा दिया है। इन ग्रंथों के मूल्यांकन में उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों, भाव या रस, अलंकार, छन्द, गुण, औचित्य, भाषा आदि का अवलंब लिया है।

आधुनिक व्यक्तिवादी आलोचक 'रीतिकाल' के साहित्य एवं साहित्यकारों को परम्परावादी अर्थात् संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकर्ता मात्र मानते हैं। इसके स्पष्टीकरण में मिश्र जी का मत है कि भारतीय साहित्य का अवलोकन भारतीय दृष्टि से करना ही उचित होगा। रीतिकाल को हेय दृष्टि से देखने वालों के पास वस्तुतः अपनी भारतीय दृष्टि न होकर पाश्चात्य दृष्टि ही रही है।

१,२. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० १,२।४।

३. भूषण—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १-५।

हिन्दी साहित्य के इतिहास—लेखन द्वारा मिश्र जी ने शुक्ल जी द्वारा अपूर्ण अनेक कार्यों को पूरा किया। शुक्ल जी ने कहा था कि हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल को रस के आधार पर 'श्रृंगारकाल' कहा जा सकता है। मिश्र जी ने पुष्ट-प्रमाणों द्वारा इस नामकरण का समर्थन किया। विभाजन में 'रीति' शब्द को अपनाकर शुक्ल जी के प्रति श्रद्धा का निर्वाह किया।

उनके समीक्षात्मक ग्रंथ एवं ग्रन्थों की प्रस्तावनाएँ अधिकतर अनुसंधानपरक हैं। उनकी शोधात्मक प्रवृत्ति ने उपेक्षित हिन्दी साहित्य के रीतिकाल को नव यौवन प्रदान कर उसे हिन्दी साहित्य का सबसे समृद्धिशाली युग प्रमाणित कर दिया। उनकी आलोचना की व्याख्यात्मक पद्धति इतिहासमूल एवं अनुसन्धानोन्मुख रहती है।

वर्तमान युग के सभी समीक्षक शुक्ल जी की दृष्टि को किसी न किसी रूप में ग्रहण कर ही साहित्य क्षेत्र में स्वकीय मान्यताओं की स्थापना करने में समर्थ हो सके हैं। शुक्ल की जी सम्यक् व्यापक दृष्टि को पकड़ने की क्षमता किसी में नहीं थी। वे उनकी दृष्टि की पलक पकड़ कर अपनी खंडनात्मक प्रतिभा का प्रयोग करते हैं और इसी को अपने समीक्षक व्यक्तित्व की प्रौढ़ता मानते हैं।

यदि शुक्ल जी की दृष्टि तक पहुँचने में किसी को सफलता मिली तो आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र को। चिन्तामणि की भूमिका लिखने के लिए प्रेरित करने हेतु पण्डित उदयनारायण तिवारी ने मिश्र जी को पत्र में लिखा था कि "आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं उनकी शैली का मूल्याकन करने वाला आज मुझे हिन्दी संसार में कोई अन्य व्यक्ति नहीं दिखाई देता। जिस प्रकार आपने उनके इतिहास में कुछ जोड़कर उसे पूर्ण बनाया है, उसी प्रकार इसे भी पूर्ण बनावें।" इसी प्रेरणा का प्रतिफल है उनकी 'चिन्तामणि-मंजूषा।'

मिश्र जी परम्परावादी आलोचक नहीं हैं। उनका चिन्तन परम्परा से प्रेरित होते हुए भी नवीन है। रूढ़ियों के आप कतई कायल नहीं हैं। प्रगतिशीलता को स्वीकार करते हैं किन्तु प्रतिक्रिया या विरोध के रूप में नहीं, अपितु परम्परा के सहज विकास की दृष्टि से।[१] उनकी साहित्यिक प्रतिभा को स्वच्छन्दतावादी विचारक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "जिनका समस्त साहित्यिक लेखन 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई' पंक्तियों को चरितार्थ करता है।"[२] इस प्रकार उनके स्थान का निर्धारण स्वतः ही हो जाता है।



१. राष्ट्रभाषा संदेश, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) भाग ११, अंक १२–१४, १–२–७७, पृ० ३४।

२. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, समर्पण।

पंचम अध्याय

इतिहासपरक लेखन एवं कवियों का मूल्यांकन

पूर्वपीठिका

किसी भी देश के साहित्य को पूर्णरूपेण समझने के लिए वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति को समझना आवश्यक है। साहित्य चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। यह चित्तवृत्ति राजनीतिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों से प्रभावित होने से परिवर्तित होती रहती है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।

यद्यपि पाश्चात्य साहित्य में साहित्यिक इतिहास लेखन का कार्य सत्रहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ, पर हिन्दी साहित्य में यह कार्य अति आधुनिक है। हिन्दी साहित्य में इतिहास लेखन का प्रयास १९ वीं शती के अन्तिम दशक से आरम्भ हुआ। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ ई० में हिन्दी के कवियों का एक वृत्तसंग्रह प्रस्तुत किया था। उनके पश्चात् डॉ० ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान' के नाम से सन् १८८९ ई० में वैसा ही कविवृत्त-संग्रह प्रस्तुत किया।

हिन्दी-साहित्य में प्रौढ़ इतिहास-लेखन का कार्य बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों से आरम्भ हुआ। इस कार्य में काशी नागरीप्रचारिणी सभा का प्रयास श्लाघनीय रहा है। सरकार की आर्थिक सहायता से उसने प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज देश के अनेक भागों के राजपुस्तकालयों तथा अन्यत्र सुरक्षित हस्तलेखों के विवरण-संग्रह द्वारा की। सन् १९०० ई० से लेकर सन् १९११ ई० तक उसने अपनी आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात एवं ज्ञात कवियों की अज्ञात पुस्तकों का पता लगाया। मिश्रबन्धुओं ने सारी सामग्री का उपयोग करके एक बहुत बड़ा कविवृत्त-संग्रह किंचित् आलोचना के साथ 'मिश्रबन्धु विनोद' नाम से सन् १९१३ ई० में प्रस्तुत किया जिसमें समकालीन कवियों और लेखकों का भी समावेश किया। इसका प्रकाशन पहले तीन भागों में हुआ।

विश्वविद्यालयों में जब से हिन्दी को उच्चशिक्षा का आरम्भ हुआ तब से उसके साहित्य के शृंखलाबद्ध इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव छात्र एवं अध्यापक दोनों कर रहे थे। इस कमी को पूरा करने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १९८६ वि० में अपना 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रस्तुत किया, जो

पहले 'हिन्दी शब्दसागर की भूमिका' के रूप में था। इसके पश्चात् हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा ही चल पड़ी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने संवत् २०१० वि० में हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास लिखने की योजना बनाई। हिन्दी साहित्य का यह वृहत् इतिहास सत्रह भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय से लेकर अद्यतन काल तक का क्रमबद्ध एवं धारावाहिक विवेचन इन भागों में हुआ है। इसके प्रथम भाग का प्रकाशन हिन्दी साहित्य की पीठिका के रूप में सं० २०१४ वि० में हुआ।

साहित्येतिहास-लेखन की इस परम्परा में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र भी पीछे नहीं रहे। साहित्यिक तथ्यों के अनुसन्धानात्मक इतिहास-लेखन-सम्बन्धी उनके विचार उनकी भारतीय-शास्त्रीय-सैद्धान्तिक रुचि के परिवेश में ही उजागर हुए। उनके साहित्येतिहास-सम्बन्धी विचार उनकी अनेक पोथियों की प्रस्तावना और भूमिका के रूप में भी बिखरे हुए हैं। इतिहासपरक दृष्टि से उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य का अतीत' (दो भागों) में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने समय-समय पर लिखे गये फुटकल निबंधों का संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नाम से इस प्रकार संगृहीत किया कि वह आधुनिककाल के इतिहास के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। इस पुस्तक की कमी उनके 'वाङ्मय विमर्श' नामक पुस्तक से पूरी हो जाती है। उनके आदिकाल एवं पूर्वमध्य-काल सम्बन्धी विचार 'हिन्दी साहित्य का अतीत' प्रथम भाग में और उत्तर मध्यकाल-सम्बन्धी विचार 'हिन्दी साहित्य का अतीत' द्वितीय भाग में एवं बिहारी, भूषण, घन-आनन्द ग्रन्थावली, केशव ग्रन्थावली, भिखारीदास-ग्रन्थावली, पद्माकर-पंचामृत आदि ग्रन्थों की भूमिका में मिलते हैं।

साहित्येतिहास के साथ साहित्यालोचन को भी सम्बद्ध माना जाता है। साहित्य के इतिहास में समस्त विधाओं के साथ साहित्यालोचन का भी कालक्रमानुसार सुसम्बद्ध परिचय मिलता है। दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध हैं, पर दोनों विधाओं को पृथक्ता को नकारा भी नहीं जा सकता। साहित्य के इतिहास का विषय किसी कृति या कृतिकार की आलोचना करना नहीं है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।[1] व्यावहारिक दृष्टि से अधिकांश साहित्येतिहासकार युगविशेष की प्रवृत्तियों के निरूपण के साथ ही युगीन कृतिकारों पर भी संक्षेप में आलोचना प्रस्तुत करते रहे हैं। आचार्य शुक्ल का इतिहास भी इससे अछूता नहीं। आचार्य मिश्र के साहित्येतिहास-सम्बन्धी विचारों एवं शोधों में इसी पद्धति का सुसंस्कृत और परिवर्धित रूप दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६।

अपेक्षित न होते हुए भी साहित्येतिहास में आलोचना भी उपलब्ध होती है। ऐतिहासिक आलोचना का आधार भी साहित्येतिहास ही है। अतः साहित्येतिहास और साहित्यालोचन में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उनका व्यक्तित्व मूलतः समीक्षक का रहा है; इसीलिए वे प्रौढ़ एवं सुसम्बद्ध साहित्येतिहास प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं।

कालविभाजन एवम् नामकरण

एक विशाल जनक्षेत्र में दीर्घकाल से प्रचलित भाषा के साहित्य का काल-निर्धारण और नामकरण का प्रश्न विवादास्पद ही रहा है। आचार्य शुक्ल से पूर्व नामकरण का पुष्ट वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त नहीं होता। प्रायः प्रमुख रचनाकारों के नाम पर ही नामकरण होता रहा। सर्वप्रथम ग्रियर्सन ने प्रवृत्तियों को आधार मानकर नामकरण का प्रयास किया। बाद में उसी पद्धति पर आचार्य शुक्ल ने अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक नामकरण प्रस्तुत किया। उन्होंने हिन्दी साहित्य के लगभग एक सहस्र वर्षों के काल को चार भागों में विभाजित किया है—

१. आदिकाल (वीरगाथाकाल, सं० १०५० से १३७५ वि० तक)।
२. पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल, सं० १३७५ से १७०० वि० तक)।
३. उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल, सं० १७०० से १९०० वि० तक)।
४. आधुनिककाल (गद्यकाल, सं० १९०० से १९८४ वि० तक)।[१]

उनका कहना है कि एक काल में दूसरे काल की भी रचनाएँ हुई हैं, पर यह नामकरण प्रधान प्रवृत्ति-विशेष के आधार पर किया गया है।

उनका कालविभाजन विरोधमूलक होते हुए भी अद्यतन काल में मान्य है। 'शिवसिंह सरोज' आदि में आदिकाल की पूर्व सीमा पुष्प नामक कवि के अलंकार ग्रंथ के कल्पित आधार पर सं० ७७० के आसपास मानी गयी है। पर पुष्ट प्रमाण के अभाव में यह मत मान्य नहीं हुआ। श्री सांकृत्यायन और हीरालाल जैन का अनुमान है कि पुष्प और कोई नहीं सुप्रसिद्ध जैन कवि पुष्पदन्त ही है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इन्हीं मतों के आधार पर इनको एक ही बताया।[२] आचार्य मिश्र भी शुक्ल जी के आरम्भिक समय से सहमत अवश्य हैं, पर पुष्ट रूप में यह नहीं मानते कि हिन्दी साहित्य का आरम्भ सं० १०५० वि० से ही हुआ। उसके पूर्ववर्ती काल में भी उसी प्रकार की भाषा में साहित्य-निर्माण के प्रमाण मिलते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने आदिकाल की आरम्भिक सीमा सं० १००० वि० के आस-पास मानी। इसी प्रकार सं० १३७५ के स्थान पर सं० १४०० तक इसक अन्तिम सीमा स्वीकार की।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १।
२. हिन्दी-साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ८।
३. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ ३०।

कालविभाजन में मतैक्य न होने का प्रश्न अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत लेने न लेने, से उत्पन्न होता है। कतिपय साहित्यकार अपभ्रंश-साहित्य को एक स्वतंत्र साहित्य के रूप में मानते हैं और हिन्दी साहित्य का उससे साहित्यगत नहीं भाषागत सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परन्तु कतिपय विचारक हिन्दी साहित्य का आरम्भिक रूप अपभ्रंश साहित्य को मानते हैं। आचार्य मिश्र ने अपभ्रंश-वाङ्मय पर पृथक् रूप से विचार किया है। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सं० १००० से पूर्व के अपभ्रंश-साहित्य को स्थान नहीं दिया। अपभ्रंश साहित्य भी प्राकृत-साहित्य की भाँति हिन्दी-साहित्य से पृथक् है।[१] उन्होंने अपभ्रंश के पूरे काल को दो भागों में विभाजित किया है—पहला पूर्वकालिक अपभ्रंश और दूसरा उत्तरकालिक अपभ्रंश।[२] उत्तरकालिक अपभ्रंश ही प्रातीय प्रवृत्तियों से प्रभावित था। विद्यापति की कीर्तिलता में व्यवहृत भाषा उत्तरकालिक अपभ्रंश ही है जो पूर्वीपन लिए हुए है। अन्य विद्वानों की भाँति उन्होंने भी इस उत्तरकालिक भाषा को 'अवहट्ट' कहा है।[३] उत्तरकालिक अपभ्रंश का नाम 'अवहट्ट' तो मिलता है, पर पूर्वकालिक अपभ्रंश का कोई दूसरा नाम नहीं मिलता, ऐसी स्थिति में उन्होंने स्वतंत्र रूप से इसका नाम अपभ्रंश दिया।[४] उत्तरकालिक अपभ्रंश हिन्दी के अधिक निकट है। इस देशी भाषा अथवा अवहट्ट के नाम का उल्लेख प्राकृतपैंगलम् की टीका में तो बार-बार हुआ ही है, विद्यापति ने भी अपनी 'कीर्तिलता' में इसका कथन किया है—

"सक्कय वाणी बहुअन भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥[५]

मिश्र जी ने अपभ्रंश-साहित्य का संस्कृत-प्राकृत के साहित्यों की भाँति हिन्दी-साहित्य की पूर्वपीठिका के रूप में ही विचार करना उचित माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' नामक पुस्तक के आदिकाल में अनेक तर्कों द्वारा अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी-साहित्येतिहास के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया है। साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से उन्होंने अपभ्रंश के प्रायः सभी काव्यरूपों की परम्परा का हिन्दी में सुरक्षित माना है। इसके लिए उन्होंने तर्क दिया है कि दोहा या दूहा अपभ्रंश का अपना छन्द है जो परवर्ती हिन्दी साहित्य में भी प्रयुक्त हुआ है। दूसरा पद्धड़ियाँ बन्ध है जो स्वयंभू, धनपाल, पुष्पदंत आदि जैन कवियों के अपभ्रंश काव्यों से मिलता है।

१-४. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पुरोवचन, पृ० ४।
पृ० ३८, वही, वही।

५. कीर्तिलता—संपा० बाबूराम सक्सेना, पृ० ६।

सोलह मात्राओं के इस छंद से वे हिन्दी साहित्य को अत्यधिक प्रभावित मानते हैं। तीसरा गेय पदबन्ध है, जिसकी परम्परा हिन्दी साहित्य में जीवित है।[1]

द्विवेदी जी ने आदिकाल में दो प्रकार के साहित्यिक प्रयत्नों का उल्लेख किया है— "एक तो बौद्ध और नाथ-सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष तथा उपदेशमूलक और दूसरे हठयोग या कामयोग की महिमा का प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ हैं। इनका उपदेश रस-सृष्ट नहीं था। साहित्य के इतिहास में दो कारणों से इनका महत्त्व है। एक तो परवर्ती धार्मिक काव्य रूपों के विकास में ये सहायक हैं, और उस धार्मिक पृष्ठभूमि को समझने में सहायता पहुँचाते हैं, जिनके बिना हम काव्य-प्रभावों को समझ ही नहीं पायेंगे और दूसरे इनके अध्ययन से उस युग की भाषाशैली, छंदोविधान आदि का अध्ययन सुकर होता है।[2] इसलिए इन रचनाओं का वे हिन्दी-साहित्य में रिक्थ मानते हैं।[3] इन सब तर्कों के आधार पर वे हिन्दी-साहित्य को अपभ्रंश साहित्य से भिन्न समझना अनुचित मानते हैं।[4]

आचार्य मिश्र ने पुष्ट प्रमाणों के आधार पर हिन्दी-साहित्येतिहास में गृहीत सामग्री को परखा है। साहित्येतिहास में साहित्येतर सामग्री के समावेश को अनपेक्षित माना है। जब तक हिन्दी भाषा स्वच्छंद नहीं थी तब तक अनुपयुक्त कृतियाँ भी इसी के अंतर्गत समझी जाती थीं। जिससे हिन्दी का क्षेत्र बृहत् था। "फिर भी हिन्दी के भीतर खींची जाने वाली समस्त रचना साहित्यिक रचना नहीं है। सिद्धों-नाथों की बानियाँ हिन्दी भाषा में कही गई मानी भी जा सकती हैं, पर हिन्दी काव्यधारा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। उससे सम्बद्ध होने के निमित्त उनका काव्य होना सबसे प्रथम आवश्यक है। काव्यात्मक-भंगिमा और सर्वसामान्य भावसत्तात्मक संवेदना के बिना शुद्ध सर्जनात्मक साहित्य के परिसर में रचना नहीं आ सकती।"[5] ये भाषा के नाम पर तो उन्हें हिन्दी-साहित्य से सम्बद्ध मानते हैं, पर इतिहास की दृष्टि से अपभ्रंश-वाङ्मय का इससे पृथक् विवेचन करना ही युक्ति-युक्त कहते हैं।[6] उन्होंने जैनों के अपभ्रंश को भाषा की दृष्टि से कृत्रिम माना और साहित्य की स्वाभाविक सरणि सर्वसामान्यभावसत्ता से पूर्ण सम्बद्ध नहीं माना। उनकी दृष्टि में जनमानस का प्रकृत बिम्ब उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होता। उसको वे संस्कृत साहित्य से प्रभावित मानते हैं, पर उससे हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं मानते।

उन्होंने तुलसीदास को स्वयंभू से प्रभावित मानने वाली धारणा को भ्रामक बताया है। इसी दृष्टि से उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य के विस्तार और विवेचन को हिन्दी-साहित्य

१-४. हिन्दी-साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १०-९, ८०, ८१, १५।
५,६. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०) आचार्य मिश्र, पुरोवचन पृ० ४-३, वही।

की सहज विकसित परम्परा से पृथक् माना है। उनकी दृष्टि में बौद्धों से प्रभावित सिद्धों-नाथों से हिन्दी की ज्ञानमार्गी निर्गुणधारा प्रभावित अवश्य है, पर वह स्वयं साहित्य की शुद्धधारा नहीं है। जैनों और बौद्धों से हिन्दी-साहित्य के सीधे प्रभावित न होने से उनके सिद्धान्तों का हिन्दी-साहित्य की भूमिका में विस्तृत विवेचन करना अनावश्यक मानते हैं।

कालनिर्णय के साथ ही विभिन्न युगों के नामकरण की समस्या भी उपस्थित होती है। साहित्य के विविध कालों का विभाजन और नामकरण किस आधार किया जाय, यह एक विचारणीय विषय है। प्रमुखतः कृति, कर्ता, विषय और पद्धति को दृष्टिगत कर विभाजन या नामकरण होता है। हिन्दी साहित्य के लगभग एक सहस्र वर्षों की दीर्घकालीन परम्परा को तीन भागों में विभाजित किया गया—आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल। मध्यकाल को इतिहासकारों ने कई प्रकार से विभाजित किया है। मिश्रवंधुओं ने उसके तीन उपविभाग किए—पूर्व, प्रौढ़ और अलंकृत।[१] आचार्य शुक्ल ने उसके दो खण्ड किए—पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल। पहले का नाम भक्तिकाल और दूसरे का नाम रीतिकाल रखा।[२] मिश्रवंधुओं ने इसी रीतिकाल का नाम अलंकृत-काल रखा था।

साहित्य में कृतियों की एकरूपता के विचार से भी नामकरण का विधान होता रहा है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में उपलब्ध अधिकांश रचनाओं का नाम 'रासो' है, अतः कुछ लोग उसे 'रासोकाल' कहना समीचीन समझते हैं।[३] कर्ताओं की दृष्टि से उसे 'चारणकाल' भी कहा गया है।[४] प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से 'वीरगाथाकाल' भी कहा गया है।[५] विशिष्ट प्रचलित शैली के अनुरूप हिन्दी के आधुनिककाल को 'गद्यकाल' कहा गया।[६] विभाजन और नामकरण राजनीतिक या सामाजिक आधार पर अथवा उस युग के विशिष्ट लेखक या कवि के आधार पर भी किया जाता है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहासों में चॉसर-युग, शेक्सपियर-युग, मिल्टन-युग आदि[७] की भाँति ही संस्कृत-साहित्य के इतिहास में पूर्वकालिदास-युग, पर-कालिदास-युग आदि नामकरण हुए। हिन्दी में 'मिश्रबंधुविनोद' के उपविभाग—सौरकाल, तुलसीकाल, विहारी-

---

१. मिश्रबंधु-विनोद—मिश्रबंधुकृत, चतुर्थ संस्करण।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कालविभाग।
३,४. बिहारी—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३, वही।
५,६. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, कालविभाग, वही।
७. अँग्रेजी साहित्य का इतिहास—हडसन, अनु० जगदीशविहारी मिश्र।

काल इसी के द्योतक हैं।[1] और आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग खण्ड भी इसी के संकेतक हैं। अंग्रेजी साहित्य के इतिहासों में एलिजावेथन या विक्टोरियन पीरियड नामकरण राजनीतिक दृष्टि से किए गये हैं। इसी प्रकार हिन्दी में अकवरकाल, दयानंदकाल आदि नाम इसी के द्योतक हैं।[2]

आचार्य मिश्र ने 'विहारी' की भूमिका में तर्कपूर्ण दृष्टि से इस पर विचार किया है। इनकी दृष्टि में विभाजन और नामकरण में एक ओर तो किसी विशेष काल की व्यापक प्रवृत्तियों का बोध होना चाहिए और दूसरी ओर अन्तर्विभाग की सुविधा भी रहनी चाहिए। जहाँ तक प्रवृत्तियों के बोध का पक्ष है इतर क्षेत्रों से नाम का ग्रहण आलस्य का सूचक है।[3] उन्होंने किसी शासक के नाम से साहित्य के इतिहास का नामकरण करना अपेक्षित नहीं माना। इस प्रकार का नामकरण इतिहास में ही उपयुक्त हो सकता है, साहित्य के इतिहास में नहीं। ऐसा साहित्य की भावधारा के अज्ञान का परिचायक है। किसी कवि या विशिष्ट—लेखक के आधार पर भी नामकरण तभी उपयुक्त हो सकता है जब उसकी प्रवृत्तियाँ बहुसामान्य हों। इस दृष्टि से 'भारतेन्दु-युग' और द्विवेदी-युग नाम उचित माना जा सकता है। युग की प्रवृत्तियों की व्यापकता की दृष्टि से उसका अन्तर्विभ.ग उपयुक्त माना जा सकता है। इससे उस युग की दीर्घकालीन सीमा का सुगमता से विवेचन सम्भव होता है। शुक्लजी के हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्वमध्यकाल का विभाजन इसी दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने इस काल को निर्गुण एवं सगुण दो धाराओं में विभक्त किया तथा इनके भी पृथक्-पृथक् दो भाग किए—निर्गुण में ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा, सगुण में रामभक्तिशाखा एवं कृष्णभक्तिशाखा। मिश्रजी ने कृतिकारों को एकरूपता के अनुसार काल के नामकरण को विशेष उपयुक्त नहीं माना। कृति-सापेक्ष नामकरण पर भी उन्होंने आपत्ति की। 'रासो' की भाँति सभी कालों को कृति की नामावली में एकरूपता नहीं मिलती। साथ ही नाम की एकरूपता होते हुए भी प्रवृत्ति एवं विषय, भाव, रस की अनेकरूपता हो सकती है।[4] एक काल में कई शैलियाँ प्रचलित होती हैं। आधुनिक-काल को यदि 'गद्यकाल' कहा भी जाय तो फिर इस समय की सबसे प्रभावशाली प्रवृत्ति 'छायावाद' किस काल में स्थान पाएगी। वस्तुतः आज के युग में गद्य-पद्य दोनों का सर्जन हो रहा है तब भी इसको गद्यकाल कहा गया। अतीतकाल में शुद्ध पद्यात्मक रचनाएँ ही प्राप्त

---

१. मिश्रबंधु-विनोद—मिश्रबंधु।
२,३. विहारी—आचार्य मिश्र, पृ० ३, वही।
४. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य
—दीनानाथ पाण्डेय, पृ० ११९।

होती हैं तो उपर्युक्त दृष्टि से 'पद्यकाल' कहना ही उपयुक्त हो सकता है। अतः यह दृष्टि भी स्थूल लक्ष्य की हो परिचायक है।

उपर्युक्त पर्यालोचन से वर्ण्यविषय की व्याप्ति ही ऐसा आधार रह जाता है जिसके सहारे साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। पर वर्ण्यविषय के भी दो पक्ष हो जाते हैं—एक वाह्य पक्ष और दूसरा आभ्यन्तर पक्ष। उन्होंने आभ्यन्तर पक्ष को ही प्राथमिकता दी है। भारतीय दृष्टि से साहित्य या काव्य का प्रतिपाद्य भाव या रस है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के कालों का नामकरण इसी दृष्टि से किया है। अन्य साहित्येतिहास लेखकों ने काल के नामकरण में अपने सुविधानुकूल पृथक्-पृथक् आधार अपनाये, पर इनके विभाजन में इसकी एक-रूपता पायी जाती है। वस्तुतः इनके नामकरण की दृष्टि को भारतीयतावादी कह सकते हैं।

हिन्दी के आदिकाल में वीरगाथात्मक ग्रन्थ अधिक मिलते हैं। अतः इनका वर्ण्य-विषय वीरगाथा हुआ अर्थात् इसका बाह्यार्थ वीरकथा है। इसी के आधार पर शुक्ल जी ने इसका नाम 'वीरगाथाकाल' रखा। पर कवियों ने जिस भाव या रस की अभि-व्यक्ति को दृष्टिगत कर इन गाथाओं को काव्यबद्ध किया वह भी तो वर्ण्य ही है जो उसका आभ्यतर पक्ष है। इस दृष्टि से मिश्र जी ने आदिकाल को 'वीरगाथा-काल' न कहकर 'वीररस-काल' या संक्षेप में 'वीरकाल' कहना उपयुक्त समझा।[1] 'भक्तिकाल' नाम में भक्ति शब्द की व्याप्ति उसके भाव होने से अधिक है। उनकी दृष्टि में 'उत्तर-मध्यकाल' को 'रीतिकाल' नाम देना भी तर्कसंगत नहीं है। इसमें रीति अर्थात् रस, अलंकार, शब्द-शक्ति, नायक, नायिका, पिंगल आदि काव्यरीति अवश्य वर्णयविषय ही हैं, पर 'रीति' शब्द बाह्यार्थ का ही बोधक है, आभ्यंतरार्थ का नहीं। उस काल का आभ्यंतर वर्ण्य 'शृंगार' था। 'रीति' कलापक्ष का द्योतक है, पर उसके सीमाक्षेत्र में समाविष्ट अधिकांश कृतियाँ शृंगारपरक ही हैं। वर्णन-प्रणाली के विचार से रीतिकाल न कहकर वर्ण्य के विचार से 'शृंगारकाल' कहना अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है।[2]

शैली की दृष्टि से आधुनिककाल का नाम 'गद्यकाल' तो ठीक है, पर वर्ण्यविषय या भाव की दृष्टि से मिश्र जी ने इसका नाम 'प्रेमकाल' रखा। वर्तमान युग का समस्त साहित्यिक वाङ्मय प्रेममूलक प्रवृत्तियों से ही प्रेरित है। उन्होंने 'प्रेम' को एकमात्र दाम्पत्य प्रेम के रूप में नहीं ग्रहण किया। वस्तुतः उनके प्रेम में देशप्रेम, प्रकृतिप्रेम, संततिप्रेम, मित्रप्रेम, ईश्वरप्रेम आदि सभी का ग्रहण हो सकता है।[4] 'प्रेम' को इस

१. विहारी—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ५।

२-४. वाङ्मयविमर्श—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २८५, पृ० २९९, वही।

व्यापक रूप में ग्रहण करके ही आधुनिक काल का नाम 'प्रेमकाल' रखना समीचीन बताया। पर साहित्य-जगत् में यह नामकरण अभी प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है।

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में अन्तर्भूत सामग्री का रूप अत्यन्त विवादास्पद रहा है। इसके परिणाम स्वरूप उसके नामकरण और विभाजन पर अनेक मत प्रस्तुत किए गये हैं। आचार्य शुक्ल ने इस काल की बारह कृतियों को प्रामाणिक माना है। इनमें विजयपालरासो, हम्मीररासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका को साहित्यिक और खुमानरासो, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो, जयचन्दप्रकाश, जयमयंकजस-चंद्रिका, परमालरासो (आल्हा का मूल रूप) खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति पदावली को देशीभाषा का काव्य माना। इनमें अंतिम दो और बीसलदेवरासो को छोड़कर शेष सभी वीर-गाथात्मक ग्रंथ हैं और इन्हीं के आधार पर आदिकाल का नाम 'वीरगाथा काल' रखा।[1] परवर्ती शोधों द्वारा इन रचनाओं की प्रामाणिकता में संदेह व्यक्त किया गया है। अपभ्रंश-प्रेमी विचारक इनकी प्रामाणिकता और प्रवृत्तियों के झमेले में न उलझकर इसका नाम 'आदिकाल' ही रखना उचित समझते हैं। आचार्य मिश्र के नामकरण को आचार्य शुक्ल के नामकरण का आभ्यंतर रूप कहा जा सकता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के आदिकाल में उपलब्ध दो प्रकार की रचनाओं का उल्लेख किया है—पहली जैन भंडारों में सुरक्षित या उनसे प्रभावित अपभ्रंश की रचनाएँ और दूसरी लोक परम्परा में प्रवाहित लोकभाषा की रचनाएँ। ये हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए जैन अपभ्रंश के साहित्य की सहायता अनिवार्य मानते हैं।[2] उन्होंने धार्मिक एवं चरितकाव्यों को भी साहित्य की कोटि में ही रखा है। उनका कहना है कि धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल को यदि साहित्यिक क्षेत्र से अलग किया जायेगा तो तुलसी के 'रामचरितमानस', जायसी के 'पद्मावत' को भी काव्यक्षेत्र से अलग ही रखना पड़ेगा।[3] मिश्र जी ने जैनों के अपभ्रंश का भाषा की दृष्टि से कृत्रिम और साहित्य की स्वाभाविक सरणि सर्वसामान्य-भवसत्ता से पूर्ण सम्बद्ध नहीं माना।[4] उन्होंने इस प्रकार की रचनाओं को साहित्य की कोटि में लाने वाले को और तुलसी, सूर, जायसी को रचनाओं को उन्हीं अपभ्रंश की रचनाओं की कोटि में रखने वाले को थोथी वकालत करने वाला कहा है।[5]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य।
२. हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८।
३. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११।
४,५. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ४, पुरोवचन, पृ० ४२।

सूरदास, तुलसीदास किसी भक्ति या धर्मविशेष में प्रत्यक्षरूप से लिप्त प्रतीत नहीं होते। कृष्ण और राम की लोकहृदयानुरूप भक्ति की चर्चा उन्होंने की है। पुष्टिमार्ग के प्रचारक न सूरदास जान पड़ते हैं और न श्रीसम्प्रदाय के प्रचारक तुलसीदास ही। लोकजीवन में उनकी लोकप्रियता का यही कारण है। अपने-अपने सिद्धान्तों का उल्लेख उन्होंने व्यंग्य के सहारे किया। उनकी लोकदृष्टि में साम्प्रदायिकता का पता नहीं चलता। मिश्र जी ने चतुर्मुख, स्वयंभू, नयनंदि, कनकामर मुनि, हेमचन्द्रसूरि, सोमप्रभसूरि, जैनाचार्य मेरुतुंग, विद्याधर, शार्ङ्गधर और अब्दुर्रहमान के विषय में संक्षेप में 'अपभ्रंश की पुरानी कृतियाँ' प्रसंग में विचार किया है।

उनका मत है कि किसी युग की निर्माणक प्रवृत्तियाँ पूर्व से ही दिखायी देने लगती हैं और यकायक समाप्त नहीं हो जातीं। इसी से आचार्य शुक्ल की इससे सम्बद्ध सीमा को स्वीकार करते हुए भी ५० वर्ष पूर्व ले जाते हैं। उनका सम्पूर्ण कालविभाजन एवं नामकरण इस प्रकार है—

१. वीररस काल या वीरकाल—सं. १००० वि० से १४०० वि० तक।
२. भक्तिकाल—सं० १४०० वि० से १७०० वि० तक।
३ शृङ्गारकाल—सं० १७०० वि० से १९०० वि० तक।
४. प्रेमकाल—सं० १९०० वि० से वर्तमान तक।

उन्होंने इन कालविभागों में अधिकांश का उपविभाग भी किया है। इन कालविभागों के समय, नामकरण, उपविभाग पर तार्किक दृष्टि से यथास्थान विभिन्न कालों के अन्तर्गत विचार किया जाएगा।

आदिकाल

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में उल्लिखित 'रासो' शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए उन्होंने इसके छह रूपों का उल्लेख किया—रास, रासा, रासो, रासौ, रायस, रायसो। इसकी व्युत्पत्ति में संस्कृत के छह शब्द प्रस्तुत किये हैं—रहस्य, रसायन, राजादेश, राजयश, रास और रासक। अनेक तर्क प्रस्तुत कर उन्होंने स्पष्ट किया है कि संस्कृत का 'रासक' शब्द ही 'रासो' हुआ। हस्तलिखित प्रति में 'पृथ्वीराजरासक' नाम उपलब्ध होता है। उनकी दृष्टि में 'रासक' से प्राकृत में 'राजस', 'रासय' होते-होते व्रज में 'रासो', खड़ी में 'रास्य' और अर्द्धमागधी में 'रास' हो गया।[1]

उन्होंने हिन्दी साहित्य में वीररस की कविताओं का उत्थान तीन रूपों में माना है—एक रूप आदिकाल में वीरप्रशस्तियों का है जिसमें वीरकाव्य, वीरगीत एवं वीरकविताएँ आती हैं। द्वितीय उत्थान का दर्शन छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसाल

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भ०)—आचार्य मिश्र, पृ० ५५।

के उदय होने पर होता है। तीसरा उत्थान स्वतन्त्रता आन्दोलन की लहर के साथ दिखाई पड़ता है। वीर प्रशस्तियों की परम्परा प्रवन्धकाव्य और वीरगीत के रूप में मिलती हैं। प्रवन्धों का रूप साहित्यिक है, पर वीरगीत लौकिक रंग-रूप में प्राप्त होते हैं।[1] इन प्रवन्धों में वीररस के मूल में शृङ्गाररस ही हैं। राजपूताना के भाट या चारणों की इन रचनाओं में दो प्रकार की भाषाओं का उल्लेख उन्होंने किया है—'डिंगल' और 'पिंगल।' 'डिंगल' की कविता को लोकभाषा राजस्थानी में रचित एवं 'पिंगल' की कविता को सामान्य काव्यभाषा ब्रजो आदिकालीन में रचित बताया।[2] वीरगाथाओं में प्राचीन दलपति विजय का 'खुमानरासो' माना जाता है। पर उन्होंने इसकी प्राप्त खंडित प्रति की दृष्टि से इसके रचनाकाल पर एवं किस खुमान की प्रशस्ति है—इस पर भी सन्देह प्रकट किया है, क्योंकि सं० ८१० से सं० १००० वि० तक के बीच तीन खुमान गद्दी पर बैठे और इसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलता है।

कालक्रम की दृष्टि से दूसरा ग्रंथ चन्दबरदाईकृत 'पृथ्वीराजरासो' है, जिसकी प्रामाणिकता पर भी अनेक तर्क प्रस्तुत किए गये हैं, क्योंकि उपलब्ध प्रतियों में आपस में एवं ऐतिहासिक घटनाओं और संवतों में पर्याप्त अन्तर है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने तो इस जाली ग्रन्थ एवं चन्दबरदाई को पृथ्वीराज के दरबार में न होने की संभावना व्यक्त की है। उसकी प्रामाणिकता पर मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, हरप्रसादशास्त्री आदि विद्वानों ने भी विचार किया। मिश्र जी अनेक मतवादों का उल्लेख करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि चन्द पृथ्वीराज का परवर्ती ही रहा और इसके नाम पर प्रचलित 'पृथ्वीराजरासो' में न जाने कितनों की कृति का समावेश है।[3] उन्होंने उसकी भाषा पर विचार करते हुए उसकी रचना को छमेल माना है। इसकी रूप-विकृति का कारण राजस्थानी-परिवार के विभिन्न प्रदेश के कर्ताओं अथवा उस परिसर के अनेक भाषाओं के ज्ञाता या ज्ञाताओं द्वारा इसके आकार—संवर्धन में दिया गया योगदान है जिनका समय भिन्न-भिन्न है।[4]

प्रवन्धकाव्यों की पद्धति पर बने चार अन्य ग्रंथों का उल्लेख इन्होंने किया है—एक है अल्हठवाड़े के राजकवि का 'कुमारपालचरित्र', दूसरा है शार्ङ्गधरकृत 'हमीर-रासो', और तीसरा है 'हमीरकाव्य' और चौथा है नल्लसिंह भट्टकृत 'विजयपालरासो।' वीरगीतों के रूप में नरपति नाल्हकृत 'बीसलदेव रासो' और जगनिककृत 'आल्हा' प्रमुख ग्रंथ है। 'आल्हा' में महोबा के प्रसिद्ध वीर आल्हा और ऊदल के वीरतापूर्ण

१-४. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भाग)—आचार्य मिश्र, पृ० ५६-५७, ५७, ६५, ७१।

कार्यों का वर्णन है। इसकी अत्यधिक लोकप्रियता के कारण इस पर विभिन्न बोलियों का प्रभाव पड़ा, जिससे इस काव्य का मूलरूप लुप्त हो गया। वर्तमान संग्रह 'आल्हा-खण्ड' मूल कृति का खण्ड मात्र ही हो सकता है।[1]

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित 'बीसलदेवरासो' के आधार पर इसका रचनाकाल सं० १२१५ माना गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसका संपादन 'बीसल-देवरास' नाम से किया, जो हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इसमें इसके रचनाकाल के विभिन्न हस्तलेखों से जो उद्धरण दिये गये हैं, उनके आधार पर इसका निर्माण काल सं० १०७३ से लेकर १३७७ वि० तक फैला दिखायी देता है। मिश्र जी ने इतिहास को दृष्टि से इस रचना को महत्त्व नहीं दिया, इसमें सुनियोजित ऐतिहासिक घटनाओं को अनुकृति के आधार पर संकलित माना है और उन्होंने इसको साहित्यिक महत्त्व भी इसलिए नहीं दिया कि इसमें न उक्ति की भंगिमा है और न घटनाओं की।[2]

भाषा की दृष्टि से भी उन्होंने इसे बीसलदेव के युग का नहीं माना। इसके उदा-हरणस्वरूप उन्होंने इसके दो स्थल प्रस्तुत किये हैं।

१—'भौहरा जाणे भयर भमाय। मूँगफली सी आंगुली।'

२—'नव गज ऊँचा हाथी च्यार। आण्या छय रथ पै दरबभंडार।'

पहले छंद में आए 'मूँगफली' का दो अर्थ किया—मूँग नामक दाल की फली और मोमफली (ग्राउण्ड नट अर्थात् चीनिया बादाम)। उनका कहना है कि यदि इसके पहले अर्थ को लिया जायेगा तब तो बाधा नहीं होगी, पर दूसरा अर्थ लेने पर यह अँग्रेजों के यहाँ आगमन के पश्चात् का सिद्ध होता है। दूसरे छंद में 'गज' जो 'नाप' के लिए प्रचलित है, उसे मुसलमानी जमाने का शब्द बताया, जो बीसलदेव का समय नहीं है।

उन्होंने राजस्थानी कृतिकारों द्वारा प्रयुक्त भाषा 'पिंगल' और 'डिंगल' में केवल भाषागत अन्तर माना है, काव्यगत प्रवृत्तियों में विशेष पार्थक्य नहीं। इन दोनों भाषाओं के कवि एक दूसरे के शब्दों, वाक्यों, लोकोक्तियों आदि का ग्रहण यथास्थान करते रहे हैं। इसी आपसी तालमेल को उन्होंने अद्यतनकाल के भाषागत संग्राहकों के भ्रम का कारण बताया। भाषावैज्ञानिक मैथिली को हिन्दी भाषा की सीमा में स्थान नहीं देते, पर पुरानी मैथिली में रचना करनेवाला मैथिल कोकिल विद्यापति हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रखे जाते हैं, क्योंकि मध्यदेशीय हिन्दी की शब्दावली का प्रसार मैथिली में

१,२. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ७१, ७२, ७३।

भी है। इसी दृष्टि से मिश्र जी ने 'डिंगल' को भी हिन्दी भाषा के अन्तर्गत स्थान दिया है। अंपभ्रंश के अन्तर्गत प्रान्तोयता से प्रभावित पुरानी राजस्थानी, पुरानी गुजराती, पूरानी पंजाबी, पुरानी बिहारी, पुरानो बंगाली और पुरानी महाराष्ट्री भाषाओं को वे 'पुरानी हिन्दी' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास—लेखकों ने विद्यापति और अमीर खुसरो की गणना हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के फुटकल खाते में की है। भाषावैज्ञानिक भाषा की दृष्टि से विद्यापति की रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्थान नहीं देते, पर मिश्र जी ने आर्यभाषा का विकासक्रम प्रस्तुत कर पुरानो मैथिली को हिन्दी के प्राचीन रूप के निकट माना। उन्होंने उनके सम्पूर्ण रचनात्मक व्यक्तित्व, भाषा, साहित्यिक परम्परा एवं संस्कृति की एकता[१] की दृष्टि से विचार करना आवश्यक समझा।

हिन्दी साहित्य में विद्यापति की काव्य-परम्परा बहुत दूर तक ग्राह्य रही है। उनके गीतों की परम्परा को साहित्येतिहासकारों ने जयदेव के 'गीतगोविन्द' से ग्रहण किया गया माना है। मिश्र जी इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि जयदेव और विद्यापति दोनों मिथिला की ही विभूति थे। लौकिक संस्कृत में गीत लिखनेवाले सर्वप्रथम जयदेव ही दिखाई पड़ते हैं। मिथिला की जनता में प्रचलित मधुर गीतों ने जयदेव और विद्यापति दोनों को ही प्रभावित किया। विद्यापति ने जनसाधारण का प्राकृत प्रवाह सहज ही अपनाया। इसी दृष्टि से उन्होंने जयदेव में गीतों की प्रवृत्ति आरोपित मानी और विद्यापति में सहज। उन्होंने जयदेव की परम्परा को संस्कृत में तो स्वीकार किया, पर देशी भाषा में इसे स्वीकार करना पीठ के बल चलने के समान कहा।[२] उन्होंने इनके कृष्णकाव्य का स्वरूप सूरदास या अन्य कृष्णभक्त कवियों का सा न मानकर बिहारी, देव, पद्माकर आदि की कोटि का भक्तिकाव्य माना है। शृङ्गार-कालीन कवियों ने इनकी गीतिशैली को तो नहीं अपनाया, पर इसके शृंगार के आलम्बन राधा-कृष्ण को अवश्य अपनाया। उन्होंने हिन्दी-साहित्य की परम्परा में इन्हें हिन्दी के प्रथम कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया।

विद्यापति की रचनाएँ शृंगारपरक होने से उन्होंने इनको प्रेम का कवि कहा है। इनके वर्णित भाव को रसात्मक अवश्य माना, पर वासनात्मक नहीं। इनके काव्यात्मक सौन्दर्य का बहुत विस्तृत विवेचन किया। इनकी 'पदावली' एवं 'कीर्तिलता' को समीक्षात्मक दृष्टि से परखा।

---

२. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० १०७, ११२, ६३२।

उन्होंने अमीर खुसरो की रचनाओं को साहित्यिक दृष्टि से नहीं, भाषा की दृष्टि से महत्त्व दिया है, जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली में रचित हैं। उनका मत है कि भारतीय साहित्य-परम्परा उन्हीं रचनाओं को साहित्य में गृहीत करती रही है जो भावोद्बोधक हों अथवा जिनमें किसी जीवनगत तथ्य को प्रकट करने की भंगिमा हो। रसात्मक और वक्रोक्ति-विशिष्ट कृति ही साहित्य का नाम पाती रही है।[1] इस प्रकार उन्होंने नाथ, सिद्ध तथा संतों आदि की साम्प्रदायिक रचनाओं का अध्ययन साहित्य के अन्तर्गत न कर भाषा की दृष्टि से करना ही उचित माना है।

उनके अत्यन्त सूक्ष्म एवं सुस्पष्ट 'आदिकाल' से सम्बद्ध विचार आचार्य शुक्ल के विचार से अधिक साम्य रखते हैं। उत्तरोत्तर विकसित आधुनिक अनुसंधानों और विचारों ने मिश्र जी को उनसे कुछ अलग रखने में सहयोग दिया। उन्होंने इस काल का विवेचन पृथक्-पृथक् भाषागत शीर्षक देकर किया है, जैसे—अपभ्रंश वाङ्मय, पिंगलकाव्य, डिंगलकाव्य, राजस्थानी (लोकभाषा) काव्य, मागधी काव्य, खड़ी बोली की रचना आदि। उनके इस प्रकार के विवेचन से कृतियों के साहित्यिक एवं भाषागत दोनों प्रकार की विशेषताओं का स्पष्टीकरण हो जाता है।

पूर्वमध्यकाल

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की लगभग ५०० वर्षों की अवधि को उन्होंने भी दो भागों में विभाजित किया है—पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल। सं० १४०० से १७०० वि० के समय को पूर्वमध्यकाल या भक्तिकाल कहा गया है। भक्तिकाल नाम में भक्ति शब्द की व्याप्ति उसके भाव होने से अधिक है।[2] उनके भक्तिकालीन विचार शुक्ल जी के विचारों से वैमत्य नहीं रखते। शुक्ल जी द्वारा किए गये भक्तिकाल के उपविभाग उनको मान्य हैं। उन्होंने ज्ञानमार्गी शाखा के अन्तर्गत—कबीर, दादूदयाल, सुंदरदास, गुरुनानक को; प्रेममार्गी शाखा में—जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख-नबी, कासिमशाह, नूर मुहम्मद आदि को; कृष्णभक्ति शाखा में—सूरदास, कुम्भनदास आदि अष्टछाप के कवियों के साथ मीरा एवं नरोत्तमदास को तथा रामभक्ति शाखा में तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, प्राणचन्द चौहान आदि को स्थान देकर विमर्श किया है।

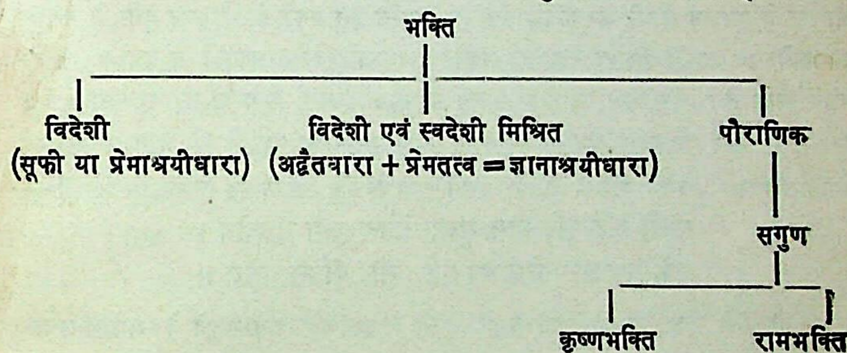
उन्होंने मध्यकाल के अन्तर्गत अतीत के कवियों की लोकदृष्टि का भी विवेचन किया है। उन्होंने 'कवि' शब्द की व्याख्या करते हुए उसे कल्पनालोक में विचरण करने वाला प्राणी न मानकर, लोक की छनी हुई शुद्ध भावात्मक सत्ता की अनुभूति भूमि का अभि-

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ११२, ३२।
२. बिहारी—आचार्य मिश्र, पृ० ५।

व्यंजक माना है। इसके अन्तर्गत धर्म, राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थनीति, तत्त्वचिन्तन आदि का शुद्ध रूप ही गृहीत होता है।[1] इसी आधार पर उन्होंने हिन्दी के अतीत को परखने का प्रयास किया है। मध्यकालीन भक्त कवियों की लोकदृष्टि को समान माना है, भेद उनके मार्गोपदेश में ही बताया।

धर्म कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों के समन्वित रूप से प्रवाहित होता है। धर्म की भावात्मक अनुभूति ही भक्ति है।[2] इस प्रकार हम कह सकते हैं—धर्म + भाव + शास्त्र = भक्तिकाव्य। धर्म की भावात्मक अनुभूति ही साहित्यशास्त्र के माध्यम से अभिव्यक्त होकर प्रसारित हुई और भक्तिकाव्य कहलायी। भक्तिकाल के स्वरूप पर प्रस्तुत किया गया दीनानाथ पाण्डेय का फार्मूला भी समीचीन ही है—स्वदेशी भक्ति के मेल से अद्वैत धारा + दक्षिणी भक्ति = ज्ञानाश्रयी धारा, पौराणिक धारा + दक्षिणी भक्ति = सगुणधारा तथा शाक्त + दक्षिणी भक्ति = अन्य अनेक धाराएँ निःसृत हुईं।[3] उस काल की भक्ति के स्वरूप को इस प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है—



भक्ति के आगमन पर प्रचलित दोहे के तात्पर्य का मिश्र जी ने अनेक तर्कों द्वारा खण्डन किया है जो निम्नलिखित है—

> भक्ती द्राविड़ी ऊपजी लाए रामानंद।
> परगट करी कबीर ने सात द्वीप नौ खण्ड ॥

उनका तर्क है कि भक्ति तो आलवार भक्तों के पूर्व भी थी जिसका सम्बन्ध भक्ति के आचार्यों ने आर्यों से जोड़ा। जैन और बौद्ध सुधारक सम्प्रदाओं में भी भक्ति-साधना का स्वरूप पाया जाता है, भले ही उसमें ईश्वर का अस्तित्व न हो। ज्ञान, कर्म और

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० १३४।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५६-५७।
३. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य, पृ० १३६।

उपासना के जो तीन मार्ग प्राचीन काल से विहित हैं, यह उपासना उनके विपरीत पड़ती है।[१] इस प्रकार उन्होंने भक्ति का उद्भव न अलवारों के बीच माना और न उसका प्राचीनतम समय विक्रमी की दूसरी शताब्दी ही स्वीकार किया। हाँ, भक्ति के जितने आचार्य मध्यकाल में हुए उनको दक्षिण भारत से सम्बद्ध अवश्य माना।

भारत में ईश्वर की साधना के चार मार्ग प्राचीन काल से प्रचलित हैं—योगमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और उपासना या भक्तिमार्ग। योगमार्ग की विकसित शृंखला के रूप में नाथपंथ का आविर्भाव हुआ, जिसका परवर्ती निष्कृत रूप उन्होंने निर्गुण पंथ माना। उसका व्यवस्थित रूप कबीर में मिलता है। इस समय प्रचलित ईश्वरसाधना के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक मार्ग में कबीर ने निवृत्तिमूलक मार्ग को अपनाया। मिश्र जी ने सम्प्रदाय और पंथ में भेद भी किया है। उनका मत है कि 'सम्प्रदाय वही कहलाता है जो ब्रह्म, जीव और जगत् के सम्बन्ध में अपनी कोई स्वतन्त्र दृष्टि (दर्शन) रखता है और दृष्टि के अनुरूप आचरण की व्यवस्था करता है।....जीव के विस्तार के कारण आचार के स्वरूप में भी अनेकविध पंथों के निर्माण हेतु बनते हैं।[२] इस दृष्टि से कबीर को कबीरपंथ का ही प्रवर्तक कहा जा सकता है। साहित्येतिहासकारों ने इनको 'ज्ञान-मार्गी' कहा है। पर मिश्र जी ने ज्ञानमार्ग में प्रयुक्त 'ज्ञान' शब्द को भ्रामक बताया है। इसमें ज्ञान शब्द का ग्रहण प्रेम की गौणता के कारण करना पड़ा है।[३] ज्ञान से तात्पर्य सिद्धान्त पक्ष की नूतन दृष्टि से है, पर इनमें स्पष्ट रूप से ज्ञान का निषेध मिलता है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित हुआ न कोय।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

कबीरपंथी संत 'समाज' को नहीं मानते। इसलिए कबीर को वे समाज-सुधारक भी नहीं मानते। इनकी साधना को वैयक्तिक मानते हैं। इनके समाज-सुधारक होने की उद्भावना मिश्रजी ने आधुनिक मस्तिष्क की उपज मानी है।[४] उन्होंने पति-पत्नी, सेव्य-सेवक, पिता-पुत्र आदि प्रेम तत्वों से रहस्य संकेतित करनेवाली रचनाओं को ही काव्य के आभोग में गृहीत किया।[५] इस पंथ की रचनाओं पर केवल दो दृष्टियों से विचार करना उचित माना—एक तो हिंदी साहित्य इनकी विचारधाराओं से कितना प्रभावित हुआ और दूसरे इनकी कृतियाँ भाषा के विकास के किन-किन विविध सोपानों का क्या पता देती हैं। उन्होंने आधुनिक युग में विकसित रहस्यात्मक प्रवृत्ति का मूल कबीर में न मानकर सूफी साधकों एवं रहस्यात्मक रचनाओं में माना है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी संतकाव्य को उच्चकोटि का नहीं माना। एक तो संत मत की भावना शास्त्र-

---

१-५. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० १९४, १४५, वही, १४७, १४३।

पद्धति के आधार पर नहीं की जिससे शिक्षित वर्ग उसकी ओर आकृष्ट होता, दूसरे जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए भाषा की सरलता भी अपेक्षित थी। इस प्रकार संत-मत अधिकतर साधुओं और वैरागियों के द्वारा धर्म-प्रचार का एक सरल मार्ग ही था।[1]

इस विषय में आचार्य शुक्ल का भी मत है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण।[2] इन विरोधी पुष्ट तर्कों के होते हुए भी कबीर के कार्यों और प्रभावों को नकारा नहीं जा सकता। उनका निवृत्ति मार्ग भी लोकहित पर आश्रित है। उसने समाज में अभेद के लिए पुष्ट पीठिका तैयार की।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल के आभोग में आने वाली दूसरी धारा प्रेममार्गी कवियों की है, जिनके प्रतिनिधि कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इसमें भी दो उपधाराएँ दिखायी पड़ती हैं—एक शुद्ध भारतीय प्रेमकाव्य की और दूसरी सूफी रहस्यकाव्य की। भारतीय संस्कृत परंपरा के काव्यों में शुद्ध प्रेम का ही निरूपण है, पर सूफियों के प्रबंधों में साम्प्रदायिक प्रचार प्रधान है। सूफी प्रेमकाव्य फारसी-साहित्य में प्रचलित प्रेमकाव्यों की मसनवीशैली में लिखे गये, पर छंद दोहा, चौपाई हिंदी के हैं। हिन्दी में लिखित सम्पूर्ण सूफी प्रेमगाथाएँ कल्पित हैं, पर जायसी के पदमावत का पूर्वार्द्ध तो अधिकांश कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक। इसमें व्यष्टि समष्टि में परिणत हो गया है। मिश्र जी ने विषय के स्पष्टीकरण हेतु जायसी, सूर और तुलसी पर तुलनात्मक विचार भी प्रस्तुत किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने अभिव्यंजना शैली, भक्ति के स्वरूप, भाषा आदि पर विचार किया। उन्होंने भारतीय प्रेमगाथाओं की तीन परम्पराओं का उल्लेख किया है—

१—सूफी रहस्यात्मक कथाएँ

२—शुद्ध भारतीय परंपरा की अरहस्यात्मक कथाएँ, और

३—वे कथाएँ जिनमें रहस्य का संकेत तो है, पर सूफियों की भाँति उसकी प्रधानता नहीं है।[3]

उन्होंने भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों का शास्त्रीय विवेचन किया है। भक्ति के चारों सम्प्रदायों—श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय और सनकादि-सम्प्रदाय—

---

१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृ० १६३।
२. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ६६।
३. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० १७९।

एवं इनसे संबद्ध आचार्यों का पुष्ट प्रमाणों द्वारा विमर्श किया है। उन्होंने रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग पर विचार करते हुए सगुण भक्ति पर पड़े इनके प्रतिफल को स्पष्ट किया है।

मिश्र जी ने सूरदास का मूल्यांकन उनके गीतों की परम्परा, जीवनवृत्त, उपासना का भाव, बाललीला-वर्णन तथा वियोग-वर्णन को दृष्टिगत कर किया हैं। सूरदास की गीत परम्परा के सम्बन्ध में अभी तक यही धारणा रही है कि जयदेव के गीतगोविन्द की परम्परा विद्यापति के गीतों में दिखायी पड़ी और वही सूरदास, नन्ददास आदि कृष्णभक्त कवियों में भी। उन्होंने तुलनात्मक तर्कपूर्ण व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट किया कि राधाकृष्णकाव्य की परम्परा जयदेव और विद्यापति से भी पहले प्रचलित थी, और जयदेव एवं विद्यापति ने जिस गीत-परम्परा का ग्रहण किया वह वृन्दावन के आस-पास ही प्रचलित थी। इसलिए सूरदास के गीतों की परम्परा को जयदेव-विद्यापति की परम्परा से जोड़ना ठीक नही।[1]

उपासना की दृष्टि से सूरदास की रचनाओं में कोई सख्य भाव का दर्शन करता है तो कोई माधुर्य भाव का। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में दीक्षित होने से उनका प्रधानभाव वात्सल्य भाव हैं। वात्सल्य भाव का उपासक सख्य भाव और दास्य भाव की उपासना कर सकता है, पर माधुर्य भाव की नहीं। सूरदास ने कबीरदास जैसा कहीं भी अपने को श्रीकृष्ण की बहुरिया नहीं बताया, इसी दृष्टि से मिश्र जी ने इनमें माधुर्य भाव के दर्शन को भ्रामक बताया। उनका मत है कि सूरदास की रचना का काव्यगत मूल्य चाहे जो आँका जाय, पर यह निश्चित है कि तुलसीदास की अपेक्षा उनमें काव्यतत्वों का नियोजन अधिक है, उनम अनुभूति की गहराई प्रकृत रूप में बारम्बार सामने करने में है। पर सूर की अपेक्षा तुलसीदास में वे सामाजिकता अधिक मानते हैं।[2]

अष्टछाप के अन्य प्रभावशाली कवियों पर भी उन्होंने विचार किया है। भक्तिकाल में ही स्वच्छतावादी प्रेमकाव्य की धारा भी प्रवाहित होने लगी थी। इस धारा के आरंभिक कवि वे रसखानि एवं शेख आलम को मानते हैं। हिन्दी में पहले दो आलम की संभावना व्यक्त की गयी थी—एक अकबर के समकालीन और दूसरे औरंगजेब के पुत्र मुअज्जमशाह के समकालीन। पर उन्होंने केवल एक अकबर के समसामयिक आलम को ही भक्तिकाल के अंतर्गत माना। दूसरे आलम को भ्रम से उत्पन्न बताया। भक्तिकाल में ऐसे भी कतिपय कृष्णभक्त कवियों का उल्लेख किया है जिनकी रचना भक्ति की दृष्टि से नहीं साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण हुई।

१,२. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०) आचार्य मिश्र—पृ० १९३, १३८।

श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद का खण्डन कर विशिष्टाद्वैत-मत का प्रतिपादन किया। उन्होंने जीव और ब्रह्म की सत्ता स्वीकार कर जीव को अणु और ब्रह्म को सर्वव्यापी माना। रामानुजाचार्य ने नारायण की उपासना चलायी और इसी परम्परा में दीक्षित रामानन्द जी ने नारायण के स्थान पर नारायण के अवतार राम की उपासना प्रवर्तित की। जनश्रुति से इन्हीं के शिष्य कबीर और तुलसीदास थे, पर अनुसंधान के आधार पर मिश्र ने यह प्रमाणित किया है कि दोनों में से कोई भी इनका शिष्य नहीं था।[1] इस सम्प्रदाय को श्रीसम्प्रदाय इसलिए कहते हैं कि सबसे प्रथम आचार्य भक्त स्वयम् श्री अर्थात् लक्ष्मी थी। श्री सम्प्रदाय में दास्यभाव की उपासना मानी जाती है। तुलसीदास ने भी दास्यभाव पर विशेष बल दिया है। इनका भी कहना है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि[2]।

उन्होंने तुलसीदास को विश्वकवि और उनके 'रामचरितमानस' को 'विश्व काव्य' कहा है। अनेक आलोचकों का मत है कि मिश्र जी की मान्यताएँ शुक्ल जी से विलग नहीं हैं, दोनों ने ही तुलसीदास को हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। जिस रचनाकार की रचनाएँ स्वयं में ही युग का निर्माण करती हों और जिनका अनुवाद देश-विदेश की अनेक भाषाओं में हुआ हो क्या वह परिमित लोगों में ही प्रिय रहेगी? तुलसीदास की जितनी रचनाएँ प्रामाणिक रूप में उपलब्ध है शायद उतनी अतीत के किसी एक हिन्दी-साहित्य युग में किसी या किन्हीं की कृतियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। तुलसीदास का रामचरितमानस आज भी लोकमानस पर जिस रूप में छाया हुआ है उस रूप में हिन्दी-साहित्य की अन्य रचनाएँ नहीं। इस सर्वश्रेष्ठता को आचार्य शुक्ल से मतैक्य न मानकर लोकमत से मतैक्य मानना अधिक संगत होगा।

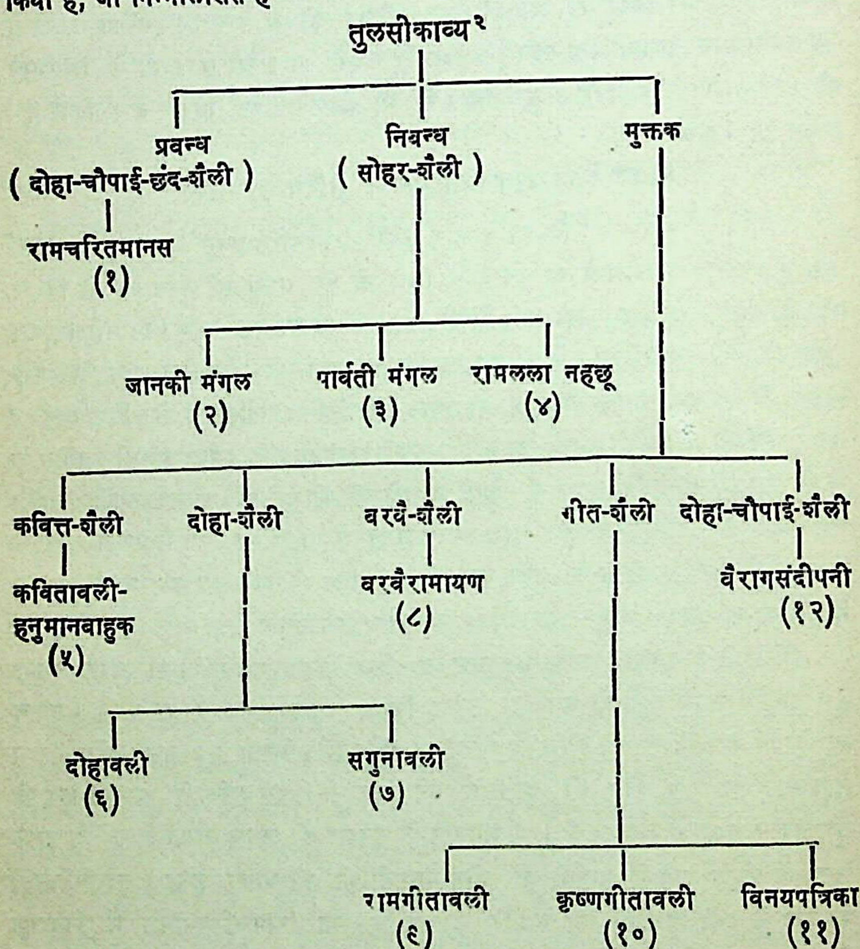
मिश्र जी ने इनकी समष्टि-समन्वयात्मक लोकदृष्टि का यथाशक्ति प्रतिपादन किया है। इन्होंने भगवान् के दो रूपों का उल्लेख किया—ऐश्वर्यरूप और रसरूप। भगवान् का ऐश्वर्य रूप शक्तिशाली होता है, शक्ति का पूर्ण प्रदर्शन करता है। उसके द्वारा किया गया कार्य साधारण जीव की शक्ति के परे होता है। इस शक्ति से सम्पन्न रूप को तुलसीदास सुगम रूप कहते हैं। ये भगवान् के रसरूप को अगम मानते हैं क्योंकि उनके उस रूप को समझने में पार्वती जी और गरुड़जी को भी धोखा हुआ। तुलसीदास ने भगवान् के इसी मानवीय रूप के प्रति उत्पन्न भ्रम का 'रामचरितमानस' में निवारण किया है। रामभक्तिशाखा सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्मों की भक्ति का समन्वय है।

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० २२६।
२. रामचरितमानस (गीता प्रेस)—उत्तरकाण्ड, दोहा सं० ११९।

मिश्र जी ने सगुण भक्ति के आन्दोलन को केवल धार्मिक आन्दोलन ही नहीं माना, वह ऐसा सामाजिक आन्दोलन है जो सामाजिक मर्यादा का प्रत्यक्ष खण्डन न करते हुए सबके लिए उन मार्गों को खोल देता है जो शास्त्रीय परम्परा के अनुसार कुछ के लिए वन्द हैं।[1]

उन्होंने तुलसीकाव्य को प्रवन्ध, निवन्ध और मुक्तक इन तीन खण्डों में विभाजित किया है, जो निम्नलिखित हैं—



उन्होंने इन सभी ग्रन्थों के काव्यगत-वैशिष्ट्य का निरूपण किया है। उनकी दृष्टि में तुलसीदास की विनयपत्रिका जैसी हिन्दी-पदों में अन्य दूसरी प्रौढ़ रचना नहीं लिखी

१,२. हिन्दी-साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० २३२, २३६।

गयी। वहुतों ने तुलसीदास के अन्य ग्रन्थों के समान 'रामचरितमानस' को भी भक्ति-ग्रन्थ की संज्ञा दे दी है, पर मिश्र जी ने 'मानस' को साहित्यिक ग्रन्थ के रूप में ही स्वीकार किया है। 'मानस' में पुराण शैली का साहित्यिक ग्रहण होने से और 'नाना-पुराणनिगमागमसंमतम्' को सामने रखकर जिन्होंने 'मानस' को पुराण-महापुराण तथा तुलसी को पुराणपंथी कहकर साहित्य के क्षेत्र से विलग करने का प्रयत्न किया है उनके लिए उन्होंने संस्कृत-व्याकरण का अभ्यास करना अपेक्षित माना है। कुछ महापंडितों ने उनपर लांछन लगाया कि उन्होंने अपनी कृति द्वारा समाज को तीन सौ वर्ष पीछे फेंक दिया। उन्होंने अपनी रचना 'स्वान्तःसुखाय' की थी, उनका लोकदृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं था। मिश्र जी ने इन निराधार मतों के समाधान हेतु—"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥" का उल्लेख करते हुए उनके आविर्भाव काल की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उनका विचार किया है। उन्होंने उनकी रचनाओं में वर्तमान-युग की प्रगतिवादी दृष्टि का भी अवलोकन किया है। उनकी मान्यता है कि देश के ऐहिक उत्थान में उनका विशेष योगदान रहा है। उन्होंने तुलसी के सम्प्रदाय, संवाद, साधु-असाधु-विचार, नाममाहात्म्य, भक्ति के स्वरूप, भरत की भक्ति, माया, मानस के साहित्यिक मानदण्ड आदि पर साहित्यिक समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया है। रामभक्तिशाखा में तुलसी-दास के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वपूर्ण कवि नहीं हुआ। रामभक्ति की दृष्टि से उन्होंने स्वामी अग्रदास, नाभादास और प्राणचन्द चौहान का उल्लेख किया है।

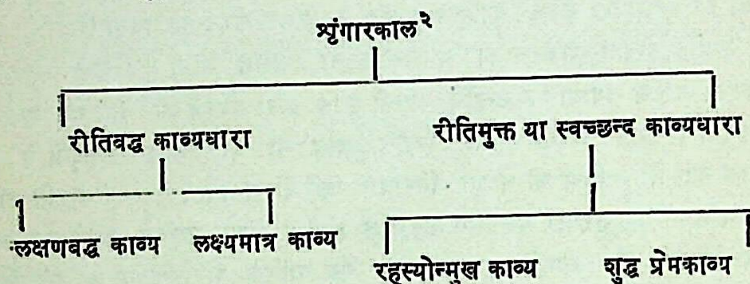
उत्तरमध्यकाल

हिन्दी साहित्य-जगत् में आलोचना की भाँति ही हिन्दी-साहित्य के विवेचन की दृष्टि से रीतिकाल या शृंगारकाल के सम्बन्ध में उनकी अभूतपूर्व देन है। उन्होंने अपने साहित्य के इतिहास के लगभग आधे भाग में उत्तरमध्यकाल का ही विवेचन किया है। इसमें उनके व्यक्त विचार अन्य विद्वानों के मतों से सदैव टकराते रहते हैं। सबसे पहला आघात उनके नामकरण से सम्बद्ध मतों पर पड़ा जिसमें वे इस काल के आभ्यन्तर पक्ष को दृष्टिगत कर इसे 'शृंगारकाल' कहते हैं।

हिन्दी साहित्य के 'रीतिकाल' नामकरण से स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी असन्तोष प्रकट किया है। उनका मत है कि "शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को कोई रस के विचार से शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।"[1] इस काल के उपविभाग के विषय में उनका कहना है कि—रीतिकाल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परम्परा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि का कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है—रीतिबद्ध ग्रंथों

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, पृ० २२३।

की बहुत गहरी छान-बीन और सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर आगे चलकर शायद कोई विभाग का आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला।[1] मिश्र जी ने शुक्ल जी की इन संभावनाओं को पुष्ट प्रमाणों द्वारा पूरा कर दिया। इस काल का नाम तो उन्होंने 'श्रृंगारकाल' रखा ही, इसका उपविभाग भी तत्कालीन साहित्यिक दृष्टि से किया है—



इस नामकरण एवं उपविभाग द्वारा आलम, ठाकुर, घनआनंद, बोधा, द्विजदेव आदि ऐसे कवि जो रीतिग्रन्थकारों के समक्ष उपेक्षा की दृष्टि से देखे गये थे अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि कवियों की श्रेणी में आ जाते हैं।

साधारणतया साहित्येतिहासकारों द्वारा सं० १७०० से १९०० वि० तक के काल को 'रीतिकाल' या 'श्रृंगारकाल' की संज्ञा दी गयी। श्रृंगार की प्रवृत्ति भक्तिकाल से ही धीरे-धीरे प्रबल होने लगी थी। इसी से मिश्र जी ने संवत् १६०० से १७०० वि० के समय को 'श्रृंगारकाल' का 'प्रस्तावनाकाल' या 'उपक्रमकाल' कहा। आधुनिक नयी धारा का प्रवर्तन तो सं० १९०० के आसपास आरम्भ हो गया, पर वह 'श्रृंगारकाल' से सं० १९७५ वि० तक पूर्णतः स्वच्छंद हो गयी। इसी से उन्होंने सं० १९०० से १९७५ वि० तक के काल को 'अवसानकाल' या 'उपसंहारकाल' कहा।[3] पर श्रृंगारकाल का प्रौढ़ रूप सं० १७०० से १९०० वि० तक ही माना। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने भी १७ वीं और २० वीं शती के रीतिकाव्य को क्रमशः प्रस्तावना एवं उपसंहार काल के रूप में स्वीकार किया।[4]

मिश्र जी की इन मान्यताओं पर कतिपय प्रतिष्ठित आलोचकों ने अपनी प्रतिक्रियाएँ भी व्यक्त कीं। अन्य क्षेत्रों में आचार्य शुक्ल से वैमत्य रखने वाले भी इस क्षेत्र में शुक्ल जी द्वारा दिये गये नाम की दुहाई देते हैं। इनकी कृतियों में मिश्र जी की मान्यताओं

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वक्तव्य–पृ० ५।
२. हिन्दी साहित्य का अतीत (द्वि० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ३८८।
३. बिहारी—आचार्य मिश्र, पृ० २२।
४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)—संपा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७२।

का शब्द रूपान्तर भी मिलता है। डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ने अनेक तर्कों द्वारा इस काल का नाम 'रीतिकाल' ही उपयुक्त बताया, पर मिश्र जी का प्रभाव सर्वप्रथम उन्हीं पर परिलक्षित होता है। वे साहित्य के इतिहास के कालविभाजन का आधार कृति, कर्ता, पद्धति, व्यक्ति या विषय को मानते हैं,[१] जो मिश्र जी की उनसे पूर्व स्थापित मान्यता है।[२] इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के बृहत् इतिहास में उन्होंने सत्रहवीं शती में होने वाले रीति कवियों एवम् रचनाकाल सहित उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है[३] जो कि मिश्र जी की बिहारी पुस्तक में दी हुई तालिका का ही थोड़ा परिवर्तित रूप है।[४] इस तालिका में मिश्र जी ने शायद कविता-काल के सामान्य निर्देशन के लिए सं० १६५० वि० में केशवदास की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' रचना स्वीकार की है जबकि 'रसिकप्रिया' का रचनाकाल सं० १६४८ वि० है और 'कविप्रिया' का सं० १६५८ है, अन्य स्थान पर मिश्र जी ने भी इसे स्वीकार किया है।[५] यह असावधानी 'सुमन' जी में स्पष्ट दिखायी देती है। विष्णुकान्त शास्त्री ने उनकी थोथी दलीलों पर आक्षेप करते हुए कहा है कि 'डॉ० नगेन्द्र के सम्पादन में निकलनेवाले अत्यन्त प्रामाणिक माने जानेवाले इतिहास-ग्रन्थ में स्थान कैसे मिल गया।'[६]

'श्रृंगारकाल' के विरोध में कही गयी उनकी सभी उक्तियों का उल्लेख कर शास्त्री जी ने तर्कपूर्ण दृष्टि से उनका खण्डन किया है। डॉ० सुमन ने इस काल के कवियों को तीन भागों में विभक्त किया है—रीतिग्रन्थकार कवि, रीतिबद्ध कवि और रीतिमुक्त कवि। इन सब पर रीति का प्रभाव दर्शाते हैं। यहाँ तक कि कवित्वपूर्ण पद-रचना का वैशिष्ट्य दिखाकर रीतिमुक्त कवियों पर भी इसका प्रभाव दिखाते हैं।[७] यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी साहित्य के अन्य युग के कवियों को भी रीतिकाल के अन्तर्गत स्थान न देना बहुत बड़ा अन्याय है, क्योंकि उन कवियों की रचनाओं में भी यह गुण पाया जाता है।

हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के षष्ठ भाग का नाम 'श्रृंगारकाल' रखना इसके मूल आयोजकों ने अत्यधिक समीचीन समझा था। पर इस भाग के सम्पादक डॉ०

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)—संपा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६०।
२. बिहारी—आचार्य मिश्र, पृ० २।
३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)—संपा० डॉ० नगेन्द्र, पृ० १६७।
४. बिहारी—आचार्य मिश्र, पृ० १६।
५. हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० दो)—आचार्य मिश्र, पृ० ४२६।
६. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अभिनन्दन ग्रन्थ—संस्मरण-संदर्भ-पृ० ६४।
७. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)—पृ० १६।

नगेन्द्र ने इसके स्थान पर रीतिकाल नाम देना अत्यधिक उपयुक्त समझा और अपने सम्पादकीय वक्तव्य में लिखा कि "अनेक कारणों से हमने परम्परासिद्ध 'रीतिकाल' नाम ही ग्रहण किया है, शृंगारकाल नहीं। यों तो दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं, फिर भी 'शृंगार' की अपेक्षा 'रीति' शब्द ही हमारे दृष्टिकोण के अधिक निकट है। इस साधारण से परिवर्तन के लिए हम इतिहास के मूल आयोजकों से क्षमायाचना करते हैं।"[1] उन्होंने अनेक कारणों की पुष्टि किये विना ही इसका नाम बदल दिया और इसके आयोजकों ने संतोष भी कर लिया। उनकी दृष्टि में जब दोनों नामों में कोई मौलिक भेद नहीं था तो फिर नाम बदलने से क्या लाभ हुआ? 'अनेक कारणों' के पीछे एक कारण अवश्य दिखाई देता है, वह है व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि।

डॉ० सुमन ने 'रीतिकाल' के 'रीति' शब्द का संस्कृत काव्यशास्त्रगत अर्थ लिया—एक विशिष्ट पद रचना और दूसरा लक्षणग्रन्थ।[2] जबकि आचार्य शुक्ल और डॉ० नगेन्द्र के मत को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रीति' शब्द का प्रयोग रीतिकाल में वामन की परिभाषा के अर्थ में न होकर 'काव्य-रीति' या 'कवित्त-रीति' के संक्षिप्त रूप में हुआ है। आचार्य शुक्ल का कहना था कि 'रीतिग्रन्थों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गाररस) और अलंकारों के वहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।'[3] इसके सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का मत है कि "रीति-युग" में ध्वनि, रस और अलंकार इन तीनों ही वादों का अनुकरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का तो किसी ने नाम ही नहीं लिया, क्योंकि वैसे भी इस समय तक ये काव्यशास्त्र से वहिष्कृत हो चुके थे। उपर्युक्त तीनों वादों में भी प्रधानता रही रस-सम्प्रदाय की और रस में भी शृङ्गाररस की। वास्तव में हिन्दी में रुद्रभट्ट और भोज के अनुसरण पर 'शृङ्गारवाद' की स्वतन्त्र रूप में ही प्रतिष्ठा हो गई थी।"[4] उनका यह कथन भी इस काल का नाम 'शृङ्गारकाल' घोषित करने के लिए पर्याप्त है। उन्होंने 'रीति' शब्द का परम्परा के अर्थ में ग्रहण किया है। हिन्दी के रीति आचार्यों ने सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों द्वारा 'रसवाद' की पूर्ण प्रतिष्ठा की है।[5] इस दृष्टि से मिश्र जी का मत समीचीन ही लगता है।

१,२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (षष्ठ भाग)—वक्तव्य, पृ० १६४।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २१९।

४. रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, पृ० १७२।

५. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—अभिनन्दन ग्रंथ (रीति संदर्भ), पृ० २२६-२२७।

'शृंगारकाल' नाम पर चोट करने वालों में ही डॉ० वच्चन सिंह का भी स्थान है। उनका कहना है कि शृंगारकाल नाम आलोचकों की नई उद्‌भावना नहीं, शुक्ल जी की उक्ति का ही भाष्य है, जो सामान्यतः मान्य नहीं है।[१] इससे स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि में 'शृंगारकाल' नाम के समर्थक ने इसे नई उद्‌भावना के रूप में प्रस्तुत किया है, जबकि मिश्र जी नें आचार्य शुक्ल की उक्ति[२] को उद्‌धृत करते हुए लिखा है—'इसी से इसे रीतिकाल मानने वाले विद्वान् भी रसदृष्टि से शृंगारकाल कहना उचित समझतें हैं।'[3] डॉ० वच्चन सिंह का दूसरा आक्षेप है कि 'यदि शृंगारकाल नाम स्वीकृत कर लिया जाय तो फुटकल खाता वन्द नहीं होता, कम से कम भूषण तक उनके नीति और उपदेश-परक काव्य लिखने वालों के लिए इसे खोलना ही पड़ेगा।'[४] इसी दृष्टि से तो हिन्दी साहित्य के काल विभाजन में जितने नामकरण किये गये हैं वे सब अनुचित हैं, क्योंकि कोई भी ऐसा काल नहीं जिसमें एक से अधिक प्रवृत्तियाँ न दिखायी देती हों। इसीसे किसी काल के फुटकल खाते को भी नहीं समाप्त किया जा सकता।

उनकी अगली आपत्ति घनआनन्द के रीतिमुक्त एवं विशुद्ध स्वच्छंदतावादी होने पर है। उनको कठिनाई इस बात की है कि "घनआनन्द और प्रवृत्ति की दृष्टि से उनसे कुछ मिलते-जुलते कवि स्वच्छंदता दिखाने पर भी रीतिकाल के प्रभाव से बच नहीं सके हैं। उन पर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में रीतिकालीन रूढ़ियों का निश्चित प्रभाव लक्षित होता है। अतः घनआनन्द का अवलम्ब लेकर भी 'रीतिकाल' के समक्ष शृगारकाल नाम का औचित्य नहीं सिद्ध होता है।"[५] ऐसे निराधार तर्कों का समाधान करना अपना समय वरवाद करना है। जिस कवि को आचार्य शुक्ल[६] और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[७] जैसे साहित्येतिहासकारों ने भी स्वच्छन्दतावादी बताया है, उसमें भी डॉ० वच्चन सिंह को स्वच्छन्दता कम और रीतिकालीन रूढ़ियों का प्रभाव अधिक दिखता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'शृंगार' को 'रीति' का एक अंग बताते हुए 'रीतिकाल' के औचित्य पर वल दिया है। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने मिश्र जी के रीति-कालीन उपविभाग को पक्षपातपूर्ण कहा है। वस्तुतः मिश्र जी ने भी 'शृंगारकाल' के

---

१. रीतिकालीन कवियों में प्रेमव्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह, पृ० ६।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, पृ० २२२।
३. विहारी—आचार्य मिश्र पृ० २४।
४,५. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना—डॉ० वच्चन सिंह, पृ० ६-७।
६. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल, पृ० २९६।
७. हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० ३३८।

साथ ही साथ परम्परा निर्वाह की दृष्टि से 'रीतिकाल' का भी उल्लेख किया है। पर 'श्रृंगारकाल' नाम से उपेक्षा की दृष्टि से देखे गये कवियों को हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रमुख स्थान तो मिला ही, साथ ही सामग्री की दृष्टि से इस काल के आभोग का विस्तार भी हुआ। इस काल की प्रवृत्ति का नाम से ही बोध कराने वाला 'श्रृंगारकाल' नाम अब हिन्दी साहित्य के मध्य पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया है।

जो विद्वान् रीतिकाल के स्थान पर 'श्रृंगारकाल' नाम देने में पूर्ण सहमति नहीं प्रकट करते वे 'श्रृंगार' का अर्थ केवल श्रृंगार 'रस' लेते हैं, जबकि मिश्र जी ने 'श्रृंगार' शब्द का अर्थ सजावट भी लिया है जिसके अन्तर्गत रीतिकाल, अलंकृतकाल, कलाकाल आदि का औचित्य भी सार्थक हो जाता है और समकालीन प्रवृत्तियाँ भी उसमें समाविष्ट हो जाती हैं। उन्होंने श्रृंगार का अर्थ दो रूपों में ग्रहण किया है (एक भेंट वार्ता में मिश्रजी द्वारा स्पष्टीकरण)—श्रृंगार का पहला अर्थ कलाकारिता या सजाना-सँवारना है। जिसमें अलंकृत या कला काल की प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। दूसरा अर्थ रस है जो इस युग के सभी कवियों के आभ्यंतर में किसी न किसी रूप में व्याप्त था। इस प्रकार इनके नामकरण में आभ्यंतर और वाह्य दोनों पक्ष आ जाते हैं।

मिश्र जी ने श्रृंगारकाल के विभाजन में उस काल को प्रभावित करने वाले साहित्य और उस समय की वर्तमान पद्धति के आधार पर अपना निर्णय दिया है। श्रृंगारकाल में दो प्रकार के कवि स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं—एक तो वे हैं जिन्होंने परम्परा का निर्वाह करते हुए रचनाएँ कीं और दूसरे स्वच्छन्द रूप से अभिव्यक्ति करने वाले। उन्होंने रीतिबद्ध धारा में केवल उन्हीं कवियों को स्थान दिया जो लक्षणग्रंथ लिखकर और लक्ष्य बनाकर अपनी रचना करते थे। बिहारी, रसनिधि जैसे कवियों को भी इसी में स्थान दिया जिन्होंने लक्षण न लिखकर रीति का सहारा लेकर अपने लक्ष्य प्रस्तुत किये। उन्होंने कलात्मकता के साथ श्रृंगार का ही सहारा लिया। अन्यों से पार्थक्य के लिए मिश्र जी ने इन्हें रीतिसिद्ध बताया। जिन कवियों ने रीति के बन्धन को स्वीकार नहीं किया, उनको उन्होंने रीतिमुक्त या स्वच्छन्द धारा के अन्तर्गत स्थान दिया।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने तीन प्रकार के कवियों का उल्लेख किया है—शास्त्रकवि, काव्यकवि और शास्त्रकाव्योभय कवि अर्थात् शास्त्र और काव्य दोनों में प्रवीण कवि। श्यामदेव का कहना है कि इन तीनों में उत्तरोत्तर कवि श्रेष्ठ हैं।[1] पर राजशेखर ने शास्त्र कवि और काव्य कवि को समान स्थान दिया और उभय कवि को

---

१. स च त्रिधा। शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविः कश्चित्।
'तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्' इति श्यामदेवः।—काव्यमीमांसा—पृ० ४१।

इन दोनों से श्रेष्ठ बताया। मिश्र जी की दृष्टि में लक्षणबद्ध रचयिता शास्त्र कवि हैं, रीतिमुक्त काव्यकवि और लक्षण के आधार पर काव्य प्रस्तुत करने वाले शास्त्र काव्योभय कवि हैं। रीतिकाल नाम के प्रेमियों के लिए ही या आचार्य शुक्ल के प्रति आदर के कारण विभाजन में 'रीति' शब्द को भी जोड़ दिया गया है। रीतिमुक्त, रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध नाम रखे गये हैं।

उन्होंने रीतिबद्ध-ग्रंथों की अखण्ड परम्परा को कृपाराम की 'हिततरंगिणी' से माना है, जिसका रचनाकाल सं० १५९८ है। इस ग्रंथ की रचना अब परवर्ती मानी जाती है। फिर भी उन्होंने सं० १६०० के आसपास से सं० १७०० वि० तक रीतिग्रंथों की अखण्ड परम्परा स्वीकार की है। उन्होंने रीतिबद्ध कवियों के प्रति फैले भ्रम का भी निवारण किया है। आचार्य केशवदास की उनकी जिस उक्ति पर विद्वान् शुद्ध अलंकारवादी घोषित करते हैं उसी उक्ति के आधार पर उन्होंने उनकी रसमय दृष्टि स्पष्ट की है। वे 'भूषन बिन न विराजई कविता बनिता मित्त' अवश्य मानते हैं, पर वह कविता कैसी हो—'यदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।' मिश्र जी ने 'सरस' शब्द के आधार पर उनकी दृष्टि को रसमय भी माना है। केशवदास ने 'शृंगारतिलक' आदि ग्रंथों के आधार पर 'रसिकप्रिया' की रचना की। वहाँ रस को रसवत् अलंकार मात्र नहीं माना गया है।

मिश्र जी ने सं० १६१६ से सं० १७०० तक के समय के दो खण्ड किये—एक वे शृंगारी कवि जिनका सम्बन्ध दरबारों से था और दूसरे वे भक्तकवि जो दरबारों से पृथक् रहे। सं० १७०० तक तो भक्ति की रचनाओं का ही प्राधान्य रहा, पर उसके पश्चात् शृंगार की धारा बलवती हुई। उन्होंने इस धारा का प्रवाह इस वेग से सं० १९०० तक माना। यह धारा सं० १९०० से १९५० वि० तक मन्द गति से प्रवाहित हुई और सं० १९७५ तक आते-आते अपने को पूर्ण रूप में बदल लिया।

इस काल की प्रवृत्ति पर उन्होंने संस्कृत-रीतिकाव्य तथा भक्तिकाल का प्रभाव बताया। भक्तिकाल के कृष्णभक्त कवियों के यहाँ राधाकृष्ण की भक्ति का जो स्वरूप था वही शृंगारकाल में भक्ति से पृथक् होकर शृंगारिक रूप में स्थापित हुआ। राधाकृष्ण की भक्ति का माधुर्य-भाव ही इस काल का मुख्य आलम्बन सिद्ध हुआ। भारतीय परम्परा की आचार निष्ठा के विरुद्ध इस काल में परकीया-प्रेम ने विस्तार पाया।

मिश्र जी ने शृंगार-रीति युग के लक्षण-ग्रन्थकारों को लक्षणशास्त्र निर्माणकर्ता नहीं माना। लक्षण के निरूपकों ने स्वतः अपनी कृति से लक्षण ग्रन्थ भरे। संस्कृत-साहित्य में लक्ष्य पहले और लक्षण पीछे होता था। इसी से वहाँ लक्षणों के उदाहरण विभिन्न काव्यों से लिए गये हैं। हिन्दी में लक्षण के पीछे लक्ष्य चलने लगा। रीतिबद्ध

कवियों की उक्तियों में एकरूपता होने से उनकी रचनाओं को अलग करने में कठिनाई होती है, बिहारी, मतिराम आदि कुछ ही कवियों की रचनाओं में व्यक्तिवैशिष्ट्य होने से पृथक् करने में सरलता है। इस काल का विशेषकर रीतिबद्ध काव्य, दरबारी है। इस काल के कवियों ने दरबारी होने से मुक्तक रचनाएँ ही अधिक लिखीं। मिश्र जी ने, मध्ययुगीन दरबारी कवियों की तुलना आधुनिक युग के घोड़ा छोड़ने वाले भाड़ों से की है[1] जो अपने कलात्मक मुक्तकों के पाठ द्वारा उछल-कूद कर सभासदों का मनोरंजन किया करते थे। केशवदास ने हिन्दी में प्रबन्धधारा के प्रवाहित होने का मार्ग प्रशस्त किया।

मिश्र जी ने इस काल के कवियों के शृंगार और विपरीत रति आदि के सम्बन्ध में कहा है कि "रही घोर शृंगारिकता की बात, सो विपरीत रति और सुरतांत के वर्णन संस्कृत और प्राकृत परम्परा में पहले ही चले आ रहे थे। फिर भी ऐसे वर्णनों के नाम पर जितनी अधिक इनकी कुत्सा की जाती है उतने अधिक परिमाण में वे वर्णन नहीं मिलते।"[2] उन्होंने वर्ण्य-विषय और प्रवृत्तियों की दृष्टि से हिन्दी में रीतियुगीन साहित्य का शिलान्यास विद्यापति[3] से माना है, पर काल की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के आदिकाल के आभोग में ही इनको स्थान देना उचित समझा। उनके विवेचन का प्रमुख आधार साहित्य का लोक से सम्बन्ध है। उनकी दृष्टि में जनता के पदों को साहित्यिक स्तर पर लाने वाले सर्वप्रथम कवि विद्यापति हैं।[4]'

उन्होंने रीतिधारा के अन्तर्गत आचार्य केशवदास, सेनापति, जसवन्त सिंह, मतिराम, देव, भिखारीदास, पद्माकर, ग्वाल आदि कवियों का निरूपण किया है। आचार्य केशवदास के प्रति कही गयी—'कठिन काव्य के प्रेत', 'कवि को दीन न चहै बिदाई। पूछै केसव की कविताई', 'उड़गन केशवदास' आदि हीन उक्तियों का खण्डन करते हुए उन्होंने इनको जायसी और कबीर से भी श्रेष्ठ स्थान दिया। उन्होंने इनकी रचनाओं पर सूक्ष्म रूप में विचार करते हुए इनके ऊपर लिखी गयी टीकाओं और टीकाकारों का भी विवेचन किया है।

रसनिरूपण में उन्होंने विभाव पक्ष का निरूपण आवश्यक माना है। विभावपक्ष में केवल आलम्बन का नाम निर्देश नहीं, अपितु भाव एवम् रस को अभिव्यंजित करने के कारण उसका निरूपण भी आवश्यक माना है। इस दृष्टि से पद्माकर का रस का निरूपण उत्तम कोटि का नहीं है। '....किसी भाव के निरूपण में उसका नाम लेना ही

१-४. हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २)—आचार्य मिश्र, पृ० ४०५, ४०७, ४११, ४१२।

उस भाव का चित्र खींचना नहीं है।'[१] पद्माकर को केवल भावों का नाम लेने वाला ही माना है। इस काल के कवियों पर आचार्यत्व-सम्बन्धी लगे दोषों का निराकरण उन्होंने तत्कालीन साहित्यिक पीठिका को दृष्टिगत करके किया है। व्यंग्यात्मक अलंकृत शैली में तुलनात्मक रूप भी प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि "केशव ने सामाजिक अमर्यादा का 'शव' निकालकर शिवत्व का अधिक संयोजन तो किया है पर 'केशव' अपने 'केश' का क्या करते, शिव को शुक्लता आने पर भी शृङ्गार की श्यामता वे नहीं हटा सके, जब केशवदास की दासता भी इसका परिष्कार नहीं कर पाई तब पद्माकर भट्ट की 'भट्टता' क्या कर सकती थी।"[२] उन्होंने पद्माकर के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "जो पद्माकर सागर में जनमे उन्होंने रससागर तरंगायित कर दिया। क्या कहें सागर में पद्माकर या पद्माकर में सागर।"[३] उन्होंने इस काल के सम्बन्ध में निर्णयस्वरूप कहा है कि "हिन्दी साहित्य का शृङ्गारकाल मध्ययुग में उसका पूर्ण यौवन था। उसमें शृङ्गार की रसिकता ही नहीं थी, रसिकता का शृङ्गार भी था।"[४]

रीतिमुक्त धारा के कवियों ने रीतिबद्ध धारा के कवियों का मजाक उड़ाया है। इस धारा के पण्डितों को ठाकुर ने कविता के साथ खेल करने वाला और घनआनन्द-कवित्त के संग्रहकर्ता व्रजनाथ ने साधारण रचना करने वाला कहा है। व्रजनाथ का इस सम्बन्ध में कहना है कि—

"जग की कबिताई के धोखे रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।"

मिश्र जी ने रीतिबद्ध रचना में हृदय पक्ष को दबा हुआ और कला पक्ष को प्रबल माना है। घनआनन्द ने भी उस कविता को हीन भावना से देखा, जिसकी रचना केवल कलात्मकता-प्रदर्शन के लिए की गयी है। अपनी कविता को वे हृदय का उद्गार मानते हैं। उनका कहना है कि—

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।"

रीतिकाल में एक वर्ग ऐसा भी था जो रीति से बँधा भी था और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी चलता था। उन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थी, इसीलिए मिश्र जी ने इस वर्ग को रीतिसिद्ध नाम दिया। इस धारा के विशिष्ट प्रतिनिधि कवि 'बिहारी' हैं। उन्होंने रीतिसिद्ध कवियों में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों को समतुल्य बताया है। उन्होंने इस समय की कविता को स्वान्तःसुखाय न मान कर स्वामिनः सुखाय माना है।[५] उन्होंने बिहारी सतसई की लोकप्रियता के विषय

१-४. हिन्दी साहित्य का अतीत, (भाग २)—आचार्य मिश्र, पृ० ५६५, ५९७, ६०३, ५९७।

५. बिहारी की वाग्विभूति—आचार्य मिश्र, पृ० २९।

में कहा है कि 'परिस्थितियों का पंचामृत पीकर जो लोक रुचि हुई, उसने सतसई के अत्यधिक प्रभाव में सहायता पहुँचाई।'[1]

मिश्र जी ने शृंगारकाल से पूर्व प्रवाहित होनेवाली धाराओं के प्रभाव के आधार पर स्वच्छन्दधारा को दो वर्गों में विभक्त किया। भक्तिकाल में प्रवाहित सगुणधारा का प्रसार भारतीय काव्य-परम्परा के पथ पर और निर्गुणधारा का प्रसार विदेशी सूफी रहस्य मार्ग पर हुआ। मिश्र जी ने आलम, ठाकुर और द्विजदेव को शुद्ध भारतीय प्रेम पद्धति का प्रतिनिधि बताया और रसखान, घनआनन्द तथा बोधा में उसकी झलक मात्र मानी। सूफियों की 'प्रेम की पीर' का स्पष्ट प्रभाव घनआनन्द पर है। घनआनन्द और सुजान का प्रेम लौकिक धरातल पर था, वह बाद में राधाकृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला की ओर उन्मुख हो गया। सूफियों की भाँति उन्होंने भी कई स्थानों पर ब्रह्म-प्रेम का आभास दिया है।

उन्होंने काव्य के सहृदय को संवेदनशील अवश्य माना है पर शास्त्राभ्यास-शून्य नहीं। स्वछन्दवृत्ति वाले कवियों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है, पर मध्य-कालीन स्वच्छन्दवृत्ति वाले कवियों की संवेदना केवल प्रेम की थी। इन कवियों की यह संवेदना हिन्दी साहित्य के आदिकाल के कवि विद्यापति की 'प्रेमसंवेदना' का पारम्परिक रूप नहीं थी, अपितु फारसी साहित्य और सूफी साधना के प्रवाह से सम्बद्ध थी, जिसकी प्रवृत्ति रहस्यात्मक थी। इस प्रवाह के सर्वश्रेष्ठ कवि घनआनन्द की रचनाओं को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है--एक प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति और दूसरी भक्तिसंवेदना की अभिव्यक्ति। भक्तिसंवेदना की अभिव्यक्ति को रसखान के बहुत निकट माना है और प्रेमसंवेदना की अभिव्यक्ति को साहित्यिक भंगिमा से संचालित। इसमें प्रथम भक्तों के लिए है और द्वितीय सहृदयों के लिए।

रीतिमुक्त धारा का सबसे प्राचीन कवि उन्होंने रसखान को माना है। कतिपय लोग उनकी रचना को भक्ति की मानते हैं, पर मिश्र जी ने इनको प्रेमोमंग का गायक माना है। उनके विचार से कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि की रचना को भक्ति-प्रचारक मान सकते हैं, पर इनको रचना को नहीं। उन्होंने इनकी रचनाओं को तीन भागों में विभक्त किया है--'प्रथमखण्ड की रुचि रीतिबद्ध रचना की ओर दिखाई देती है। दूसरे खण्ड में पहले का त्याग कर स्वच्छन्दरूप से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदार्पण किया है और तीसरे खण्ड में इनकी रचनाएँ स्वच्छन्द भक्तिपरक हो गई हैं।[2]

घनआनन्द के 'उरभौन में मौन को घूँघट' की स्थिति को समझने वाले मिश्र जी

---

१. बिहारी की वाग्विभूति--आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३१।
२. हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० २)--आचार्य मिश्र, पृ० ६६३।

ने उनकी लाक्षणिक वैलक्षण्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के प्राचीन काल का ही नहीं आधुनिक काल के छायावादी कवियों से भी श्रेष्ठ माना है।[1] विरह के गीत घनआनन्द और छायावादी दोनों ने गाये जिनमें विदेशीपन था। रीतिकाल में निर्गुणभक्ति के भारतीय सगुणभक्ति में विलीन हो जाने से घनआनन्द ने उस विदेशीपन को स्वकीय रूप दे दिया। वे अपने लौकिक प्रेम के चरमोत्कर्ष को सूफियों जैसा निर्गुण के प्रेम में छिपाने का प्रयास करने लगे, जिससे वे उसको स्वकीय रूप नहीं दे सके। मिश्र जी ने आलम, घनआनन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव आदि को रीतिमुक्त धारा के प्रतिनिधि कवियों के रूप में प्रतिष्ठित किया।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में वीरकाव्यों की भी रचनाएँ हुईं, जिसे उन्होंने हिन्दी साहित्य के वीर काव्यों की परम्परा का द्वितीय उत्थान कहा। इस उत्थान में पाँच प्रकार की पद्धतियों का उन्होंने उल्लेख किया है—

१. शुद्ध वीरकाव्य,

२. रासो-पद्धति का शृंगार-मिश्रित वीरकाव्य,

३. वीर-देव-काव्य या भक्तिभावित वीरकाव्य,

४. अनूदित वीरकाव्य (महाभारत जैसे वीर काव्यों के अनुवाद), और

५. दरबारी कवियों का प्रकीर्ण वीर काव्य।

उन्होंने भूषण, श्रीधर, लाल, सूदन, पद्माकर को प्रथम पद्धति का कवि माना एवं इनमें भूषण तथा लाल को उदात्त भावनाभावित कवि बताया।[2] रासो मिश्रित पद्धति पर जोधराज, चन्द्रशेखर और सूर्यमल्ल को माना।

भूषण की आलोचना उन्होंने भाषा, भाव और वर्णन शैली की दृष्टि से की है। रीति की दृष्टि से उन्होंने इनको साधारण कवि ही कहा है। उनका कहना है कि 'भूषण में आलंकरिक विशेषता ढूँढ़ना और अलंकारशास्त्र की सूक्ष्म दृष्टि खोजना व्यर्थ है। शब्दों की सफाई और योजना में भी भूषण पूर्णरूप से सफल कवि नहीं रहे।'[3] इन्होंने सामान्य काव्यभाषा का जो रूप लिया वह बहुत परिष्कृत नहीं है।[4] फिर भी भूषण उनके श्रद्धेय कवि हैं। भूषण की ओर उनके आकर्षण का कारण इनका समय की साहित्यिक धारा के विपरीत रचना करना है। उन्होंने उनको वीरकाव्य के कर्ताओं का 'भूषण'-स्वरूप माना।[5] इनकी लोकदृष्टि को भी वीररस के कवियों की लोकदृष्टि से श्रेष्ठ कहा। "वीररस के कवियों में भूषण ने जैसा लोकरक्षण के सिद्धान्त से लोकनायक को आलंबन चुना वैसा कम कवियों ने। लोकनायक वर्ण्य होने से ही भूषण की कविता

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० २)—आचार्य मिश्र, पृ० ७०१।

२,३. वही पृ० ७७४, ७९५।

४,५. वही पृ० ७८८, ८०३।

जनता की जिह्वा पर आज भी चढ़ी फिरती है।"[1] इनके साथ ही उन्होंने द्वितीय उत्थान के अन्तर्गत आने वाले अन्य कवियों पर संक्षिप्त रूप में विचार किया है।

मिश्र जी ने ऐतिहासिक शोध एवं विवेचन द्वारा इस काल को अत्यन्त प्रौढ़ एवं पुष्ट बना दिया। उनकी शोधमूलक प्रवृत्ति ने फुटकल खाते में पड़े अधिकांश कवियों का उद्धार कर हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने अधिकांश कवियों का तत्कालीन परिस्थितियों के साथ उनकी वंश-परम्परा का उल्लेख करते हुए उनके काव्यों का मूल्यांकन किया है।

आधुनिक-काल

आचार्य मिश्र ने आधुनिक काल को वर्ण्य विषय या मनोवृत्ति की दृष्टि से 'प्रेम-काल' नाम देना अधिक उचित समझा। इस काल का आरम्भ शृंगारकाल के गर्भ से सं० १९०० वि० आसपास माना जिसने सं० १९७५ वि० तक अपने को पूर्णतः पृथक् कर लिया। अन्य साहित्येतिहासकारों की भाँति ही उन्होंने भी इस काल को तीन भागों में बाँटा है—(१) आदि (भारतेन्दु युग), (२) मध्य (द्विवेदी युग), और (३) साम्प्रतिक (वर्तमान युग)।[2] उन्होंने आदियुग को 'भारतेन्दुयुग और मध्य-युग को द्विवेदी युग इसलिए कहा है कि इन पर क्रमशः बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का पूर्ण प्रभाव पड़ा। साम्प्रतिक युग में विविध विधाओं के अगुआ अलग-अलग व्यक्ति हुए। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो समस्त विधाओं का पथ-प्रदर्शक रहा हो। इसीसे उन्होंने इसे वर्तमान युग कहना ही समीचीन समझा।

उनके आधुनिककाल से सम्बद्ध विचार उनके द्वारा लिखित समय-समय के निबन्धों के संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' एवं आलोचनात्मक कृति 'वाङ्मय-विमर्श' में मिलते हैं। उनके 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का अतीत' में जो क्रमबद्धता दिखाई देती है वह आधुनिक काल के इतिहास में नहीं। 'वाङ्मय-विमर्श' के गद्य साहित्य के विकास में उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक, एकांकी-नाटक आदि पर भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि से इनके स्वरूप एवं विकास पर विचार किया गया है। इसके साथ ही इस काल के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कवियों, लेखकों एवं प्रचलित काव्य-धाराओं पर भी विचार किया गया है।

भारतेन्दु-युग के अन्तर्गत उन्होंने खड़ी-बोली और उसके गद्य के विकास का विवेचन करते हुए इसे अत्यन्त आधुनिक नहीं माना। उनका मत है कि इसमें प्राचीन समय में साहित्य का निर्माण तो नहीं हुआ, पर मुसलमानों के आगमन से पूर्व ही इसका

---

१. भूषण—आचार्य मिश्र, पृ० ३७।
२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० २९९।

अस्तित्व था।[1] उन्होंने खड़ी बोली के सुव्यवस्थित रूप का आरम्भ सर्वप्रथम रामप्रसाद निरंजनी (सं० १७९८) के 'भाषा-योगवाशिष्ठ' से बताया।[2]

गद्य शैली के सुलझे और सुव्यवस्थित वर्तमान रूप का प्रादुर्भाव भारतेन्दु-युग में ही हुआ। मिश्र जी ने भारतेन्दु द्वारा कही गयी उक्ति "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल" की व्यापक रूप से व्याख्या करते हुए उसकी सार्थकता स्पष्ट की। भाषा को सुव्यवस्थित और अनुशासित करने का कार्य द्विवेदी जी ने किया जिससे साहित्य के निर्माण में तीव्रता आयी। 'सरस्वती' के सम्पादन द्वारा उन्होंने हिन्दी की समस्त विधाओं का मार्ग प्रशस्त किया। मिश्र जी ने हिन्दी में कहानियों का आरम्भ इसी युग से माना है। समालोचना का श्रीगणेश उन्होंने भारतेन्दुयुग में माना, पर उसका प्रसार द्विवेदी युग में ही स्वीकार किया। खड़ी बोली को पद्य-भाषा में स्वीकार करने का तीव्र प्रयास उन्होंने द्विवेदी-युग में ही माना, जिसके अगुआ स्वयं द्विवेदी जी ही थे।

भारतेन्दुयुग और द्विवेदी युग में हिन्दी साहित्य के प्रति चलाए गये आन्दोलन की पूर्ण प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुई। इनके द्वारा किये गये प्रयत्नों को उन्होंने वर्तमान युग में स्थान दिया है। इस युग में साहित्य की सभी विधाएँ अपने प्रौढ़तम रूप में प्रस्तुत हुईं। प्रसाद जी के शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि वे अभिनेय नहीं हैं, पर उन्होंने उनके नाटकों को दोषमुक्त कहकर दर्शकों पर दोष लगाया कि वे उनके शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों को समझ नहीं पाते।

हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में विचारात्मक निबन्धों का चरमोत्कर्ष शुक्ल जी के निबन्धों में दिखायी पड़ता है, जिसमें उनके हृदय और बुद्धि दोनों का सम्यक् योग है। शुक्ल जी की आलोचना पद्धति व्याख्यात्मक रही है। उनके अनंतर आलोचना के क्षेत्र में मिश्र जी ने एकमात्र प्रभावशाली आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को माना। उन्होंने शुक्ल जी की मनीषा को भारतीय मनीषा माना, जो आधुनिक जिज्ञासा के समाधान लिए आधुनिक शैली से नूतन-ग्रथन कौशलपूर्वक विचार करती है।[3] अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित आलोचक जो इनमें आधुनिक दृष्टि की कमी कहते हैं उनको उन्होंने अंग्रेजी ताल-सुर पर नाचने वाला माना है। ये आधुनिकता की माप की कसौटी अपने देश के परिवेश में पुष्पित और फलित रूप को ही मानते हैं। पर साहित्य सिद्धान्त के विकास में बाधक भारतीय मान्यताओं की रूढ़ि में साहित्य को जकड़ना भी नहीं चाहते।

१,२. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ३०२, ३०६।

३. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० १२३।

उन्होंने आलोचना, अनुसंधान, एकांकी, कविता, निबन्ध आदि साहित्य की विधाओं पर भी विचार किया है। उन्होंने आलोचना और अनुसंधान की क्षमता को समान बताते हुए आलोचना को प्राचीन दृष्टि से दर्शन कहा और अनुसंधान को आधुनिक दृष्टि से विज्ञान।[१] एकांकी नाटक पर विचार करते हुए उन्होंने उसे 'संवाद-कहानी' कहना अधिक उपयुक्त बताया।[२] इसे मनुष्य के संकुल जीवन दर्शन का प्रतिबिंब कहा। उन्होंने निबंध एवं आलोचना के क्षेत्र को एक ही माना है जिसमें विचारात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है।[३] उनकी दृष्टि में साहित्य की प्रधानतः तीन शाखाएँ हैं—कविता, निबन्ध और कहानी। कविता भावप्रधान होती है, वह रसात्मक स्थिति निष्पन्न करती है। निबंध विचारप्रधान होता है, वह चिंतनात्मक वृत्ति उद्‌बुद्ध करता है। और कहानी घटनाचक्र प्रधान होती है, वह कुतूहल की प्रवृत्ति जगाती है। एक का व्यंग्य है रिरंसा, दूसरे का लक्ष्य है मीमांसा और तीसरे का वाच्य है जिज्ञासा।[४] वे निबंध को वाङ्मय का शास्त्रपक्ष मानते हैं। वह शास्ता है। कविता को रमणी और निबंध को राजा रूप में स्वीकार किया है।

साहित्य में सबसे अधिक महत्त्व उन्होंने सनातन और चिरंतन को दिया है अद्यतन को नहीं।[५] इन्होंने वर्तमान समय में प्रचलित विविध काव्य-धाराओं पर भी विचार किया है। इन धाराओं के प्रवाहित होने के पूर्व उन्होंने तीन आकांक्षाओं के वेग का उल्लेख किया है जो फूटने के लिए उतावली में थीं। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह आकांक्षा रखने वाली धारा को स्वच्छंदतावाद, सांसारिक जीवन के प्रति विद्रोह की आकांक्षा रखनेवाली धारा को रहस्यवाद और काव्य-शैली के प्रति विद्रोह की भावना रखने वाली धारा को छायावाद के रूप में प्रकट कहा। अभिव्यंजना-शैली के नूतन विधान को छायावाद का मुख्य लक्षण माना। इन वादों की प्रवृत्तियों का भी संक्षिप्त रूप में उल्लेख किया है।

उन्होंने स्वच्छदतावादी को परमार्थतः व्यक्तिवादी माना है, पर उसके व्यक्तिवाद को समाजविरोधी नहीं स्वीकारा। उनकी दृष्टि में आधुनिक युग का सच्चा साहित्यिक एवं सहृदय स्वच्छन्दतावादी ही है। इनकी तीन प्रकार की गतियों का उन्होंने उल्लेख किया हैं।—(१) बहिर्वृत्ति में लीनता, (२) अन्तर्वृत्ति में रमण, (३) उभयवृत्ति का अवलम्बन। उनकी दृष्टि में आधुनिक कविता में श्री सुमित्रानंदन पंत में बहिर्वृत्ति, जयशंकर प्रसाद में अन्तर्वृत्ति की रमणीयता और निराला में उभयवृत्तियों का अवलम्बन पाया जाता है। ये प्रसाद से अधिक पंत को अंग्रेजी-परम्परा से प्रभावित मानते हैं।

१-४. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० २१७, २३६, २३८, २३९।
५. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० ३२८।

उन्होंने विरहकाव्य का विवेचन करते हुए प्रसाद के 'आँसू' को फारसी-विरहकाव्य-सरणि की पद्धति पर लिखा हुआ बताया और उस पर संस्कृत का आवरण भी स्वीकार किया।

हिंदी में छायावाद का आगमन साहित्यिक उत्थान के नाम पर माना गया है। पर उनकी दृष्टि में उसमें विशेषता अभिव्यंजना शैली के चमत्कार की थी, पुष्ट पद-विन्यास और प्रतीकात्मकता ऐसे राशीभूत हुई कि कुछ नवसिखुए कवि बँधे बँधाए शब्दों का विनियोग मात्र काव्य का परम पुरुषार्थ मान बैठे।[1] उन्होंने छायावादी स्वच्छंदता और लाक्षणिकता के समक्ष घनआनन्द की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति प्रस्तुत की। उनका कहना है कि 'लक्षणा के जैसे चमत्कार इन्होंने दिखलाए हैं, हिंदी के प्राचीन काल के किसी कवि में उतना लाक्षणिक वैलक्षण्य तो है ही नहीं, आधुनिक जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षणता के दर्शन प्रभूत परिमाण में होते हैं उनमें भी वह विशेषता नहीं है जो घनआनन्द के प्रयोगों में मिलती है।'[2] छायावादी काव्य में नैराश्य की प्रवृत्ति अँग्रेजी अनुगमन के कारण मानते हैं। ऐसे काव्य को वे जीवन से जोड़ना ठीक नहीं समझते।

स्वच्छन्दतावादी प्रातिभ प्रसाद में स्वच्छंदता है, पर प्राचीन काव्य के अनुशीलन-मनन के कारण परम्परा का पूर्णतः त्याग नहीं। मिश्र जी ने इनके विकसित स्वरूप का आधार पारंपरिक ही माना है, इसी से इनकी आरम्भिक कृतियाँ पारम्परिक ढंग में ही लिखी हुई हैं। उन्होंने प्रसाद की समन्वयवादी दृष्टि का भी उल्लेख किया है। इस काव्यधारा के प्रवर्तक के रूप में उन्होंने इन्हीं को स्वीकार किया है।

प्रगतिवाद के पूर्व प्रवाहित होने वाली रहस्यवादी काव्यधारा के प्रायः जीवन से पृथक् होकर प्रवाहित होने से प्रगतिवाद का आगमन हुआ, जिसके अन्तर्गत ऐसी रचनाएँ आईं जो साहित्य को फिर जीवन से जोड़ने में संलग्न हुईं। उन्होंने इस धारा का विवेचन ऐतिहासिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, साहित्यिक आदि दृष्टियों से किया है। प्रगतिशील काव्य की भूमि तो उन्होंने लौकिक मानी है, पर उसमें रसभूमि की व्याप्ति नहीं मानी।

आधुनिक हिंदी-साहित्य की सभी विधाओं पर संक्षेप में विचार करने के साथ ही इस काल के विभिन्न साहित्यकारों पर भी उन्होंने विचार किया है। इनमें अपेक्षाकृत 'प्रसाद' के काव्यगत वैशिष्ट्य का अधिक विवेचन है। आचार्य शुक्ल के भाँति मिश्र जी मूलतः कवि आलोचक हैं। इनके मूल्यांकन का मुख्य आधार शास्त्रीय मान्यताएँ एवं तत्कालीन परिस्थितियाँ हैं। प्रसाद के नाटक के पात्र 'स्कंदगुप्त' एवं 'देवसेना' से संबद्ध उनके पौराणिक विचार अत्यन्त नवीन एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. हिंदी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० २५८।

१. हिंदी साहित्य का अतीत (द्वि० भा०)—आचार्य, मिश्र पृ० ७०१।

इस काल के कवियों में 'रत्नाकर' एवं मैथिलीशरण गुप्त उनके प्रिय कवि हैं। 'रत्नाकर' तो रीतिसिद्ध कवि थे ही, गुप्त जी को उसी श्रेणी में स्थान दिया है। उन्होंने गुप्त जी को केशवदास के गुणों से युक्त मानते हुए कहा है कि "केशवदास जी के गुण मैथिलीशरण गुप्त में भरपूर हैं—पांडित्य, बहुश्रुतत्व और विभिन्न शैलियों का अधिकार।"[१] कई दृष्टि से गुप्त जी को केशवदास से श्रेष्ठ भी बताया है। इस सम्बन्ध में विष्णुकांतशास्त्री का कहना है कि "तंतुवाय, नारद, रुदन्ती जैसे कुछ थोड़े से शब्दों के श्लिष्ट प्रयोगों के आधार पर की गई यह स्थापना मिश्र जी की दृष्टि और रुचि को जितना झलकाती है, संभवतः सत्य को उतना नहीं। कहाँ हिंदी में रीति-परम्परा के संस्थापक, शास्त्रसर्वस्व, कठिन काव्य के रचयिता, दरबारी कवि केशवदास और कहाँ लोकजीवन से संपृक्त, परम्परा में नवीनता का समाकलन करने वाले, सरलता की प्रतिमूर्ति, जनकवि मैथिलीशरण गुप्त। दोनों में जितनी समानता है, उससे कहीं अधिक भिन्नता है किंतु जिनकी आँखों में केशवदास समाए हैं, उन्हें समता ही अधिक दिखेगी, यह स्वभाविक ही है।[२] पर शास्त्री जी के कहने से पहले ही उन्होंने गुप्त जी को इस युग का सबसे बड़ा लोकप्रिय, जनप्रिय कवि माना है।

उन्होंने 'दिनकर' जी की 'प्रवन्ध कविता—'कुरुक्षेत्र' और 'निबन्ध-कविता' पर भी विचार किया है। कुरुक्षेत्र को छोड़कर उनकी सभी पद्यबद्ध रचनाओं को मिश्र जी ने 'पद्यनिबन्ध' शैली मे लिखित माना हैं। कुरुक्षेत्र की तो सर्गानुसार व्याख्या भी की है। वर्तमान समय में प्रचलित 'साम्य' को उन्होंने आधुनिक नहीं प्राचीन माना है। 'दिनकर' जी को 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से उसमें नवीनता लाने वाला कहा है। उन्होंने इस 'साम्य' को रूसी 'साम्य' से भिन्न बताया है। उनकी दृष्टि में रूसी 'साम्य' बाह्यदर्शी एवं एकांगदर्शी है। 'दिनकर' की रचनाओं का उन्होंने भारतीय परम्परा का ही आधुनिक रूप सकारा है।

'हिन्दी का सामयिक साहित्य' नामक पुस्तक में उनके साहित्यिक आलोचनात्मक निबंधों के साथ संस्मरणात्मक निबन्ध भी संगृहीत हैं जो साक्षात्कार से पुष्ट हैं। साथ ही अनेक कवियों एवं लेखकों के जीवनवृत्त से संबद्ध निबन्ध भी इसमें संगृहीत हैं। इन निबंधों द्वारा उनके व्यक्तित्व पर भी विचार किया गया है। कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द उनके विशेष प्रिय रहे हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का शोधमूल एवं व्याख्यात्मक साहित्यिक इतिहास प्रस्तुत कर मिश्र जी ने बहुत सी अंधकारावृत्त सामग्री प्रकाशित की, जिससे हिन्दी

---

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० १४०।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनंदन ग्रंथ (सं० सं०), पृ० ७३।

साहित्य को बहुमूल्य निधि की प्राप्ति हुई। उनकी इसी प्रवृत्ति ने शृङ्गारकाल या रीतिकाल को पूर्णरूपेण एक काल बनाने में सहायता की जिसे आज हिन्दी साहित्य का सबसे समृद्धिशाली काल माना जा सकता है। उनका ध्यान उन सूत्रों, कृतियों और कर्ताओं पर अधिक गया जो हिन्दी साहित्य की विस्तृत परम्परा को समझने में आवश्यक हैं एवं उनका स्वकीय महत्त्व भी है। इस ऐतिहासिक विवेचन में उनकी निष्पक्ष तुलनात्मक दृष्टि एवं सैद्धांतिक मान्यताएँ भी स्पष्ट हो गई हैं।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि

कतिपय आलोचकों के समान मिश्र जी ने साहित्य के इतिहास के साथ 'भाषा' पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है। उनकी इसी दृष्टि ने आदिकाल के नामकरण, कालविभाजन, कवियों एवं उनकी कृतियों को इस काल के अंतर्गत स्थान देने आदि में सफलता पायी। काव्यों की प्रवृतियों के स्पष्टीकरण में इस दृष्टि का भी प्रमुख स्थान रहा है। 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (प्र० भा०) में अपभ्रंश से लेकर डिंगल, पिंगल, व्रजी, अवधी, खड़ी आदि भाषाओं एवं बोलियों का तो यथास्थान वर्णन किया ही है, अपने 'वाङ्मय-विमर्श' में तो भारतीय भाषा-शास्त्र और उसके वैज्ञानिक विकास क्रम पर भी विचार किया है।

भाषाशास्त्र के इतिहास को समझने के लिए उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों भाषाशास्त्र-सम्बन्धी मतों पर विचार किया है। परम्परागत रूप से ही विश्व की भाषाओं को आकृतिमूलक एवं पारिवारिक दो भागों में विभक्त किया है। उनके इस वर्गीकरण के विवेचन में तुलनात्मक रूप परिलक्षित होता है। उन्होंने भारतीय शाखा की भाषाओं पर प्रचलित पूर्व प्राचीन मत और आधुनिक मत का अन्तर स्पष्ट किया है। प्राचीनों का मत है कि संस्कृत ही समस्त आर्य भाषाओं का मूल है जिससे क्रमशः प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं का विकास हुआ। पर नए भाषाविज्ञों का मत है कि संस्कृत स्वयं किसी मूल आर्य भाषा से उद्‌भूत हुई है। मिश्र जी न भारत की प्राचीन आर्य भाषाओं का मूल वैदिक भाषा को माना है और उसके अनन्तर लौकिक संस्कृत को। लौकिक संस्कृत शिष्ट लोगों के बोलचाल की भाषा थी। उन्होंने भाषा की परम्परा को तीन कालों में विभाजित किया है—आदिकाल, मध्यकाल और उत्तर-काल। आदिकाल में वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का शिष्ट समाज में व्यवहार माना, मध्यकाल में प्राकृत के साहित्य का निर्माण तथा उत्तरकाल को अपभ्रंश एवं देशी भाषाओं के साहित्य की रचना का युग कहा। प्राकृत के भी प्राचीन, मध्य और उत्तर प्राकृत या अपभ्रंश तीन भाग करते हुए 'प्राकृत' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डाला। प्राकृत के उत्तरकालीन रूप को अपभ्रंश कहा। साहित्यिक प्राकृत के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्द्धमागधी और पैशाची प्राकृतों को स्थान दिया है। शौरसेनी और

मागधी के मिश्रण से अर्द्धमागधी बनी और उसी से अवधी भाषा विकसित हुई। शुद्ध शौरसेनी का विकसित रूप व्रजभाषा है। शौरसेनी और पैशाची के मिश्रण से विकसित बोली को 'रेखता' और उसी को फिर खड़ी बोली कहा गया। अपभ्रंश के अनन्तर प्रचलित भाषा को 'नागरी' कहा गया। इसी को विदेशियों ने 'हिन्दी' या 'हिन्दुई', कहा। अवधी, खड़ी, व्रजी आदि हिन्दी की ही उपभाषाएँ हैं।

हिन्दी भाषा के विकास के साथ ही उन्होंने भाषाविज्ञान के विभिन्न अंगों पर भी विचार किया है। अर्थ-विचार में उन्होंने बौद्धिक नियम, शब्दशक्ति एव अर्थ-परिवर्तन के प्रकार तथा उसके कारणों पर विचार किया है। ध्वनिविचार में चित्र द्वारा वाक्-करण, व्यंजनों का स्थान, उच्चारण, ध्वनि-परिवर्तन, ध्वनि-विचार, स्वराघात, अक्षराव-स्थान, अपश्रुति आदि पर विचार किया है। इसके साथ ही वाक्य, रूप आदि पर भी विचार है।

'वाङ्मय-विमर्श' में ही उन्होंने आर्यलिपियों के संक्षिप्त इतिहास के साथ ही नागरी लिपि के नाम, उसमें सुधार, वर्ण्यविन्यास, विराम-चिह्न आदि पर भी विचार किया है जो पारम्परिक है। इस प्रकार मिश्र जी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के साथ ही हिन्दी भाषा का वैज्ञानिक रूप से निरूपण एवं उसके लिए प्रयुक्त देवनागरी लिपि पर भी विचार किया है।

षष्ठ अध्याय

ग्रन्थ-प्रस्तावना एवं समीक्षात्मक प्रतिभा

हिन्दी की जिस शास्त्रीय समीक्षा का प्रारम्भिक पोषण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि विद्वानों द्वारा हुआ उसका पर्याप्त संवर्धन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुआ। हिन्दी-समीक्षा आज अनेक सरणियों में विकसित हुई है जो किसी न किसी रूप में इस शास्त्रीय समीक्षा से अनुगृहीत होती रही है। इस नई शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति के परवर्ती उन्नायकों में आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र का स्थान निर्विवाद रूप से उच्चकोटि का है। शुक्ल जी के समीक्षक व्यक्तित्व का मूल्यांकन तो अधिकांश विद्वानों ने किया, परन्तु उसके द्वारा प्रवाहित धारा को सागर तक पहुँचा देनेवाली विभूतियों को अधिकांश ने हीन दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

हिन्दी-आलोचना के आधार-स्तम्भ आचार्य शुक्ल के आभ्यन्तर जगत् को समझने-वाले और उनके प्रति व्याप्त भ्रान्तियों का निराकरण करने वाले मिश्र जी एक-मात्र आलोचक हैं। उन्होंने शुक्ल समीक्षा-पद्धति को अपनाते हुए जो नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं वे हिन्दी-समीक्षा जगत् में दर्शनीय एवं विचारणीय हैं। 'मिश्र जी मूलतः शुक्ल जी की उस स्वस्थ-साहित्य परम्परा के आलोचक हैं, जिसमें भारतीय साहित्यशास्त्र के व्यापक एवं गतिमान तत्त्वों तथा मान्यताओं के प्रति आग्रह के साथ ही साथ नूतन सामाजिक जीवन और परिस्थिति की अनिवार्यता के फलस्वरूप आकांक्षित नवीनता के प्रति जागरूक दृष्टि से विचार का स्थान विद्यमान है।'[१] शुक्ल जी की वैधानिक समीक्षा-पद्धति को बड़ी खूबी के साथ उन्होंने सर्वधित किया है। इनमें उच्च-कोटि की शास्त्रीय अभिज्ञता और रसज्ञता भी है।'[२] शुक्ल जी की समीक्षात्मक प्रतिभा प्रमुखतः तीन रूपों में विकसित हुई है—साहित्येतिहासलेखन, पाठसम्पादन, साहित्यशास्त्रीय एवं व्यावहारिक समीक्षण। मिश्र जी इन तीनों रूपों के साथ ही भाष्यकार एवं टीकाकार के रूप में भी हिन्दी आलोचना-जगत् में उपस्थित हुए।

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य

—दीनानाथ पाण्डेय, पृ० २०४।

२. आलोचना (काव्यालोचन विशेषांक), वर्ष ७, अंक १, जनवरी १९५६, पृ० २९८।

हिन्दी आलोचना अपने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में विकसित हुई। व्यावहारिक आलोचना का आरम्भिक रूप गुण-दोष-विवेचन का था। शुक्ल-युग में अनुसन्धानात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति का पूर्णरूप से विकास हुआ। इसी पद्धति का एक अंग ऐतिहासिक समीक्षा रही है जो आलोचना के ऐतिहासिक विकासक्रम में स्वच्छन्द-पद्धति के रूप में विकसित हुई। ऐतिहासिक-समीक्षक किसी कलाकार या कृति का मूल्यांकन जाति, परिवेश और युग से विच्छिन्न होकर नहीं करता। साहित्य और संस्कृति को अविच्छिन्न धारा में रखकर उसके वर्ण्य-विषय, विचार-धारा, भाव, भाषाशैली आदि के स्वरूप का अध्ययन और मूल्यांकन करना ही इस समीक्षा का प्रधान उद्देश्य है।[1] इस समीक्षा को भारतेन्दु जी ने जन्म दिया, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं मिश्रवन्धुओं ने विकसित किया, आचार्य शुक्ल ने पूर्ण प्रतिष्ठित किया और आचार्य मिश्र ने अविच्छिन्न धारा के रूप में प्रवाहित किया। उनकी मौलिक कृतियों, ग्रन्थ-प्रस्तावनाओं, विकीर्ण भूमिकाओं एवं सम्मतियों आदि में इस समीक्षा का विकसित रूप दिखाई पड़ता है।

उनकी व्यावहारिक आलोचना का प्रमुख क्षेत्र मध्ययुगीन कवियों एवं काव्य का मूल्यांकन रहा है। 'हिन्दी-जगत् में आचार्य मिश्र मध्ययुगीन साहित्य के व्याख्याता, अध्येता, समीक्षक और अनुसन्धाता के रूप में विख्यात हैं। मध्ययुगीन भक्ति और रीतिसाहित्य के अध्ययन और अध्यापन की शैली उन्होंने अपने साहित्य-गुरु लाला भगवानदीन और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से ग्रहण की थी। व्याख्या, भाष्य, टीका, समीक्षा और शोध के समवेत प्रभाव से मध्ययुगीन ग्रन्थों का जैसा विशद व्यापक फलक पर आचार्य मिश्र ने अध्ययन किया वैसा हिन्दी जगत् में और कोई विद्वान् नही कर सका है।'[2]

उनके द्वारा ग्रन्थों में लिखित भूमिकाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पहला वर्ग है स्वलिखित ग्रन्थों की भूमिकाओं का, दूसरा है अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखित ग्रन्थों की भूमिकाओं का एवं तीसरा है अन्य लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकों पर दी हुई उनकी सम्मतियों का। उनकी इन भूमिकाओं में अनुसन्धानात्मक, व्याख्यात्मक, पाठालोचनात्मक, ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक आदि आलोचना पद्धति का रूप दिखाई पड़ता है। उनकी आलोचना के मुख्य आधार तत्कालीन परिस्थिति, साहित्यिक परम्परा, जीवनवृत्त, भावपक्ष, कलापक्ष, भाषा आदि हैं। अपने मत की पुष्टि हेतु

---

१. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास—डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, पृ० ५६५।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अभिनन्दन ग्रन्थ—संपा० विजयेन्द्र स्नातक, सम्पादकीय, पृ० ६।

उन्होंने तुलनात्मक पद्धति का भी सहारा लिया है जिसका ध्येय ऊँचा-नीचा दिखाना, गुण-दोष का विवेचन करना नहीं है।

स्वलिखित ग्रन्थों की भूमिकाएँ

आचार्य मिश्र द्वारा लिखित एवं सम्पादित लगभग सभी ग्रन्थ विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका से पूर्ण हैं। 'हिन्दी-साहित्य का अतीत' के दोनों भागों के पुरोवचन, अनुवचन एवं प्रस्तावना में उनकी समीक्षात्मक प्रतिभा प्रज्ज्वलित हुई है। अतीत प्रथम भाग के पुरोवचन एवं भूमिका में उनकी भाषावैज्ञानिक दृष्टि ही प्रधान है। संस्कृत भाषा के विकसित अनेक रूपों पर विचार करते हुए देशी भाषाओं में हिन्दी को उन्होंने सबसे जेठी माना है। संस्कृत से अपभ्रंश भाषा तक की यात्रा में भाषा भेद, पिंगल भेद, एवं विन्यास भेद को तो उन्होंने स्वीकार किया, पर साहित्य भेद नहीं। फारसी-साहित्य और अरबी-संस्कृति से संपृक्त-सम्बद्ध होने पर साहित्य भेद सर्वप्रथम उर्दू के माध्यम से बताया। साहित्य भेद होने पर भी उनकी दृष्टि में बुद्धि भेद नहीं होना चाहिए, दृष्टि-भेद हो सकता है।

हिन्दी के आभोग में खींची जाने वाली सभी रचनाओं को उन्होंने साहित्यिक रचना नहीं माना। उनकी दृष्टि में सिद्धों-नाथों की जो बानियाँ हिन्दी में कही गई हैं, वे उसकी मानी तो जा सकती हैं, पर हिन्दी-काव्यधारा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। उससे सम्बन्ध होने के निमित्त उनका काव्य होना आवश्यक है। काव्यात्मक भंगिमा और सर्वसामान्य भावसत्तात्मक संवेदना के बिना शुद्ध सर्जनात्मक साहित्य के परिसर में कोई रचना नहीं आ सकती।[1] जैनों के अपभ्रंश को उन्होंने कृत्रिम माना है जो स्वाभाविक विकास सरणि में सम्बद्ध नहीं है। अपभ्रंश के पूर्वकालिक और उत्तरकालिक रूप को हिन्दी के निकट बताया है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से उन्होंने नैसर्गिक-विकास-प्राप्त अपभ्रंश को ही साहित्य की सीमा में स्थान दिया है। जो लोग तुलसीदास को स्वयंभू का अनुधावन कर्ता मानते हैं उनके मत को उन्होंने भ्रामक बताया। पुष्प एवं पुष्पदन्त को एक मानने वाले को उन्होंने कल्पनालोक का प्राणी कहा है। रासो-ग्रन्थ की भाषा को अपभ्रंश का उत्तरकालिक रूप कहा है।

इस पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने 'साहित्य' एवं 'वाङ्मय' शब्दों पर भी विचार किया है जो समान अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं। हिन्दी में प्रयुक्त 'साहित्य' ही मराठी में 'वाङ्मय' के नाम से प्रयुक्त होता है। 'साहित्य' शब्द का 'काव्य' रूप में अर्थ संकोच हुआ। पर आज इसके अर्थ में विस्तार हो रहा है। अब इसकी सीमा 'वर्णना'-चर्वणा' की कृति से उसकी 'विचरणा' की कृति तक ही नहीं, किसी विषय के विचार-विवेचन

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पुरोवचन, पृ० ४।

के ग्रन्थ-समुदाय का बोध कराने तक विस्तृत हो गई है। इन सभी अर्थों को व्यक्त करने वाले शब्द को ही उन्होंने 'वाङ्मय' कहा। उन्होंने इसके दो भेद किये—ज्ञान-वाङ्मय और शक्ति वाङ्मय। उन्होंने 'ज्ञान' का तात्पर्य सत्य की नूतन उपलब्धि माना और 'शक्ति' का नूतन या अलौकिक या शुद्ध अनुभूति-लोक की प्राप्ति।[1] शक्ति-वाङ्मय को मन का व्यायाम कराने वाला माना है जिससे वह स्वस्थ रहता है। जीवन में सरसता का पदार्पण उन्होंने शक्ति-वाङ्मय या साहित्य से ही माना है।

धर्म, राजनीति, दर्शन सभी मुक्ति की साधना में लगे हैं और अपने को मुक्ति का साधक मानते हैं। पर मिश्र जी इन सभी को बन्धन में जकड़नेवाला ही कहते हैं। 'वाद' को साहित्य का हानिकारक तत्व कहा है। उन्होंने साहित्य को भाव-योग माना है जो मन से निकलकर मन को प्रभावित करता है।[2] उसकी दृष्टि सर्वसामान्य एवं सहभावेन होती है उनकी दृष्टि में वर्तमान युग में मुक्ति की साधना साहित्य ही कर सकता है। उन्होंने काव्य को साहित्य साधना अवश्य माना है, पर उसका अपना साध्य भी स्वीकार किया है। यह साध्य है जगत् के साथ मानव के भावात्मक सम्बन्ध की स्थापना, उनका परिचालन, उसकी व्यवस्था।[3] उन्होंने काव्य-साहित्य का उद्भव विकारग्रस्त मन के कारण मत्स्य-न्याय की वृद्धि होने पर उसे सँभालते चलने में माना है। उन्होंने साहित्य की सत्ता को धर्म, दर्शन, राजनीति की भाँति पृथक् भी माना है और सबसे समन्वित भी। मन के जो विकार योगियों के योग से दूर होते हैं वे इसमें रमने से ही दूर हो जाते हैं। राजनीति को केवल रजोगुण की साधना कहा है और साहित्य को सत्त्वोद्रेक करनेवाला।

उन्होंने साहित्य और राजनीति की दृष्टि को तुलनात्मक रूप से परखा है। "साहित्य अतीत से अनुराग करता है—प्रधान रूप से। राजनीति वर्तमान को सिर पर उठाए चलती है—प्रमुख रूप से। राजनीति कहती है—अतीत शव है उसके ऊपर वर्तमान जीवित प्रत्यक्ष है। अतीत को भुला दो, वर्तमान को सम्भालो, भविष्य की चिन्ता करो—नीति का उपदेश है।"[4] उन्होंने अतीत के अनुराग को मानव जीवन का लक्षण माना है। अतीत मानव का ही होता है, पशु का नहीं। साहित्य के स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं के परिवेश में 'हिन्दी' के ऐतिहासिक विकास एवम् पारम्परिक रूप पर भी विचार किया है।

'हिन्दी साहित्य का अतीत' के दूसरे भाग के अनुवचन में उन्होंने साहित्य को शुद्ध रूप में अन्य वाङ्मयों से पृथक् माना है। राजशेखर ने वाङ्मय को दो प्रकार का

१-३. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० ३, ९, वही।
४. वही, प्रस्तावना, पृ० १०।

बताया—काव्य और शास्त्र । अन्य वाङ्मय प्रधानतया शास्त्रसम्मत होते हैं । शास्त्र का कार्य हित का साधन है । शासन में शास्ता और शासित दोनों आते हैं । इसलिए प्रत्येक वाङ्मय के दो पक्ष होते हैं—व्यवहार पक्ष और सिद्धांत पक्ष । सिद्धान्त की उद्भावना का आधार व्यवहार है । सिद्धान्त को शास्त्र और व्यवहार को शासित बताया है । हिन्दी साहित्य के आदि रूपों की चर्चा करते हुए उनकी पीठिका का भी उल्लेख किया है । उनका कथन है कि "हिन्दी के शुद्ध साहित्य की भूमिका संस्कृत और प्राकृत की सर्जना में तो ढूँढ़ी जा सकती है, पर अपभ्रंश की साम्प्रदायिक अर्चना में नहीं । अपभ्रंश के नैसर्गिक साहित्य-प्रवाह से भी उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, पर जैनों के साम्प्रदायिक संवाद से नहीं ।"[1] कबीर आदि संतों की कथनी का धर्म एवं दर्शन की दृष्टि से कितना ही माहात्म्य क्यों न हो, पर उन्होंने भारतीय काव्यपरम्परा एवम् साहित्य की परिभाषा की दृष्टि से उसे विशुद्ध साहित्य नहीं माना । जायसी, सूरदास और तुलसी दास के काव्य में जिस प्रकार की सर्वसामान्य संवेदनात्मक सत्ता का प्रकाशन है, निर्गुनियाँ संतों की बानियों में उसका आग्रह तक नहीं है ।

उन्होंने भक्तिकाल की उन रचनाओं को भी विशुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं रखा, जो साहित्यिक शबलता से युक्त हैं । जिन कृतियों का साध्य और साधन दोनों साहित्य है ऐसी रचनाओं की साहित्यगत सम्पत्ति उनकी दृष्टि से अपेक्षाकृत हीन है । ऐसी सर्जना शृङ्गारकाल में अधिक हुई । भक्त का साध्य है भक्ति अथवा भगवान् तथा कवि का साध्य साहित्य है अथवा काव्य । सूरदास और तुलसीदास भक्त भी हैं और साहित्यिक भी । पर केशवदास और बिहारी कवि ही हैं ।

'हिन्दी का सामयिक साहित्य' की भूमिका में आलोचना के अम्बार को उन्होंने कदाचित् वार्धक्य का लक्षण माना है । उनकी दृष्टि में हिन्दी में आलोचना का वाङ्मय परिमाण में तो पर्याप्त निकल रहा है, पर है प्रायः चर्वितचर्वण, पिष्टपेषण ही अधिक । परिपक्वता के दर्शन बहुत थोड़े ही अंशों में होते हैं । उनका मत है कि "भारतीय साहित्य शास्त्र की परम्परा में हिन्दी के बहुत से मनीषी जोड़े जाते हैं या जुड़ गए हैं । भरत, अभिनव, मम्मट, कुंतक, पण्डितराज जगन्नाथ के स्तर का क्या, आचार्य शुक्ल के स्तर का स्वतन्त्र चिंतन कण अधिक नहीं मिलता ।"[2] उन्होंने इसका कारण विदेशी चिंतन का प्रभाव एवं साहित्येतर विषयों पर चिंतन बताया है । उन्होंने दर्शन को साहित्येतर विषय माना है जिसके ज्ञाता शुक्ल जी थे भी, उसे साहित्य से दूर रखने को कहा है, क्योंकि साहित्य स्वयं दर्शन माना गया है । उनकी दृष्टि में साहित्येतर की ललक साहित्य-गाम्भीर्य से भागने का लक्षण है ।[3] इसमें उन्होंने भावक समीक्षकों से

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत—(द्वितीय भाग), अनुवचन, पृ० ६ ।

२,३. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ७, वही ।

निवेदन किया है कि वे विशुद्ध साहित्यशास्त्रीय पक्ष के उच्चस्तरीय निर्माण में अधिकाधिक प्रवृत्त हों।

'गोसाईं तुलसीदास' के पुरोवाक् में उनकी व्यक्तिगत धारणा भी स्पष्ट होती है। इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप में अपने को रामोपासक माना है। इस उपासना में किसी और उपासना का विरोध नहीं रहता, इसी से उन्होंने अन्यों को भी सम्मानित दृष्टि से ही देखा है। तुलसीदास ने ऐसी ही उपासना को आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया था। इस दृष्टि से मिश्र जी का तुलसीदास के वाङ्मय से प्रेम होना स्वाभाविक है। काशी नगरी में होने वाली रामलीला एवं मानस-प्रवचन ने इसके प्रति उनके प्रेम को और प्रगाढ़ बनाया। इसमें उन्होंने 'मानस' के पाठ पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। जिसका विमर्श इस शोध प्रबन्ध के सप्तम अध्याय में है।

गोसाईं जी के जीवनवृत्त से सम्बद्ध सोरों सामग्री को उन्होंने निराधार बताया है और 'गौतमचन्द्रिका' में दिये गये वृत्त को इनके वृत्त के निकट माना है। सारी सामग्री को एकत्र करना, उसको समयातिक्रांति-दोष से मुक्त करना एवं उक्तानुक्त पुनरुक्त की विधि बैठाना सम्प्रति कठिन कार्य है, पर मिश्र जी ने उसे पूरा करने का प्रयास किया है। इस पुरोवाक् में उन्होंने अपने जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का एवं मानस के पाठ तथा तुलसीदास के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में फैली भ्रांतियों का तर्कपूर्ण समाधान किया है।

तुलसीदासकृत 'कवित्तावली' का सम्पादन उन्होंने लाला जी के सहयोग से किया। उनकी ग्रन्थ-प्रस्तावनाएँ अधिक छात्रोपयोगी सिद्ध होती हैं। इसमें तुलसीदास का संक्षिप्त जीवनवृत्त तत्कालीन परिस्थितियों के परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही काव्य-रचना-पद्धति की दृष्टि से 'कवित्तावली' को परखते हुए उसकी भाषा, नामकरण, भाव, रस, अलंकार, वर्णन-शैली, दृश्य-चित्रण, वर्ण्य-विषय, दर्शन, देश-प्रेम, दोष इत्यादि पर विचार है।

उन्होंने तुलसीदास को सामाजिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से परखा है। तुलसीदास ने अपने से पूर्व-प्रचलित कविता-सर्जन की सभी पद्धतियों में 'रामचरित' कहा है। चारणों एवं भाटों की कवित्त-छप्पय वाली शैली में 'कवित्तावली', सूरदास आदि भक्त कवियों की पदावली-शैली में 'गीतावली', निर्गुनिए सन्तों की दोहेवाली शैली में 'दोहावली', रहीम आदि की बरवैशैली में 'बरवैरामायण' और जायसी आदि प्रेमगाथा वाले कवियों की दोहे-चौपाई वाली शैली में 'रामचरितमानस' की रचना की। उस समय की प्रचलित भाषा अवधी में 'रामचरितमानस' एवं 'बरवैरामायण' का और ब्रजी में कवित्तावली, गीतावली आदि की रचना की। इन भाषाओं का अन्धानुकरण इन्होंने न कर, उसके परिष्कृत रूप का प्रयोग किया है। साहित्यिक क्षेत्र में प्रचलित

काव्य-पद्धतियों का ही प्रयोग नहीं किया, अपितु जनसामान्य में प्रचलित पद्धतियों एवं संस्कारों के आधार पर 'रामललानहछू' जैसी पुस्तक की भी रचना की। 'कबित्तावली' को मिश्र जी ने सप्रमाण मुक्तक रचना सिद्ध किया है। इसमें न मंगलाचरण है, न कथा में प्रवाह ही।

'कवित्तावली' की समालोचना में मिश्र जी ने भाषा को रसानुकूल बनाने के लिए तीन गुणों--माधुर्य, ओज और प्रसाद---उल्लेख किया है जो शास्त्रीय हैं। उन्होंने किसी कवि की कविता की आलोचना के लिए तीन बातों पर विचार करना आवश्यक माना है---भाषा, भाव और वस्तु-वर्णन। उनकी आलोचना के भी यही तीन प्रमुख मानदण्ड हैं। भाव का तात्पर्य रस-पोषक मनोवेगों से है। उन्होंने तुलसादास को ही एक ऐसा मर्यादावादी कवि माना है जिनमें पवित्र शृङ्गार के दर्शन होते हैं। इसके निरूपण में उन्होंने कलापक्ष को आँखों से ओझल नहीं किया है। उनकी दृष्टि में भावुक कवि की सबसे बड़ी विशेषता मनुष्य के हृदय में प्रवेश कर उसकी भावनाओं की उथल-पुथल लख लेना और फिर उसका कलापूर्ण निरूपण करना है।[1] रस-निरूपण में उन्होंने कवित्तावली में आए सभी रसों पर विचार किया है। साथ ही भाव, अनुभाव, नये संचारी भाव आदि का भी निरूपण किया है।

वस्तुवर्णन एवं वर्णन-शैली पर विचार करते हुए उन्होंने व्यंग्य को काव्य की अतरंग रमणीयता का स्वरूप खड़ा करने वाला और अलंकार को उसकी वाह्य रमणीयता चमकाने वाला माना है। अलंकार भावों की व्यंजना में सहायक होता है, पर वह स्वयं भाव नहीं है, व्यंग्य में भी सहजता होनी चाहिए। उन्होंने अप्रस्तुत-विधान पर विस्तृत रूप से विचार किया है। तुलसीदास के देश-प्रेम एवं सगुण से सम्बद्ध मतों का भी विवेचन किया गया है।

तुलसीदासकृत 'विनयपत्रिका' का सम्पादन तो मिश्र जी ने किया, पर इसका टीका-कार्य उनके गुरु दीन जी ने किया। उन्होंने उसकी भूमिका के रूप में दीन जी का संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसमें साहित्य-संगीत, लोकधर्म, साम्प्रदायिक भावों आदि के समन्वय पर भी विचार किया। उनका कहना है कि "यदि मानव संसार की शान्ति में पड़ा रहकर अपने मन को किसी प्रकार की शान्ति दे सकता है तो उस अनन्त एवं अपरिमेय शक्तिशाली ज्योति की कल्पना करके उसकी विनय से ही। यही कारण है कि प्रगति में उलट-फेर हो जाने पर भी विनय की सत्ता बनी रहेगी।"[2] उन्होंने 'विनयपत्रिका' का मूल यही बताया।

---

१. कवितावली--संपा० लाला भगवानदीन 'दीन' एवं आचार्य मिश्र--(अन्तर्दर्शन) पृ० ११३।

२. 'विनयपत्रिका'--सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सम्पादकीय।

साहित्य-जगत् में जितना महत्वपूर्ण 'रामचरितमानस' ग्रन्थ है उतना ही महत्वपूर्ण आचार्य मिश्र द्वारा सम्पादन और इसमें दी गई भूमिका। इसके आत्मनिवेदन में उन्होंने इसकी सम्पादन-शैली, सम्पादन के समय उत्पन्न कठिनाइयाँ, इसके सम्पादन में सहायक हस्तलिखित एवं मुद्रित-ग्रन्थों, पाठसम्पादन की शैली आदि पर विचार किया है। हिन्दी-आलोचना-जगत् में पाठसम्पादन-शैली पर बहुत ही अल्परूप में सामग्री प्राप्त होती है। इस अभाव का अनुभव उन्होंने भी किया और इसकी पूर्ति के लिए उत्सुक भी रहे, पर वृद्धावस्था एवं पारिवारिक व्यस्तता इस कार्य को पूर्ण करने में बाधक बनी हुई है। फिर भी इस आवश्यकता की पूर्ति 'रामचरितमानस', 'केशव-ग्रन्थावली' (३ खंड), 'भिखारीदास-ग्रन्थावली' (२ भाग) आदि ग्रन्थों की भूमिकाओं द्वारा कुछ अंशों में हो जाती है। संस्कृत में श्री सुकठनकर द्वारा सम्पादित 'महाभारत' की भूमिका में इस शैली के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है। पर हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन के अनुभव सर्वत्र सहायक नहीं हो सकते। हिन्दी की कुछ समस्याएँ संस्कृत से भिन्न हैं। इससे सम्बद्ध उनके मतों का स्पष्टीकरण इस शोधप्रबन्ध के सप्तम अध्याय में किया जायेगा। वर्तमान पाठसम्पादन एवं अन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित 'रामचरितमानस' की सम्पादन-शैली पर विचार करते हुए साहित्यिक सम्पादन-शैली के समन्वित रूप को ही श्रेष्ठ बताया है और मानस के सम्पादन में इसी शैली का उपयोग भी किया है। दोनों के समन्वित रूप में भी इनका झुकाव साहित्यिक सरणि की ओर अधिक है।

हिन्दी साहित्य में भूषण की काव्यकृतियों का आधुनिक शैली से सम्पादन सर्वप्रथम मिश्रबन्धुओं ने किया। उन्होंने इसमें अधिकतर ऐतिहासिक पक्ष पर ध्यान देते हुए विस्तृत भूमिका एवं मूल के नीचे शब्दार्थों की टिप्पणी की योजना की। उनकी यह ग्रन्थावली काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुई और सभा द्वारा ही भूषण के सम्बन्ध में नई समस्या खड़ी कर दी गयी। साहित्यिक पक्ष की यथावांछित विवृति इसमें न पाकर लाला भगवानदीन जी ने इसके सम्पादन की ओर सम्वत् १९८५ वि० में आचार्य मिश्र का ध्यान आकृष्ट किया। हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण (सन् १९०० से १९११ तक की, की गई खोज) प्रकाशित करते हुए तत्कालीन खोज के निरीक्षक बाबू श्यामसुन्दरदास ने तत् सामयिक साहित्यान्वेषक की नूतन कल्पना में विश्वास करके उसका लेख भूमिका में मुद्रित कराया जिसमें यह सम्भावना व्यक्त की गयी कि भूषण शिवाजी के दरबार में नहीं थे, बाद में गये थे। इस नवीन उद्भावना ने साहित्यकारों एवं आलोचकों को व्याकुल कर दिया, क्योंकि वे भूषण का शिवाजी के दरबार में जाना ठीक समझते थे। पर ऐतिहासिक सामग्री यथावांछित न प्राप्त होने से प्रतिपक्ष को अपेक्षित प्रमाण नहीं दे पाते थे। ऐसी स्थिति में मिश्र जी को

सारी ऐतिहासिक सामग्री का अवलोकन अनिवार्य हो गया। भूषण की रचना में यत्र-तत्र कुछ पौराणिक कथाएँ भी आ गयी हैं। ऐतिहासिक सामग्री के अवलोकनानंतर उन्होंने भूषण पर अनुसन्धानात्मक समीक्षा प्रस्तुत की। अपनी यह आलोचना उन्होंने 'भूषण' ग्रन्थ के अन्तर्दर्शन में प्रकाशित की।

इस अन्तर्दर्शन में उन्होंने अलंकार, संस्कृत और हिन्दी में अलंकारशास्त्र, वीरकाव्य की परम्परा, भूषण ग्रन्थ की काव्यगत आलोचना, भूषण की कृतियाँ, जीवन-वृत्त, आश्रयदाता तथा उन सब का इतिहास से समन्वय आदि पर विचार किया। इसमें उनका सैद्धान्तिक पक्ष प्रबल है। भावों की अभिव्यंजना की विशेष प्रकार की शैली को उन्होंने 'अलंकार' कहा है जिसका मानव जीवन के अभ्यन्तर से बहुत गहरा सम्बन्ध है। उन्होंने साहित्य को मानव-जीवन की आन्तरिक भावनाओं का प्रतिरूप माना है। उन्होंने साहित्य के सभी अंगों का मानव-जीवन के अभ्यन्तर से घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है।[1] अलंकार प्रसंग में उन्होंने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण, उत्तरदायित्व, हिन्दी के रीतिकार, अलंकारों के उद्गम, इनके संस्कृत और हिन्दी में किये गये वर्गीकरण आदि पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया है। हिन्दी अलंकारशास्त्र का स्वरूप समझने के लिए संस्कृत साहित्य के रीति-सम्प्रदायों का भी परिचय दिया है। वक्रोक्तिवाद, अलंकारवाद, रसवाद और ध्वनिवाद पर विचार करते हुए संस्कृत में रीतिग्रन्थों के निर्माण के अन्त का भी उल्लेख किया है। इनके इन सैद्धान्तिक मतों का उल्लेख उनकी 'भारतीय-समीक्षात्मक दृष्टि' (तृतीय अध्याय) में किया गया है।

हिन्दी में अलंकारशास्त्र की परम्परा के परिप्रेक्ष्य में मिश्र जी ने भूषण की अलंकार-सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख किया है। संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों का पूरा प्रभाव हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों पर पड़ा। विक्रमी की १६वीं शताब्दी तक हिन्दी में किसी लक्षण ग्रन्थ का पता नहीं चलता। इस समय तक हिन्दी भाषा ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लिया था। जनता लड़ाई-झगड़े से निवृत्त होकर शान्तिमय जीवन व्यतीत कर रही थी, पर धार्मिक क्षेत्र अस्त-व्यस्त था। इस समय काव्य रचना का आधिक्य हो जाने से कवियों का ध्यान हिन्दी में भी लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन की ओर जाने लगा था। इनका आधार संस्कृत ग्रन्थ ही थे। विक्रमी १६वीं शताब्दी के अन्त तक के लिखित हिन्दी-लक्षण ग्रन्थों का यहाँ उल्लेख है।

विक्रमी सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही अलंकार के लक्षण-ग्रन्थों का अधिक निर्माण होने लगा। गोप कवि ने संवत् १६१५ वि० के आसपास 'रामभूषण', 'अलंकार-चन्द्रिका' और करनेस ने 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' 'भूप-भूषण', नामक आलंकारिक ग्रन्थों की रचना की। इससे स्पष्ट होता है कि रसवाद के साथ ही हिन्दी-काव्यक्षेत्र में

---

१. भूषण—सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—(अन्तर्दर्शन), पृ० १।

भी अलंकारवाद खड़ा होने लगा। विक्रम की १७ वीं शताब्दी के मध्य में आचार्य केशवदास ने अलंकार को बहुत व्यापक रूप में ग्रहण किया। संस्कृत के सभी 'वाद' हिन्दी में ग्राह्य नहीं हुए, केवल अलंकारवाद और शृंगारवाद ही ग्रहण किये गये। इस काल के अधिकतर आचार्यों ने भी संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का अनुवाद मात्र कर दिया है। भूषण ने सं० १७३० में शिवाजी के नाम पर 'शिवभूषण' अलंकार ग्रन्थ की रचना की। इसके उदाहरणों का लक्षणों से पूरा समन्वय नहीं है। इसका कारण मिश्र जी ने बरबस सभी अलंकारों के उदाहरणों को शिवाजी की प्रशंसा में घटाना बताया है। भूषण ने नवीन अलंकारों की रचना करने का प्रयास किया पर सफलता नहीं मिली। उन्होंने 'सामान्य-विशेष' को नया अलंकार माना है। उन्होंने इसको आलंकारिकों के अप्रस्तुत प्रशंसालंकार की 'विशेष निबन्धना' कहा है।[1] उन्होंने स्पष्ट रूप में कह दिया है कि 'भूषण में अलंकारिक विशेषता ढूँढ़ना और अलंकारशास्त्र की सूक्ष्म दृष्टि खोजना व्यर्थ है।'[2] रस-परिपाक भी जैसा चाहिए वैसा नहीं हो पाया है। उन्होंने २० वीं शती तक की प्रचलित आलंकारिक परम्परा पर भी विचार किया है।

वीरकाव्य की परम्परा एवं व्यापकता पर विचार करते हुए उन्होंने हिन्दी में वीरकाव्य के उद्भव और उसके स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। उनकी दृष्टि में संसार में दो प्रकार के काव्य ही विशेष-रूप से स्थायी रह सकते हैं—एक भक्तिकाव्य और दूसरा वीरकाव्य। भक्तिकाव्य का सम्बन्ध ईश्वर से होता है, जिसके अनुशीलन से मानसिक विकार शान्त होता है। वीरकाव्य का सम्बन्ध व्यावहारिक जगत् से रहता है जिसमें पूर्ववर्ती पुरुषों के पराक्रमपूर्ण कर्मों का वर्णन रहता है। विश्व के सभी साहित्यों को उन्होंने वीरकाव्यों से प्रभावित माना है। हिन्दी साहित्य में लिखी गयी वीररस-प्रधान कविताओं की परम्परा का तीन उत्थानों में निरूपण किया है—प्रथम उत्थान आदिकाल में, द्वितीय उत्थान रीतिकाल में एवं तृतीय उत्थान आधुनिक काल में माना है। द्वितीय उत्थान में रचित विशुद्ध वीरकाव्यों की पाँच प्रकार की पद्धतियों का उन्होंने उल्लेख किया है जिसका संक्षिप्त परिचय पंचम अध्याय में दिया गया है। परम्परा के प्रवाह में उन्होंने आधुनिक काल के वीरकाव्यों का भी इसमें उल्लेख किया है।

'भूषण' की कविता मुक्तक है और इसका सम्बन्ध इतिहास से है। इसलिए मिश्र जी ने इसकी आलोचना भाषा, भाव, वर्णन-शैली के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से की है। 'शिवभूषण' में अलंकारों का निरूपण होने से उन्होंने अलंकारशास्त्र की दृष्टि से भी इसका विश्लेषण किया है। 'भूषण' की आलोचना में वीरकाव्य के प्रमुख कवियों से उनकी तुलना भी की है। भूषण ने व्रजी में रचना की पर बैसवाड़ी प्रदेश में रहने से

१, २ भूषण—(अन्तर्दर्शन), सं० आचार्य मिश्र, पृ० २०, ५२।

उस बोली का भी मेल इसमें हो गया है। इनकी सामान्य काव्यभाषा का रूप उन्होंने बहुत परिष्कृत नहीं माना। काव्य में ओज गुण के लिए किस प्रकार की भाषा का प्रयोग होना चाहिए, इस पर भी कवि ने ध्यान नहीं दिया।

वीरत्व को उन्होंने लौकिक गुण माना है क्योंकि समाज के उद्भव के साथ ही इसका भी आविर्भाव हुआ। लोक के सम्पर्क में आने पर ही इसका उदात्त स्वरूप व्यक्त होता है, इसी से उन्होंने इसे लौकिक कहा। उन्होंने वीरत्व का लक्ष्य सत् का संघटन एवं असत् का विघटन माना जो कि प्राचीन काल से ही स्वीकृत है। इसी से काव्य में वीरत्व के आलम्बन या नेता वे ही माने गये हैं जो लोक-कल्याण में प्रवृत्त रहते हैं। शिवाजो और छत्रसाल इसी प्रकार के सच्चे वीर नायक हैं। उन्होंने वीरत्व को तीन प्रकार का बताया है—लोकसात्रक पदार्थघटक उत्तम वीरत्व, कोरा स्वार्थघटक मध्यम वीरत्व और स्वार्थ-साधक परार्थविघटक अलोकोपयोगी निकृष्ट वीरत्व। इन्हें ही क्रम से सात्त्विक, राजस और तामस भी कहा है।[1] इनमें काव्योपयोगी उन्होंने प्रथम दो को ही माना है।

वीरत्व का पोषक भाव उत्साह है। उत्साह लक्ष्य और साध्य दोनों की ओर देखने वाला भाव है। इसी से अन्य भावों से यह विलक्षण है। उन्होंने उत्साह और विस्मय भाव का संचरण सभी रसों में माना है।[2] वीर और वीरत्व पर विचार करने के अनन्तर उन्होंने वीर-कवि-कर्म पर भी संक्षेप में विचार किया है। भूषण की कविताओं में आये दोषों का भी उद्घाटन किया है। इनकी कविता में प्रतिलिपिकारों से अधिक इनके द्वारा उत्पन्न दोष माना है। विरति-भंग और यति-भंग को ऐसा ही दोष बताया। कवित्तों के चरणों में 'विश्राम' यथास्थान नहीं है। प्रवाह बहुत उखड़ा हुआ है। इन दोषों का स्पष्टीकरण उन्होंने उदाहरणों द्वारा किया है। इनकी तुलना उन्होंने वीर काव्यकर्ताओं से करते हुए इनको वीररस का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है और इनको वीर काव्यकर्ताओं का भूषण बताया है।[3]

मिश्र जी ने भूषण की काव्यकृतियों का अनुसन्धानात्मक विवेचन किया है। जिन-जिन ग्रन्थों की सहायता अपने सम्पादन कार्य एवं भूषण की काव्यकृतियों के अस्तित्व को परखने में उन्होंने ली है उनका संकेत भी कर दिया है। शिवसिंह सेंगर के अनुसार-शिवराज भूषण, भूषणहजारा, भूषणउल्लास और दूषणउल्लास ये चार इनके ग्रन्थ ठहरते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'शिवाबावनी', 'छत्रसालदशक', और कुछ फुटकल कवित्त भी प्राप्त होते हैं। मिश्र जी ने प्रामाणिक रूप से इनका केवल एक ग्रन्थ 'शिवभूषण' या 'शिवराजभूषण' माना। जिसका रचनाकाल सं० १७२० वि० बताया। इनकी मुद्रित

१-३. भूषण —(अन्तर्दर्शन), संपा० आचार्य मिश्र, पृ० ४५,४६,५९।

और हस्तलिखित प्रतियों के अवलोकनानन्तर उन्होंने तीन प्रकार की हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया है। एक प्रकार की वे प्रतियाँ हैं जिनका साम्य काशिराज के पुस्तकालय की प्रति से होता है। दूसरे प्रकार की वे हैं जिनका ऐक्य मिश्रबन्धुओं की प्रति या श्री युगलकिशोर जी की प्रति से होता है। तीसरे प्रकार की वे हैं जिनका ऐक्य गोविन्दगिल्ला भाई की प्रति से स्थापित होता है। इन तीनों में आए भेद का निर्देश भी उन्होंने किया है, जिसका मुख्य आधार अलंकार-निरूपण है।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर 'शिवसिंहसरोज' में 'शिवभूषण' के दिये गये रचनाकाल को उन्होंने भ्रामक बताया है। इसके रचनाकाल की प्रामाणिकता के लिए अब तक की उपलब्ध सबसे प्राचीन प्रति की—जो सं० ९८१८ की है और काशी के सुप्रसिद्ध वैद्य स्व० श्री चुन्नीलाल जी के संग्रह की है—पुष्पिका उद्धृत की है। इसी आधार पर इसका रचनाकाल सं० १७३० वि० बनाया। इनके नाम पर प्रचलित 'शिवाबावनी' और छत्रसालदशक' के सम्बन्ध में प्रमाण सहित उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीनकाल में इनका कोई अस्तित्व नहीं था। इन दोनों पुस्तकों की न तो कोई हस्तलिखित प्रति आज तक मिली है और न सन् १८९० के पूर्व इनका किसी पुस्तक में नामोल्लेख ही हुआ है। 'छत्रसालदशक' की अप्रामाणिकता के परिणाम-स्वरूप ही उन्होंने 'भूषण-ग्रंथावली' एवं हिन्दी साहित्य के इतिहास से इस नाम को हटा देने का सुझाव दिया है।

पण्डित रमाकान्त चौबे के सहयोग से उन्होंने 'छत्रसालदशक' का सम्पादन किया जिसमें दस छंद ही उपलब्ध हुए हैं और छह संदेहास्पद हैं। पुस्तकारम्भ में उन्होंने छत्रसाल की ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं इनके गुणों का उल्लेख किया है। भूषण की 'शिवावावनी' का सम्पादन भी उन्होंने वजरंगवली गुप्त के सहयोग से किया है। इसकी भूमिका में भी भूषण एवं शिवाजी का ऐतिहासिक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है।

'भूषण' के अन्तर्दर्शन में भूषण का अनुसन्धानात्मक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया गया है जिसमें इनका असली नाम 'घनश्याम' बताया है। उन्होंने उन सभी आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है जिनकी प्रशस्ति में भूषण ने कविता की है। इसमें उन्होंने इतिहास और काव्य का पार्थक्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि "काव्य न इतिहास होता है न होना चाहिए। दानों में पार्थक्य ही क्या रहेगा। काव्य में जो तथ्य व्यंजना से घोषित होता है इतिहास में वह स्पष्ट कथित रहता है। पर काव्य में अलंकार अव्यंग्य अर्थात् अल्पव्यंग्य होते हैं। अतः भूषण की कृति में आलंकारिक सजावट के भीतर इतिहास के तथ्य ज्यों के त्यों रख हैं।"[1] इसका स्पष्टीकरण उन्होंने उद्धरणों द्वारा किया है।

---

१. भूषण—सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १०६।

'भूषण' पुस्तक की इस विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका को देखते हुए ही विद्वानों ने इसे उनकी स्वच्छ आलोचनात्मक पुस्तक माना है। इसमें उनकी व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक आलोचना की प्रखर प्रतिभा का परिचय मिलता है।

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में शास्त्रीय एवं नव्य आलोचना-पद्धति के समन्वय से विकसित आचार्य मिश्र के समीक्षात्मक व्यक्तित्व ने सर्वप्रथम द्विवेदी युग की तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के दलदल में फँसे बिहारी और देव के मूल्यांकन की रूढ़ि को तोड़कर बिहारी की समस्त प्रवृत्तियों की विवेचन द्वारा हिन्दी आलोचना को नई दिशा प्रदान की। उन्होंने तुलनात्मक-पद्धति की सहायता अवश्य ली। पर 'विशेषता' और 'हीनता' दिखाने के लिए नहीं, अपितु इनकी प्रवृत्तियों का परम्परा में स्थान दर्शाने के लिए। उन्होंने इनकी ऐतिहासिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, आर्थिक, जातीय आदि तत्कालीन मान्यताओं के स्पष्टीकरण के लिए अन्य कवियों के विचार भी व्यक्त किए हैं।

'बिहारी' मिश्र जी की आलोचनात्मक पुस्तक हैं। इसका आलोचना भाग 'बिहारी की वाग्विभूति' नाम से पहले लिखा गया था जिसको परवर्धित एवं संशोधित कर और बिहारी सतसई जोड़कर 'बिहारी' नाम से उन्होंने प्रकाशित कराया।

इस पुस्तक में उनकी समीक्षा पद्धति प्रमुखतः चार कसौटियों पर आधृत है—(१) तत्कालीन परिस्थितियाँ क्या थीं जिनकी अभिव्यक्ति उस साहित्य में है। (२) उन प्रवृत्तियों की परम्परा का 'आदि' रूप कैसा था जिससे वे विकसित हुईं। (३) तत्कालीन सामाजिक प्रवृत्तियाँ विदेशी प्रवृत्तियों से किस रूप में प्रभावित हुईं और साहित्य पर उनका प्रभाव किस रूप में पड़ा। (४) कृतिकार का जीवनवृत्त और उसकी कृति का भावपक्ष, कलापक्ष, रचना शैली की परम्परा आदि का गम्भीरता-पूर्वक विचार।

हिंदी साहित्य की रीतिसिद्ध धारा के प्रवर्तक कवि बिहारी को कुछ विद्वान् रीति की लकीर का फ़कीर मानते हैं, मिश्र जी ने इस मत को अमान्य करते हुए कहा कि "बिहारी ने यदि रीति के आधार को बावन तोला पाव रत्ती ग्रहण करके अपने दोहों का निर्माण किया होता तो ऐसा कदापि न हो सकता कि एक संग्रहकर्ता उनका एक दोहा खंडिता में रखे, दूसरा धीराधीरादि में अर्थात् अनेक दोहे कभी किसी एक के द्वारा एक वर्ग में रखे गए हैं और दूसरे द्वारा दूसरे वर्ग में।"[1] बिहारी ने दोहा पद्धति को अपना कर नवोद्भावना को सशक्त भाषा में प्रस्तुत किया। मिश्र जी ने रीतिसिद्ध कवियों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए बिहारी के समक्ष देव को भी रखा, पर प्राचीन संग्राम को नया रूप देने के लिए नहीं, अपितु यह लक्षित करने के लिए कि

---

१. बिहारी की वाग्विभूति—आचार्य मिश्र, पृ० २१।

बिहारी ने दोहों का ग्रहण करके किस प्रकार काव्य की बाहरी साज-सज्जा का त्याग कर उक्ति के भीतर ही सूक्ष्म कारीगरी दिखाने पर अपने को केन्द्रित किया।

तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन करते हुए उन्होंने शृंगार की प्रवृत्ति का सम्बन्ध भी परम्परा से जोड़ा है। उनकी दृष्टि में भारतीय साहित्यशास्त्र में मुक्तक का प्रचार बढ़ने से नीति की उक्तियों के साथ शृंगार की उक्तियाँ भी बढ़ीं। प्रबन्ध काव्य जैसी रसाभिव्यक्ति लाने के लिए शास्त्रीय अंगों के साथ ही साथ रिझाने के लिए कवि ऐसे वर्ण्य-विषय भी ग्रहण करने लगे जो रस की पवित्र एवं व्यापक दृष्टि से शृंगार के आभास मात्र थे और कहीं-कहीं तो विपर्यास। वर्ण्यविषय को विस्तार से कहने को विस्तृत क्षेत्र तो मिला, पर साथ ही ऐसी-ऐसी बातें भी आने लगीं जिन्हे उन्होंने 'ग्राम्य' कहा। प्राकृत और अपभ्रंश की जिस पपम्परा को पकड़कर बिहारी ने काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाया उसी के प्रभाव से इनकी कविता में थोड़े ऐसे प्रसंग भी आए जो रस के विचार से अच्छे नहीं कहे जा सकते।[1] इसीसे अश्लील चित्रण भी आ गये। इस समय की अधिकांश कविताओं को उन्होंने 'स्वामिनः सुखाय' माना है।

सतसई-परम्परा पर विचार करते हुए उन्होंने बिहारी की सतसई के आधार ग्रन्थ गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती और अमरुकशतक बताये। उन्होंने बिहारी सतसई की परम्परा का प्रवाह दिखाने के लिए विभिन्न पुस्तकों से उन स्थलों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है जो इससे साम्य रखने वाले हैं। यहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। बिहारी के प्रसिद्ध दोहे—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास इहिं काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगे कौन हवाल॥

की तुलना में उन्होंने गाथासप्तशती की निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की है—

जावण कोस विकासँ पावइ ई सीस मालईकलिआ।[2]
मअरन्दपाण लोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि॥

—गाथासप्तशती, ५।४४

१. बिहारी की वाग्विभूति—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३१-३२।
२. यावन्न कोशविकासं प्राप्नोतीपन्मालतीकलिका।
मकरंदपानलोभयुक्तभ्रमर तावदेव मर्दयसि॥
(अभी मालती की कली के कोश का विकास भी नहीं हो पाया कि मकरंदपान के लोभी भौंरे तूने उसका मर्दन आरम्भ कर दिया।)
देखिये : बिहारी—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७१।

गाथासप्तशती के अनुकरण पर निर्मित 'आर्यासप्तशती' से भी उदाहरण दिया है—

कंजनयनि मंजन किये बैठी ब्योरति बार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नन्दकुमार॥

चिकुरविसाणतिर्यङ्नतकण्ठी विमुख वृत्तिरपि बाला।
त्वामियमंगुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति॥[1]

—आर्यासप्तशती, २३१

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों से भी उदाहरण प्रस्तुत कर सतसई परम्परा का स्थान निर्दिष्ट किया है।

उन्होंने मुक्तक और दोहे की परम्परा में विहारी को परखा है। मुक्तक के भी दो प्रकार बताये—एक रसयुक्त और दूसरा रसविहीन। रसयुक्त रचना के लिए उसके वर्ण्य-विषय के रूप में उन्होंने जीवन के आनुषंगिक व्यापारों का ग्रहण आवश्यक माना है। सतसैया परम्परा में जो मुक्तक-रचनाएँ मिलती हैं, उनमें रस-व्यंजक मुक्तकों एवं नीति-कथनों के अतिरिक्त सूक्तियाँ भी मिलती हैं जो केवल चमत्कार-विधायक होती हैं। इनको उन्होंने काव्य के चरमलक्ष्य के अनुरूप नहीं माना। उनका कहना है कि यदि इनको काव्य के भीतर माना जायगा तो फिर चाणक्य के नीति-वाक्य भी काव्य ही कहे जायेंगे, पर उन्हें कोई काव्य नहीं कहता।[2] मुक्तकों के अधिक प्रचार का कारण दरबारी प्रवृत्ति बतायी। आचार्य शुक्ल की भाँति उन्होंने भी प्रबन्धकार को उत्तम कवि कहा है। पर यदि कोई केशवदास की भाँति प्रबन्ध का सहारा लेकर केवल मुक्तकों का संग्रह करने लगे तो उससे सूरदास ऐसे मुक्तक रचनाकार को ही उत्तम कहना चाहिए जो प्रबन्ध के सहारे सानुबन्ध कथा न लिखते हुए भी स्थूलधारा प्रवाह बनाए रखते हैं।[3]

उन्होंने अपने व्यावहारिक विचारों का स्पष्टीकरण सैद्धान्तिक मतों के आधार पर किया है। उक्तियों की सरसता के लिए मार्मिक परिस्थिति का चुनाव, उसका यथोचित चित्रण और रमणीयता की व्यंजना को आवश्यक माना है।[4] इनमें यदि परिस्थिति उपयुक्त है और चित्रण यथोचित है तो रमणीयता स्वयं आ जाएगी। रसात्मक स्थिति उत्पन्न करने में संवाद-योजना एवं प्रकृति-चित्रण भी सफल होता है। यद्यपि मध्यकाल

---

१. बालों को संवारने में गर्दन को तिरछी किए झुकी हुई उलटे (पीठ फेर) बैठी हुई भी नायिका उंगलियों बालों के बीच में स्थान करके तुम्हें देख रही है।—देखिए, बिहारी की वाग्विभूति—आचार्य मिश्र, पृ० ७२।

२-४. वही, पृ० ७०, ७२, ८१।

के महलों में होनेवाले प्रेम-व्यापार से अन्य कवियों की भाँति विहारी भी अछूते नहीं रहे, फिर भी विहारी की प्रसंग-योजना सरस है।

'बिहारी सतसई' में वर्णित प्रेम की विभिन्न मुद्राओं एवं चेष्टाओं का उल्लेख भी उन्होंने किया है। बिहारी ने केवल नेत्र का वर्णन कई प्रकार से किया है—दृष्टि-संचार का, नेत्रों की हृदय-बेधकता का, उनकी चंचलता का, उनकी विशालता का आदि। मिश्र जी का मत है कि "काव्य का साधक शुद्ध अनुमान नहीं होता, भाव प्रेरित हो सकता है। यदि कहा जाय कि उनके मुख की चमक ऐसी है मानो वे अपनी मंडली के चन्द्रमा हैं, तो काव्यार्थ साध्य होगा और कथन उसका साधक। यदि कहा जाय कि इसके मुखचन्द्र के प्रकाश के कारण उस मुहल्ले में दीपक जलाने की जरूरत नहीं पड़ती तो अर्थ सिद्ध होगा।"[1] विहारी ने इन दोनों प्रकारों का उपयोग किया है।

प्रेम के सम्बन्ध में प्राचीन प्रवाद है कि वियोग में वह क्षीण हो जाता है, पर उन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' में कही गयी उक्तिको प्रस्तुत कर स्पष्ट किया कि इस अवस्था में वह और प्रगाढ़ हो जाता है।[2] संयोगावस्था में प्रेमी का प्रेम परिमित परिसर में ही संचरित रहता है पर वियोगावस्था में प्रेमी भावावेश में, सम्पर्क में आए जड़-चेतन सभी के प्रति उसे उद्घाटित करता फिरता है। जैसे सीता के वियोग में राम 'लता तरु पाँती' एवम् 'खगकुल' से सीता का पता पूछते हैं। आचार्य मिश्र ने विप्रलम्भ शृंगार के प्रमुख चारों भेदों—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण—का संक्षिप्त रूप में परिचय देते हुए बिहारी के विरह-वर्णन पर विचार किया है। उनकी दृष्टि में बिहारी ने पूर्वानुराग और प्रवास का वर्णन ही अधिक किया है। उनका मत है कि "बिहारी का विरह वर्णन ऊहात्मक होने से शुद्ध नहीं हो पाया है, पर बिहारी ने अन्यत्र प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन में व्यापक अनुभूति एवं निरीक्षण का परिचय दिया है।"[3] उन्होंने इनकी सच्ची काव्यानुभूति को परम्परा के चक्कर में पड़कर दबा हुआ माना है।[4] पर परम्परा के भीतर या उससे अलग होकर भी ये उन्मुक्त हैं, उदार हृदयवृत्ति का परिचय देते हैं। ये ही दोनों रूप उनकी कविता भर में हैं। भारतीय परम्परा के परिवेश में ही मिश्र जी ने विहारी की भाव-व्यंजना, अप्रस्तुत-योजना, वाग्वैदग्ध्य, भाषा आदि पर विचार करते हुए उन्होंने विहारी सतसई से प्रभावित परवर्ती काव्यों का भी उल्लेख

१. बिहारी की वाग्विभूति—आचार्य मिश्र, पृ० १०६।

२. स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वयोगा-
'दिष्टे वस्तुन्युपचितरसा प्रेमराशीभवन्ति ॥
—मेघदूत-(उत्तर भाग), कालिदास, श्लोक—४९।

३,४. बिहारी की वाग्विभूति—आचार्य मिश्र, पृ० ११५, वही।

किया है। इस प्रकार उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्रीय एवं बिहारी की तत्कालीन परिस्थितियों के परिवेश में बिहारी और उनकी सतसई के मूलभूत तत्त्वों का आलोचनात्मक दृष्टि से उद्घाटन किया है।

घनआनन्द की कृतियों का सम्पादन उन्होंने 'घनआनन्द-कवित्त', 'घनआनन्द और आनन्दघन', 'घनआनन्द-ग्रन्थावली' नाम से किया है। उनकी ये पुस्तकें विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका से पूर्ण हैं। 'घनआनन्द-ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने इसकी संपादन-शैली, सम्पादन की सामग्री एवं स्रोतों का उल्लेख किया है। इसकी सम्पादन-शैली के विषय में उनका मत है कि 'शब्दों में एकरूपता वहीं तक लाई गई है जहाँ तक ग्रन्थ के 'वैज्ञानिक' सम्पादन का महत्त्व बना रहे और साहित्यिकता भी खंडित न हो।'[१] इसमें उन्होंने हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल का विस्तार से विवेचन किया है।

स्वच्छन्दधारा के कवियों को रीति के बन्धन से मुक्त बताते हुए उनके प्रेम को उन्होंने जीवनगत बन्धनों से मुक्त रहनेवाला है। उन्होंने इसकी प्रेम की पराकाष्ठा की की अभिव्यक्ति को प्रेम की विषमता का उद्गार सुनने वाला माना है और इसे सूफी कवियों से प्रभावित बताया। प्रेम की परम्परा पर विचार करते हुए सूफी कवियों के विरह और भारतीय भक्तिमार्ग के विरह में भेद बताया है। घनआनन्द के प्रेम के विषय में उनका कहना है कि "स्वच्छन्द कवियों के लौकिक पक्ष में इनका विरह निवेदन फारसी काव्य की विवृत्ति से प्रभावित है और अलौकिक पक्ष में सूफियों की प्रेम-पीर से।"[२] उन्होंने इनको शुद्ध-भक्त कवि न मानकर प्रेमोमंग का कवि माना है।[३] उनकी दृष्टि में में स्वच्छन्द कवियों ने अपना वैभव केवल हृदय की उदारता और प्रेम के निर्मल रूप में ही नहीं दिखलाया, भाषा और अभिव्यंजना में भी दिखलाया।[४] इनकी व्यंजना पद्धति अलंकारों की लड़ी बाँधने वाली न होकर हृदय की स्थिति का सच्चा आभास देने वाली है।

हिन्दी साहित्य में आनन्द, आनन्दघन और घनानन्द तीनों नाम बहुत दिनों तक एक ही कवि के समझे जाते थे, पर मिश्र जी ने सप्रमाण तीनों कवियों को अलग-अलग सिद्ध कर दिया। उन्होंने 'घनआनन्द' और 'सुजान' की जीवन कथा को नवीन प्राप्त सामग्री के आधार पर प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही उन्होंने घनआनन्द के प्रेम के स्वरूप, जीवनवृत्त, वर्ण्य-विषय, वर्णन-पद्धति, अलंकार शैली, भाषा, कृष्ण-भक्त कवियों के प्रेम का स्वरूप, घनआनन्द के सम्प्रदाय आदि का अनुसन्धानात्मक विवेचन किया है, जो प्रमाण सिद्ध है।

१-४. घनआनन्द ग्रन्थावली—सं० आचार्य मिश्र, संपादकीय, पृ० २, ४०-४१, ४२, ४८।

जोधपुर नरेश महाराज जसवंत सिंह (प्रथम)—कृत 'भाषा-भूषण' का सम्पादन उन्होंने विस्तृत सैद्धान्तिक आलोचनात्मक भूमिका के साथ किया है। इसमें उन्होंने काव्य-लक्षण, काव्य के भेद, अलंकार, हिन्दी में रीति शास्त्र, कवि का परिचय एवं इस पुस्तक का परिचय भी दिया है। इन सैद्धान्तिक मतों का उल्लेख उनकी 'भारतीय समीक्षात्मक-दृष्टि' के प्रसंग में किया गया है। इसमें उन्होंने नायिकाभेद, रसभाव का निरूपण, भाषा-भूषण और इस पर की गयी टीकाओं पर विचार किया है। उनका मत है कि "कवि जो कुछ कहता या करता है वह विशिष्ट होता है। कवि की इसी विशिष्टता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साहित्य में अलंकार, गुण-रीति, वक्रोक्ति-संबंधी मतों का परिवर्तन हुआ।"[1] इस मत में समर्थकों ने कर्ता और उसकी कृति की दृष्टि से काव्य का विवेचन किया।

उन्होंने जसवंतसिंह को 'रीतिबद्ध' धारा का शुद्ध अनुयायी माना है। इनके 'भाषा-भूषण' को उन्होंने पूर्णतः (कुछ स्थलों को छोड़कर) जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' के पंचममूख का अनुवाद बताया है। इनके नायिकाभेद का आधार 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' को बताया। उन्होंने इनका जीवनवृत्त ऐतिहासिक परिस्थिति एवं घटनाओं के आधार पर प्रस्तुत किया है।

उन्होंने 'केशव-ग्रन्थावली' का संपादन तीन खण्डों में किया। तीसरे खण्ड में आलोचनात्मक भूमिका प्रस्तुत की है। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने इनके सभी ग्रन्थों पर संक्षिप्त रूप में विचार किया। इन ग्रन्थों के सम्पादन में उत्पन्न कठिनाइयों के उल्लेख के साथ इनकी विषय सामग्री और आधारभूत हस्तलेखों एवं ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। केशवदास के नख-शिख को उन्होंने पारम्परिक ही माना है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश पाठ-संपादन-शैली पर किया गया विचार है, जिसका विस्तृत-विवेचन 'पाठ-सम्पादन की शैली' वाले अध्याय में किया जाएगा। केशवदास के ग्रन्थों के नाम पर भी विचार किया है और इनके 'नाम' पर प्रचलित भ्रम का उन्होंने निराकरण भी किया है।

केशवदास की रचनाओं का संक्षिप्त संग्रह प्रस्तुत कर उसकी विस्तृत भूमिका में संक्षिप्त जीवन-परिचय के साथ साहित्यिक महत्त्व का प्रतिपादन भी किया है। इनकी काव्य-भाषा को उन्होंने ब्रजी बताया है। रामचन्द्रचन्द्रिका एवं विज्ञानगीता में अधिक दुरूहता का कारण उसकी भाषा का सस्कृतनिष्ठ होना बताया है। यह संग्रह शिक्षोपयोगी दृष्टि से किया गया हैं। उन्होंने 'रसिकप्रिया' की 'प्रियाप्रसाद तिलक' नाम से टीका विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें भी उन्होंने केशव-

---

१. भाषा-भूषण—सं० आचार्य मिश्र, पृ० ५।

दास के जीवन-वृत्त, कर्तृत्व, नायिका भेद, विपथ-वमर्श, आदि पर विचार करते हुए इस पर की गई टीकाओं एवं टीकाकारों का उल्लेख किया है। नायक-नायिकाभेद का सम्वन्ध रसप्रवाह एवं नाट्यप्रवाह से माना है। भारतीय साहित्यशास्त्र में किये गये नायिकाभेद पर विचार करते हुए काव्यालंकार श्रृंगार तिलक, साहित्यदर्पण और रसमंजरी में वर्णित नायिकभेद की सूची भी दी है।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में प्रवाहित होनेवाली शुद्ध भक्ति की धारा का 'रसखानि' की भूमिका में उल्लेख करते हुए उन्होंने भक्त कवियों द्वारा भक्ति की काव्य में अभिव्यक्ति ही नहीं, उसका प्रचार करना भी माना है। उन्होंने रसखानि की रचना को भक्ति-प्रचारक नहीं माना। रसखानि को उन्होंने स्वच्छन्दधारा का सबसे प्राचीन कवि मानते हुए इनको भक्त कवियों से भिन्न प्रेमोमंग का गायक बताया है। इनकी दृष्टि में पहले रसखानि रीति-बद्ध रचना करने में प्रवृत्त हुए थे पर हृदय की दौड़ के लिए वहाँ खुला मैदान न पाकर रीतिमुक्त हो गये। उन्होंने स्पष्टरूप से भक्त कवियों की श्रेणी में इनको भी स्थान दिया। इनमें सूर आदि जैसी साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं मानी। रीतिबद्ध कवियों में 'राधा-कन्हाई सुमिरन के बहाना' मात्र थे, उनकी वृत्ति भक्ति में नहीं रमी पर रीतिमुक्त कवियों ने उसमें अपने अस्तित्व को भी विलीन कर दिया। यही इन दोनों में पार्थक्य है। उन्होंने घनआनन्द और रसखानि का सगुण से अधिक नैकट्य बताया।

स्वच्छन्दधारा के कवियों को उन्होंने शुद्ध भक्त की कोटि में नहीं रखा। इनकी रचनाओं को उन्होंने तीन चरणों में रखा—पहले में इनकी रुचि रीतिबद्ध रचना की ओर दिखाई देती है, दूसरे में रीतिबद्ध रचना त्याग कर उन्होंने स्वच्छन्दरूप से प्रेम के पवित्र क्षेत्र में पदार्पण किया है, तीसरे में इनकी रचनाएँ भक्तिपरक हो गई।[1] रसखानि के सम्बन्ध में सबसे अधिक विरोध है, पर मिश्र जी ने रसखानि के उस दोहे को प्रस्तुत किया है जिसमें उन्होंने स्वयं प्रेम को साध्य कहा है—

जेहि पाएँ बैकुण्ठ अरु हरिहूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ सरस सुप्रेम कहाहि॥

रसखानि में भी विदेशीपन की झलक दिखायी देती है। इनके जीवनवृत्त में उन्होंने साहित्यिक एवं ऐतिहासिक आधार पर इनको दिल्ली का रहने वाला बताया है। इनके प्रेम और भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए कबीर, जायसी, तुलसीदास और बिहारी की इन प्रवृत्तियों को भी प्रस्तुत किया है।

जिस प्रकार पाठालोचन की दृष्टि से मिश्र जी द्वारा सम्पादित 'रामचरितमानस' (काशिराज संस्करण) की प्रस्तावना महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार 'भिखारीदास-ग्रन्थावली'

---

१. रसखानि—संपा० आचार्य मिश्र, पृ० २१।

की प्रस्तावना भी। इस प्रस्तावना में भी पाठसम्पादन-शैली एवं इसकी सामग्री पर विचार किया गया है। इस ग्रन्थावली के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना में उन्होंने इसमें संगृहीत पुस्तकों की सामग्री का उल्लेख किया है।

उन्होंने पद्माकर के ग्रन्थों का सम्पादन 'पद्माकर-पंचामृत' एवं 'पद्माकर-ग्रंथावली' में किया है। 'पद्माकर-पंचामृत' में हिम्मतबहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोध पचासा और गंगालहरी संगृहीत हैं। इनको क्रमशः उन्होंने घृत, दधि, दुग्ध, मधु और शर्करा नाम दिया है। पंचामृत में तुलसोदल के रूप में उन्होंने अन्त में फुटकल छंद रख दिये हैं। तत्कालीन परिस्थितियों के परिवेश में उन्होंने पद्माकर की साहित्यिक प्रवृत्तियों को परखा है। उस समय का भारतीय जीवन भगवान् की भक्ति करने में लीन था। कृष्ण का यहाँ केवल रसिया रूप ही गृहीत हुआ। पद्माकर में भी आध्यात्मिक दृष्टि नहीं थी। ये केवल अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति में ही प्रतिभा का पहाड़ ढो रहे थे न कि लोकरुचि के स्वर में स्वर मिलाने में। मिश्र जी द्वारा प्रस्तुत-जीवनवृत्त से स्पष्ट होता है कि पद्माकर ने दस से अधिक ही राज-दरबारों का भ्रमण किया है और इसी घुमक्कड़ जीवन में इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

पद्माकर की कृतियों में पद्माभरण, जगद्विनोद और गंगालहरी प्रमुख हैं। इस-लिए मिश्र जी ने इन तीनों को अलग-अलग विस्तृत भूमिका के साथ भी सपादित किया है। इनकी रचना को उन्होंने तीन प्रकार की माना है—प्रशस्तिकाव्य, शृंगारकाव्य और भक्तिकाव्य।[1] प्रशस्तिकाव्य की रचना प्रकीर्णक और निबद्ध दोनों पद्धतियों में है। उन्होंने दोनों के अवलोकनानन्तर स्पष्ट किया कि आश्रयदाताओं का प्रशस्तिपाठ ही इनका प्रधान लक्ष्य है। उक्ति चमत्कार प्रकीर्णक रचना में जितना है उतना निबद्ध काव्यों में नहीं। मिश्र जी का कहना है कि "कवि की आन्तरिक दृष्टि रणक्षेत्र, रण-प्रस्थान और युद्ध का वर्णन संश्लिष्ट ढंग से करने में प्रवृत्त न होकर या तो सूचीसंग्रह में लग गई है या शास्त्रकथित ओजगुणोपेत आरोपित नाद के प्रकाशन में संलग्न हुई है।"[2] अतः इनको वीररस की रचना परमार्थतः इनकी उन्मुक्त अभिव्यक्ति नहीं है। भक्तिवैराग्य की रचना जीवन की परिस्थितियों की प्रेरणा से निर्मित होने से वीररस की रचना की अपेक्षा अधिक सहज रूप में सामने आती है।

मिश्र जी ने वर्ण्य नायकों के स्वरूप के आधार पर प्रशस्ति काव्य के तीन प्रकार बताये—कोई नायक लोकहित की प्रेरणा से युद्ध में प्रवृत्त होता है, कोई यश के लिए, तो कोई स्वार्थ-सिद्धि के लिए। शिवाजी का प्रयास प्रथम कोटि का था, प्रताप-

---

१,२. पद्माकर-ग्रंथावली—संपा० आचार्य मिश्र—पृ० ५६, वही।

सिंह का द्वितीय कोटि का और हिम्मतबहादुर का तृतीय कोटि का।[1] पद्माकर के इन ग्रंथों का मूल्यांकन उन्होंने छंद, नायक, ऐतिहासिक आदि दृष्टियों से किया है। पद्माभरण अलंकार-ग्रंथ है। जगद्विनोद में नायिका भेद प्रमुख है। उन्होंने प्रसंगतः भारतीय साहित्यशास्त्र की दो प्रधान धाराओं—अलंकार और रस—का भी विवेचन किया है। लिलहारी लीला को उन्होंने भाषा और छंद की दृष्टि से पद्माकर की रचना नहीं माना। कुछ सज्जन ईश्वरपचीसी को पद्माकर की रचना स्वीकार नहीं करते, पर उन्होंने छंद और भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से इसे इनका ही बताया है। इसे निर्गुनिए हठयोगियों की पूरी अनुकृति माना है। रामरसायन का उन्होंने छंद और कथा के माहात्म्य की दृष्टि से विचार करते हुए पद्माकर की रचना माना है।

काव्य की अभिव्यक्ति में दो तत्त्व विशेष काम करते हैं—नादतत्त्व औरचित्रतत्त्व। इन्हीं दोनों में से किसी रचना में एक का प्राधान्य रहता है। मिश्र जी ने छंदों में नाद की तीन स्थितियों का उल्लेख किया है। प्रत्येक चरण के मध्य का नाद, पूरे चरण का नाद और पूरे पद्य का नाद।[2] नादतत्त्व की पूर्ति पद्य में अभिव्यक्ति मात्र से न होकर पृथक् प्रयत्न से करनी पड़ती है। पद्माकर की रचना में जहाँ दृश्य चित्रण नहीं है वहाँ नाद-योजना उन्होंने स्वीकार की है। कवि अपने वर्ण्य-विषय में चित्रतत्त्व की योजना तभी करता है जब उसकी अंतर्वृत्ति उसमें रमती है। पद्माकर की चित्तवृति नारी के रूपचित्रण में, उसके हावभाव के निरूपण में अधिक रमी। मिश्र जी ने नारी के चित्रण को भी दो प्रकार का बताया—एक चित्रित के अंतःकरण की अभिव्यक्तिपूर्वक, दूसरे बाह्यरूपचित्रण मात्र।[3] पद्माकर की रचना में चित्रतत्त्व की ही प्रधानता है, पर उसमें या तो अंतःकरण और बाह्य रूप में समस्थिति है या शुद्ध बाह्य चित्रण है।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में अनेक लक्षण ग्रन्थ लिखे गये। उनमें उपलब्ध अलंकार ग्रन्थों को मिश्र जी ने दो प्रकार का बताया है—एक तो ऐसे हैं जिनमें लक्षणा, व्यंजना और गुण-दोष विवेचन के साथ-साथ अलंकारों का निरूपण है और दूसरे जिनमें केवल अलंकारों का ही वर्णन है। संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों से प्रभावित रीतिकाल के ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए पद्माकर के पद्माभरण को चन्द्रालोक का कोरा अनुवाद नहीं माना। इसके लक्षणों को उसके आधार पर अवश्य निर्मित माना, पर इसमें दिये गये उदाहरणों को पद्माकर का ही स्वीकार किया है।

रीतिग्रन्थकारों में चमत्कार का अधिक आग्रह संस्कृत के आलंकारिकों के प्रभाव से प्रेरित माना है। उन्होंने पद्माकर में आचार्यत्व की जैसी दृष्टि होनी चाहिए वैसी

१-३. पद्माकर-ग्रंथावली—संपा० आचार्य मिश्र, पृ० ४८-४९,५८,५९।

न पाकर इन्हें मात्र परम्परा का पालन करनेवाला माना है। कवित्व, अभिव्यंजना-शैली एवं भाषा की दृष्टि से उन्होंने इनकी जितनी रचनाएँ प्राप्त हैं उनमें सबसे उत्तम जगद्विनोद को कहा। संस्कृत और हिन्दी साहित्यशास्त्र में किये गये नायिका-भेद पर विचार करते हुए पद्माकर ने नायिका भेदवर्णन को तो कुछ ठीक माना, पर रस और भाव का निरूपण उत्तम कोटि का नहीं बताया। रीतिकाल में अलंकारों की अधिकता के कारण कुछ कवियों ने तो सभी अलंकार गंगा की प्रशंसा में ही घटाये।[1] मिश्र जी ने गंगा-सम्बन्धी गीतिकाव्यों को तीन प्रकार का बताया है—एक तो पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' के अनुवाद के रूप में, दूसरे गीतिकाव्य के रूप में और तीसरे अलंकार-उदाहरण के रूप में। पद्माकर की 'गंगालहरी' को दूसरे प्रकार का काव्य माना है।

मिश्र जी ने पद्माकर-ग्रन्थावली की भूमिका में उन ऐतिहासिक व्यक्तियों का संक्षिप्त रूप में परिचय दिया है जो लगभग पद्माकर के समकालीन रहे हैं।[2] पद्माकर का अधिक समय बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ जो ब्रजी की मूल भूमि है। इनकी भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने इसे शुद्ध काव्य-भाषा का स्वरूप नहीं माना। उन्होंने इनकी भाषा को स्पष्ट करने के लिए घनआनन्द, बिहारी, मतिराम, देव आदि की भाषिक विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। इनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर भी स्वीकार किया है।

लाला भगवानदीन जी की प्रेरणा से उन्होंने नरोत्तमदासकृत 'सुदामा-चरित' का सम्पादन कर उसकी प्रस्तावना में काव्य, मित्रता, भाषा, रस, ध्वनि, अलंकार, छन्द, वर्णन शैली आदि के स्वरूप करते हुए उसे परखा है। उन्होंने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द से बढ़कर माना है। ब्रह्मानन्द तब प्राप्त होता है जब संसार से एकदम विरक्ति हो जाती है, अर्थात् ब्रह्मानन्द और संसार में कोई सामजस्य नहीं हैं, प्रत्युत विरोध है। पर काव्यानन्द में ऐसी बात नहीं है। काव्यानन्द में संसार का सांमजस्य भी है। लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करते हुए भी लोक सामंजस्य की रक्षा करते रहना

---

१. गंगालहरी—सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २२।

२. अनूप गिरि, हिम्मतबहादुर, राजेन्द्र गिरि, सरूपसिंह, मान्धाता, सबसुखराय, गंगागिरि, जगतबहादुर, राजगिरि, उमरावगिरि, उत्तम गिरि, जुल्फिकार नवाब, कंसराज, उमरावसिंह, नवलसिंह, नरेन्द्रसिंह, जगतसिंह, सरूपगिरि, निधानसिंह, दूलह दीवान, लाला हिन्दूपति, बहादुर सिंह, दीलीपसिंह, निवाजसिंह, दुर्जनसिंह, उत्तमसिंह, अर्जुनसिंह, प्रतापसिंह, जगतसिंह, पारीक्षत, रघुनाथ राव, दौलतराव सिंधिया, ऊदाजी, रतनसिंह, भरत। देखिए, पद्माकर-ग्रन्थावली—सम्पादक, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ८९-८७।

काव्यानन्द के लिए ही सम्भव है। काव्यानन्द में हम ब्रह्मानन्द भी लूट सकते हैं, पर ब्रह्मानन्द में काव्यानन्द का स्वरूप नहीं देख सकते।[1] उनका यह विचार इनकी तार्किक एवं गम्भीर दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने काव्य को उच्चतम भावों की समष्टि माना है और पद्य को उसका 'खोल' मात्र।[2] उन्होंने कविता से दो बातों का सम्भव होना बताया है—एक तो अपने भावों को सुचारु रूप से संघटित कर सकते हैं, दूसरे श्रोताओं को अभूतपूर्व रूप से प्रभावित कर सकते हैं।[3] प्रस्तुत पुस्तक 'सुदामाचरित' में भी इसी प्रकार की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

'मैत्री' के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने प्रेम को तीन प्रकार का बताया है। पहला उत्तम या एकांगी प्रेम जिसमें प्रेमी प्रेमपात्र से प्रेम करता है, पर इस बात का तनिक भी इच्छुक नहीं होता कि प्रेमपात्र मुझसे प्रेम करे। बादल के प्रति चातक का, जल के प्रति मीन का, दीपक के प्रति पतंग का प्रेम इसी कोटि का है। दूसरे मध्यम प्रेम का नाम 'मैत्री' है। यह प्रेम व्यावहारिक होता है। तीसरा अधम प्रेम है जिसमें स्वार्थ की भावना प्रबल होती है।[4] जब दोनों मित्र परस्पर प्रेम-भाव बनाए रखते हैं तभी मैत्री स्थिर रहती है। श्रीकृष्ण-सुदामा की 'मैत्री' आदर्श मैत्री के रूप में प्रसिद्ध है। मिश्र जी ने इस पुस्तक की आलोचना कर इसे सभी दृष्टियों से उपादेय, उत्तम एवं सुन्दर बताते हुए खण्डकाव्य में स्थान दिया है।

भारतेंदु हरिश्चन्द्रकृत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का संपादन कर उसकी आलोचनात्मक भूमिका में उन्होंने दृश्यकाव्य पर विचार करते हुए इसके पात्रों एवं लेखक के जीवनवृत्त का भी उल्लेख किया है। संस्कृत में प्रचलित 'रूपक' पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि 'दृश्यकाव्य में वर्णित बातों का अभिनय (खेल) करते समय कोई व्यक्ति उसमें कथित पुरुष (पात्र) का रूप धारण करता है और अपने को वही पुरुष मानकर तदनुसार आचरण करता है इसीसे उसे 'रूपक' कहते हैं।'[5] हिन्दी में प्रचलित नाटक शब्द पर भी विचार किया है। नाटक में किसी पात्र का चरित्र दो प्रकार से लक्षित होता है। एक तो किसी दूसरे पात्र द्वारा उसका चरित्र कहलाकर और दूसरे उसी पात्र के कथन एवं कार्य से।[6] इसमें पहला प्रकार गौण है और दूसरा प्रमुख। दूसरे प्रकार के चरित्र-चित्रण वाले नाटक को ही उन्होंने उत्तम माना है। इस दृष्टि से प्रस्तुत नाटक (सत्य हरिश्चन्द्र) उत्तम कोटि का है।

मिश्र जी का व्यक्तित्व केवल आलोचक और अनुसंधायक रूप में ही नहीं, निबन्ध-

---

१-४. सुदामाचरित, संपा० आचार्य मिश्र, पृ० ५-६,७,८,९।
५-६. सत्य हरिश्चन्द्र नाटक—संपा० आचार्य मिश्र—पृ० ३,१३।

कार, कहानीकार के रूप में भी उजागर हुआ है। इनकी हास्यात्मक कहानियों का संग्रह 'नीला कंठ उजले बोल' है। इसकी भूमिका में उन्होंने साहित्य में कहानी का स्वरूप, स्थान एवं यथार्थ पर विचार किया है। साहित्य के निर्माण में भाव, विचार और वस्तु को प्रधान तत्त्व बताते हुए भाव तत्त्व की प्रधानता से कविता, विचारात्मक तत्त्व की प्रधानता से निबन्ध और वस्तु या कथात्मक तत्त्व की प्रधानता से कहानी का प्रणयन माना है।[1] कहानी और उपन्यास तथा निबन्ध और आलोचना की समानता एवं भिन्नता पर भी उन्होंने विचार किया है। कहानी और उपन्यास में तत्त्व की दृष्टि से नहीं व्यष्टि एवं समष्टि की दृष्टि से भेद बताया है। निबन्ध एवं आलोचना दोनों में विचारात्मक तत्व की ही प्रधानता रहती है, पर निबन्ध में लेखक जिस तत्त्व का विवेचन करता है उसकी सामग्री का आकलन भी उसे करना पड़ता है, आलोचना में सामग्री का आकलन दूसरे का रहता है। आज के युग में कविता एवं निबन्ध की अपेक्षा कहानी का बोलबाला अधिक होने से इस युग को 'कहानी-युग' कहना अधिक उपयुक्त कहा है।[2]

'भ्रमरगीतसार' के प्रधान संपादक आचार्य रामचंद्र शुक्ल रहे हैं और उपसंपादक आचार्य मिश्र। इसकी भूमिका में मिश्र जी ने भ्रमरगीत परम्परा का संक्षेप में उल्लेख किया है। उन्होंने सगुणधारा की रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखा पर भी विचार किया है। इसमें उनकी व्यावहारिक दृष्टि ही प्रधान है।

उन्होंने विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम की दृष्टि से भी पुस्तकों का संपादन एवं संग्रह किया है। जो विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं से परिपूर्ण हैं। नवज्योति (भाग ३), गद्य-मंजरी, गद्यमाधुरी, तुलसी कोर्स, काव्यांग कौमुदी (तीन भागों में) आदि ऐसी ही पुस्तकें हैं। नवज्योति (भाग ३) के अन्तर्दर्शन में उन्होंने कविता और गद्य का अन्तर स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि "कविता और गद्य में वही अन्तर है जो भाव और विचार में। कविता का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों में सौंदर्य बोध का संस्कार डालना तथा उनके भावों का परिष्कार करना है। उसकी शिक्षण विधि गद्य की शिक्षण विधि से कुछ भिन्न होनी चाहिए। कविता शिक्षण में भाव सौंदर्य तथा अभिव्यक्ति की शैली पर विशेष ध्यान देना चाहिए[3]।" यह दृष्टि उनकी अध्यापकीय प्रतिभा की परिचायिका है।

'गद्य-मंजरी की प्रस्तावना में उन्होंने साहित्य की शैली पर विचार किया है। उन्होंने साहित्य की कोटि में उन्हीं निबन्धों का स्थान दिया है जिनमें बुद्धि के व्यापार के साथ-साथ हृदय के राग का भी योग हो। 'गद्य-माधुरी' की प्रस्तावना में गद्य

१,२. नीला कंठ उजले बोल—आचार्य मिश्र—पृ०क, ज।

३. नवज्योति (भा० ३)—संपा० आचार्य मिश्र, पृ० ६।

की सभी शाखाओं का उपन्यास को छोड़कर निरूपण किया है और संक्षेप में हिन्दी-गद्य साहित्य का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। 'तुलसी-कोर्स' में तुलसीदास का विस्तृत अनुसंधानात्मक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है। तुलसी की मृत्यु पर प्रचलित 'सावन-शुक्ला सप्तमी' और 'श्रावण शुक्ला तीज शनि' दोहे में दूसरे को सप्रमाण प्रामाणिक सिद्ध किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित भावों एवम् भारतीय सिद्धान्त-शास्त्र से सम्बद्ध निबन्धों के संग्रह 'चिन्तामणि' (भाग १) पर मिश्र जी ने विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका 'चिन्तामणि-मंजूषा' नाम से प्रस्तुत की जो स्वच्छन्द पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुई है। उन्होंने इस भूमिका द्वारा सबसे अधिक कल्याण विद्यार्थी-समुदाय का किया है, क्योंकि शुक्ल जी के इन विचारों तक पहुँचने का यह सबसे सुगम मार्ग है। अतः इसको हम 'आचार्य शुक्ल-विचार-वीथी' कह सकते हैं। आचार्य शुक्ल के विचारों के स्पष्टीकरण में ही उनके मतों का भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

आचार्य शुक्ल ने 'चिन्तामणि' के निवेदन में यह निर्णय विज्ञ पाठकों पर छोड़ दिया कि इस पुस्तक में संकलित निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान पर आधुनिक युग, के विज्ञ पाठकों ने इनको व्यक्ति-प्रधान माना है। मिश्र जी ने उनको बुद्धि-प्रधान या विचार-प्रधान माना है। उनका कहना है कि "जहाँ बुद्धि सीधे मार्ग निकालती है, वहाँ शैली द्वारा व्यक्तित्व की झलक मात्र मिलती है। पर जो बुद्धि हृदय के साथ होती है, उसमें व्यक्तित्व के अधिक संयोजन का अवकाश मिलता है। इसलिए व्यक्ति-प्रधान वही निबन्ध हो सकते हैं जिनमें हृदय को खुलकर खेलने का अवसर मिले और बुद्धि अपने व्यापार से या तो एकदम विरत हो जाय या गौण हो जाय।"[1] इनके निबन्धों में इनका झुकाव विषय की ओर अधिक है।

मिश्र जी ने शुक्ल जी के कथन के आधार पर और अन्य प्रकार से परख कर उनके मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों को मनोवैज्ञानिक कहना उचित नहीं माना। शुक्ल जी ने 'भाव' की वैकल्पिक अभिधा मनोविकार रखी है। कहीं-कहीं लोग उसे मनोवेग भी कहते हैं। ऐसे प्रयोग को मिश्र जी ने अंग्रेजी के 'इमोशन' का अनुसरण माना है। भारतीय आचार्यों ने भाव के वेग वाले अंश पर ध्यान नहीं दिया है। उनकी दृष्टि विशेषरूप में परिणति पर ही रही, इसलिए वे उसे मनोविकार ही कहना पसन्द करते हैं।

किसी हृदय में अलौकिक विषयों के कारण जो मनोविकार होते हैं उनके संस्कार वहाँ गुप्त या सुप्तरूप में पड़े रहते हैं। काव्य में पात्रादि के मनोविकारों की जो व्यंजना

---

१. चिन्तामणि मंजूषा—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ४-५।

होती है उससे सहृदय के गुप्त या सुप्त संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं। उस समय सहृदय के लौकिक विषय वहाँ उपस्थित नहीं रहते। इसलिए उन उद्‌बुद्ध भावों का स्वरूप वैसा नहीं होता। मिश्र जी ने इस विचार को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाया है—"तिल को चमेली आदि के पुष्पों से वासित किया जाता है। उन चमेली आदि के पुष्पों को हटा देने पर भी तिल में उसकी गन्ध वासित हो जाती है। उन तिलों को तेल में परिणत करने पर पुष्पों की वासना या संचार वहाँ बना रहता है। यह वासनारूप गंध चमेली आदि की विषय-बद्ध ज्यों की त्यों वास नहीं होती। किसी सहृदय को भी उसके लौकिक भाव वासित कर देते हैं। उनके प्रत्यक्ष उपस्थित होने पर जो मनोविकार होते हैं उनसे ये वासनागत भाव भिन्न होते हैं। विशुद्ध लौकिक नहीं रह जाते।"[1] शुक्ल जी की उत्साह-सम्बन्धी मान्यता को उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यता के आधार पर स्पष्ट किया है।

श्रद्धा और भक्ति के निरूपण में उन्होंने इनके स्वरूपों का स्पष्टीकरण किया है। संस्कृत के 'श्रत्' अव्यय और 'धा' धातु से 'श्रद्धा' शब्द का निर्माण माना है। 'श्रत्' या 'श्रद्' का अर्थ निघंटु के अनुसार 'सत्य' है। वाचस्पत्यम्—'श्रत्' को 'श्री उति' से कहता है। 'श्रद्धा' का सम्बन्ध हृदय से माना है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के आधार पर श्रद्धा के तीनों रूपों—सात्त्विकी, राजसी और तामसी को समझाया है। देवताओं की पूजा करने वाले को सात्त्विक-श्रद्धा-सम्पन्न या दिव्य कहा है। उनके पूजन में फलाकांक्षा नहीं होती। उन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा वर्णित 'श्रद्धा' को इसी प्रकार का माना है।

'भक्ति' को 'भज्' धातु से निर्मित बताया। इस धातु के दो अर्थ दिये गये हैं। इसीसे 'भक्ति' शब्द के अर्थ भी अनेक हैं। उन्होंने विभिन्न दृष्टियों से इसके अर्थ का विवेचन किया है। इसी प्रकार करुणा, क्रोध, घृणा, भय, लोभ और प्रीति, लज्जा और ग्लानि तथा ईर्ष्या का भी स्पष्टीकरण भारतीय धार्मिक एवं साहित्यिक दृष्टि से किया है।

आचार्य शुक्ल के सैद्धान्तिक निबन्धों के स्पष्टीकरण में मिश्र जी के निजी मतों का स्पष्टीकरण हो जाता है। 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' के सरलीकरण में उनके साधारणीकरण-सम्बन्धी मत का उल्लेख मिलता है। उनकी दृष्टि में जो साधारण नहीं है उसे साधारण करना ही साधारणीकरण है।[2] उनके इन मतों का उल्लेख 'भारतीय समीक्षात्मक-दृष्टि' वाले प्रसंग में किया गया है। आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण के सम्बन्ध में फैली भ्रांतियों का उन्होंने स्पष्ट रूप से निराकरण किया है। काव्य

१.२. चिन्तामणि-मंजूषा—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६०, ६३।

में मान्य सौन्दर्यवादी प्रवृत्ति को उन्होंने प्रदर्शन माना है। जहाँ समाज के जीवन का दर्शन नहीं वहीं प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती है।[1] सौंदर्य नैसर्गिक भी होता है और सजावट से भी उत्पन्न होता है। अलंकारवादी और रीतिवादी सजावट को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उन्होंने 'रसात्मकबोध के विविध रूप' और 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' का भी पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण किया है।

शुक्ल जी की 'कविता'—सम्बन्धी मान्यताओं को उन्होंने 'जीवन' के निकट से अधिक परखा है। इस समय दो वाद प्रचलित हैं—मानववाद और मानवतावाद। इनमें मानववाद को मिश्र जी ने संकुचित दृष्टिवाला है। उनका मत है कि मनुष्य प्रकृति के निरन्तर विनाश में प्रवृत्त है। प्रकृति मनुष्य और चराचर में कोई भेद नहीं रखती। इसलिए मनुष्य यदि सृष्टि के विनाश में प्रवृत्त है तो प्रकृति भी उसके विनाश में प्रवृत्त होने वाली है। 'भाव' शब्द का अर्थ केवल 'मनोविकार' ही नहीं 'सत्ता' भी माना है। भावसाधना को वे वह साधना मानते हैं जो सत्ता को (अपनी और शेष सृष्टि की भी) बनाये रखने में सहायक हो।[2] भाव कार्य के प्रवर्तन के साथ सत्ता का संरक्षण भी करते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की मान्यताओं पर आरोप लगाने वाला उन्हीं को बताया है जिनकी भारतीयता पराए रंग में रँग गयी है। आजकल की आलोचना को उन्होंने व्यवसाय की ओर अग्रसरित होते हुए माना है और शोध को अर्थावाप्ति का साधन।[3] इसीलिए शुक्ल जी जैसा गम्भीर चिंतक आज उपलब्ध नहीं है।

अन्य विद्वानों के ग्रन्थों पर लिखी गई भूमिकाएँ

आचार्य मिश्र ने ऐसे अधिकांश ग्रन्थों की भूमिकाएँ लिखी हैं जो दूसरों की रचनाएँ हैं। ऐसी भूमिकाएँ भी उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा को उजागर करती हैं। इनमें भी उनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना के रूप दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम उन्होंने सरयूप्रसाद पाण्डेय कृत 'ददरी-रहस्य' की भूमिका सम्वत् १९८० वि० में लिखी। 'ददरी' नाम को उन्होंने 'दर्दरी' का अपभ्रंश माना है क्योंकि यह स्थान भृगु जी के शिष्य दर्दर मुनि द्वारा आश्रम बनाया गया था। मिश्र जी ने इसके पौराणिक महत्त्व के साथ लोकजीवन में इसकी प्रसिद्धि पर विचार किया है। साहित्यिक दृष्टि से यह भूमिका विशेष महत्त्व नहीं रखती। इसका कारण प्रस्तुत पुस्तक ही उतने महत्त्व की नहीं है।

ठाकुर गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'वन-श्री' पुस्तक की भूमिका लिखकर उनको साहित्य में उचित स्थान दिया है। कविता के क्षेत्र में नवीन परिवर्तन के साथ 'छायावाद' का उद्भव हुआ। इस धारा में कुछ ऐसे विषय ग्रहण नहीं किये गये जो कि इसके लिए अपेक्षित थे। ऐसे रचनाकारों को दृष्टि विशेष रूप से अभिव्यंजना पर ही रही, विभाव

१-३. चिंतामणि-मंजूषा—आचार्य मिश्र, पृ ६१, ७८, ८३।

पक्ष पर नहीं। इस विषय की ओर 'भक्त' जी की दृष्टि गयी उन्होंने काव्य-क्षेत्र से अपेक्षित विषय को ही आलम्बन के रूप में स्वीकार किया है। इनके आलम्बनों को मिश्र जी ने दो प्रकार का बताया—एक प्रकृतिगत, दूसरा लोकगत। इनकी कविताओं को वादों से दूर स्वच्छंद और भावमयी माना है। उनका मत है कि "आधुनिक काल में जिस प्रकार स्वर्गीय रत्नाकर जी अपनी ब्रजभाषा की कविता में कुछ नयें संकेत दे गये हैं और जिस प्रकार 'प्रसाद' जी हिन्दी के ढर्रे पर कुछ नये संकेत कर गये हैं उसी प्रकार के संकेत 'भक्त' जी में भी मिलते हैं।"[1] भाषा की दृष्टि से भी इस रचना का महत्व है।

'भक्त' जी के 'नूरजहाँ' महाकाव्य पर भगवतशरण उपाध्याय ने 'नूरजहाँ' आलोचनात्मक पुस्तक लिखी, जिसकी भूमिका मिश्र जी ने लिखी है। इसमें उन्होंने भारतीय महाकाव्यों की दृष्टि से 'नूरजहाँ' पर और उसके आलोचनात्मक ग्रन्थ पर विचार किया है। उन्होंने दीर्घकालव्यापी जीवनवृत्त ले लेने से ही प्रवन्ध की पूर्णता नहीं स्वीकार की। उसके लिए आवश्यक तथा हृदयग्राही छोटी-बड़ी घटनाओं का विधान भी आवश्यक माना है। उक्ति-वैचित्र्य तथा दृश्य-वर्णन की अपेक्षा प्रवन्धगत पात्रों एवं कथागत प्रदेशों, वस्तुओं या परिस्थितियों का रूप निखारने के लिए इनकी योजना उपयुक्त मानी है। उन्होंने 'नूरजहाँ' को काव्यतत्त्वों की योजना से सुन्दर और मार्मिक तो माना है, पर पात्रों की दृष्टि से उच्चकोटि का नहीं, क्योंकि इसमें पात्रों की अवतारणा लोकभूमि पर उतनी नहीं हुई जितनी व्यक्ति-सम्वद्ध परिमित शील-भूमि पर। इस पर प्रस्तुत समीक्षा को 'नूरजहाँ' काव्य का भाष्य या महाभाष्य कहा है। उन्होंने तटस्थ रूप से इनकी विशेषताओं एवं अभावों का उल्लेख किया है, पर उनकी दृष्टि गुण-दोष विवेचक नहीं, व्याख्यात्मक है।

जायसीकृत प्रेमकाव्य 'चित्ररेखा' का सम्पादन डॉ॰ शिवसहाय पाठक ने किया। इसकी संक्षिप्त भूमिका आचार्य मिश्र ने लिखी। उन्होंने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल के सूफी मुसलमान कवियों की प्रेमगाथाओं पर विचार किया है। कुछ लोग इनकी रचनाओं को शुद्ध साम्प्रदायिक या धार्मिक कहकर हिन्दी साहित्य के परिसर से बाहर करने का सुझाव देने लगे हैं। इनके सम्बन्ध में मिश्र जी का कहना है कि 'यदि किसी धार्मिक रचना में धर्मोपदेश कांतासम्मित पद्धति पर किया गया है तो साहित्य उसका देश निकाला नहीं कर सकता। हाँ, जीवन की नैसर्गिक सरणि का आख्यान उसमें प्रत्यक्ष होना चाहिए।'[2] इसके प्रमाणस्वरूप उन्होंने कवीर, सूर, तुलसी के धार्मिक उपदेशों को भी प्रस्तुत किया है जिनके ग्रन्थ काव्य के अन्तर्गत ही आते हैं।

---

१. 'वन-श्री'–ठाकुर गुरुभक्त सिंह 'भक्त' (वीथिका), पृ॰ ३।

२. राजविलास—सम्पादक मोतीलाल मेनारिया, पृ॰ १०।

कृष्णशंकर शुक्ल की 'केशव की काव्य-कला' पुस्तक की भूमिका भी उन्होंने लिखी है। उन्होंने केशवदास के ग्रंथों के आधार ग्रंथ संस्कृत के ग्रंथों को बताते हुए उनकी 'रामचन्द्रचन्द्रिका' को पिंगल की पद्धति सिखलानेवाली रचना माना है। उन्होंने इसमें उनकी रचनाओं के आधार-ग्रंथ, वर्ण्य-विषय, वर्णन-शैली का संक्षेप में उल्लेख किया है।

डॉ० पूर्णमासी राय की पुस्तक 'नंददास और उनका भँवरगीत' की भूमिका में उन्होंने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को स्वर्णयुग बताते हुए स्वर्ण में अन्तर्भूत निम्न-लिखित गुणों का उल्लेख किया है—गुरुत्व, नित्य गुणत्व, लघुरूप-धारकत्व, अधिकाधिक भारवाहकत्व। वह सिद्ध है, प्रसिद्ध है, उसमें अष्टसिद्धियाँ हैं। मध्यकाल के इतिहास में भी यही गुण हैं। उन्होंने साहित्य, भक्ति और दर्शन की त्रिवेणी की जैसी दिव्य छटा नंददास के भँवरगीत में उपलब्ध मानी है वैसी सूरदास के पदों में भी नहीं। वहाँ साहित्य की वचन भंगिमा है, भक्ति की भावप्रवणता है, पर दर्शन के सूक्ष्म तर्क नहीं। दोनों की साहित्यिक एवं दार्शनिक विशेषताओं को प्रस्तुत कर उन्होंने सूरदास के गीत को सरस्वतीविहीन गंगा-यमुना का संगम माना है। इस प्रकार उन्होंने व्यावहारिक रूप में नददास के भँवरगीत को उत्तम कोटि का बताया है।

नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक-जयंती के अवसर पर हिन्दी के आकर-ग्रंथों के सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित करने के लिए एक पुस्तक माला की योजना भी बनायी गयी। इस आकर-ग्रंथमाला के आदि संपादक मिश्र जी रहे हैं। इसमें कुछ ग्रंथों का संपादन तो स्वयं उन्होंने ही किया और कुछ के संपादक दूसरे थे, पर ये उसके प्रधान सम्पादक थे। इन पुस्तकों में उनकी विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाएँ हैं। राजविलास, गंग-कवित्त, ठाकुर आदि इसी प्रकार की पुस्तकें हैं।

मोतीलाल मेनारिया द्वारा सम्पादित 'राजविलास' की सम्पादकीय भूमिका में उन्होंने उसके कर्ता एवं रचनाकाल पर विचार किया है। 'शिवसिंह सरोज' में शिवसिंह ने मान कवीश्वर को वंदीजन कहा और उनका स्थितिकाल सं० १७५६ वि० माना है। डॉ० ग्रियर्सन ने इनको बंदीजन तथा कवि दोनों माना है और उनका स्थितिकाल सं० १७१७ बताया। इन दोनों ने उनकी पुस्तक का नाम 'राजदेव विलास' माना है। मिश्रबन्धुओं ने मान कवीश्वर का रचनाकाल तो सं० १७१७ वि० ही बताया, पर उनके ग्रंथ का नाम 'राजविलास' माना। लाला भगवानदीन जी ने मान कवि द्वारा इस ग्रंथ का श्रीगणेश सं० १७३४ वि० तथा तीन वर्ष पश्चात् सं० १७३७ वि० में इति होना बताया है। स्वर्गीय रत्नाकर जी ने 'विहारी सतसई' के टीकाकार मानसिंह और 'राजविलास' के कर्ता मान कवि को एक ही माना है। मोतीलाल मेनारिया ने दोनों कवियों को पृथक माना है। उन्होंने बिहारी सतसई की टीका की दो प्राचीन लिखित

प्रतियों का उल्लेख किया है जिनमें एक का रचनाकाल सं० १७७२ वि० और दूसरी का सं० १७७३ वि० बताया गया है। इसके आधार पर 'बिहारी-सतसई' के टीकाकार मानसिंह का रचनाकाल सं० १७७० वि० आसपास पड़ता है। मिश्रबन्धुओं ने 'राजविलास' के कर्ता और 'बिहारी-सतसई' के टीकाकार को तो पृथक् माना, पर टीकाकार का रचनाकाल सं० १८२३ बताया। इस रचनाकाल को तो मेनारिया जी ने अशुद्ध बताया, पर इन ग्रंथों के कर्ताओं के पृथक्त्व का आधार मिश्रबन्धुओं की मान्यताओं को ही बनाया।

आचार्य मिश्र ने मानसिंह का कविताकाल सं १७७० वि० जिस आधार पर माना गया है उसे पुष्ट नहीं माना। उनका कहना है कि यदि मानसिंह सं० १७७० वि० में वृद्ध हों तो उनका जन्म समय सं० १७१०–१५ वि० तक जा सकता है। फिर सं० १७३४ वि० उनका रचना करना ही सम्भव हो सकता है। यह आधार इतना पुष्ट नहीं है जिसके बल पर रत्नाकर जी के निष्कर्ष को आँच पहुँचे।[1] रत्नाकर जी ने 'राजविलास' के रचयिता मान कवि और 'बिहारी-सतसई' के अनुवदयिता मानसिंह को एक माना है। इस स्थल पर उन्होंने स्वयं सन्देह व्यक्त किया है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित 'राजविलास' हस्तलेख में तीसरे विलास के अतिरिक्त सभी विलासों की पुष्पिका में कवि का नाम मानकवि ही दिया गया है। मिश्र जी ने सरस्वती भवन उदयपुर में सुरक्षित 'राजविलास' की सं० १७४६ वि० की हस्तलिखित प्रति का प्रथम पृष्ठ, मध्य के एक पृष्ठ और अन्तिम पृष्ठ का फोटोग्राफ प्रस्तुत किया है। मेनारिया जो ने उदयपुरवाले हस्तलेख की पूर्णतः अनुलिपि की है। उन्होंने प्रस्तुत संस्करण में उसी के अनुसार विलासों की पुष्पिका नहीं दी है। और उस हस्तलेख का रचनाकाल सं० १७४६ वि० बताया है तथा उस ग्रन्थ की सबसे प्राचीन मूल प्रति माना है। मिश्र जी का कहना है कि 'राजविलास' का निर्माणकाल सं० १७३४–१७३७ वि० है, अतः मूल प्रति भी इसी समय में लिखित होगी। इसी में स्पष्टीकरण हेतु उन्होंने तीन फोटोग्राफ प्रस्तुत किये हैं जिनमें तेरहवें और अठारहवें (अंतिम दोनों) विलास की पुष्पिका में कवि का नाम 'मान' और हस्तलेख के लेखक का नाम 'श्रीमान-सिंह' का (अन्तिम फोटोग्राफ में) उल्लेख है। 'राजविलास' की व्रजभाषा और 'बिहारी-सतसई' की टीका की व्रजभाषा में मेनारिया जी ने साम्य नहीं माना। मिश्र जी ने इस स्थापना से दोनों का पार्थक्य भी सम्भव बताया है।

मेनोरिया जी ने मान कवि का एक और नाम 'कल्याणशाह' होने की सम्भावना व्यक्त की है। जिस प्रसंग में इसका उल्लेख मिलता है मिश्र जी उसमें मिठाइयों की नामावली बतायी है।[1] उन्होंने उसे मान कवि का नाम न मानकर मिठाई का नाम ही

---

१. राजविलास—सम्पादक मोतीलाल मेनारिया, छन्द ९५, पृ० ९१-९२।

माना है। जैन मत से भी उन्होंने इसे सिद्ध किया है। मान कवि के जैन होने की सबसे पहली सूचना मेनारिया जी ने ही दी।

मेनारिया जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन और उसमें दी गई भूमिका में आयी अनेक त्रुटियों की सूचना सभा को दी। मिश्र जी ने लाला जी द्वारा सम्पादित 'राज-विलास' में आयी त्रुटियों के अनेक कारणों का भी उल्लेख किया, जिसमें लालाजी की भूल न मानकर तथ्यों का अस्पष्टीकरण बताया है। प्रस्तुत संस्करण में आयी त्रुटियों का उल्लेख भी उन्होंने किया है।

इस आकर-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत ही चन्द्रशेखर मिश्र ने 'ठाकुर-ग्रन्थावली' का सम्पादन किया। इसकी भूमिका में मिश्र जी ने ठाकुर का संक्षिप्त जीवनवृत्त और साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विचार किया है। ठाकुर नाम से रचना करने वाले चार-पाँच कवियों का उल्लेख मिलता है। लाला भगवानदीन जी ने तीन को पृथक् मानकर उनकी रचनाओं का संकलन 'ठाकुर ठसक' के नाम से सं० १९३८ वि० में किया। उसकी भूमिका में उन्होंने पहले दोनों को असनी का निवासी बताते हुए उनकी भाषाओं में अधिक साम्य माना है। तीसरे की रचना में बुन्देलखण्डो प्रयोगों का आधिक्य बताया। पहले दोनों में साहित्यिक दृष्टि से भी साम्य है। उनकी रचनाएँ साहित्यिक बन्धनों से जकड़ी हुई हैं, पर बुन्देलखण्डी ठाकुर इस बन्धन से मुक्त रहे हैं। इन दोनों प्रकार की रचनाओं को क्रमशः रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कहा गया है। किशोरीलाल गुप्त ने उस भ्रम को दूर किया जिसके आधार पर असनी के दो ठाकुर माने जाते हैं। इस प्रकार हिन्दी में दो ही ठाकुर प्रमुख हुए हैं—एक रीतिबद्ध या रीतिसिद्ध कवि थे और दूसरे रीतिमुक्त।[1] इसमें पहले को ब्रह्मभट्ट बताया गया और दूसरे को कायस्थ।

प्रस्तुत संग्रह के आधार ग्रन्थ याज्ञिक संग्रह का 'ठाकुर कवित्त' और लालाजी की 'ठाकुर ठसक' है। इसमें रीतिमुक्त ठाकुर की रचनाओं को ही प्रस्तुत किया गया है। मिश्र जी ने इस पुस्तक की प्राप्त सामग्री एवं ठाकुर-विरचित अन्य पुस्तकों का उल्लेख भी किया है। उन्होंने लालाजी द्वारा प्रस्तुत इनके जीवनवृत्त को ही प्रामाणिक माना। इसमें इनका प्रामाणिक वंश-वृक्ष भी प्रस्तुत किया गया है।

मध्यकाल की भक्ति और शृंगार की प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए इनके प्रवाहों में स्वच्छन्दता की धारा के प्रवाहित होने के कारण भारतीय चिन्तन, साधना और साहित्य का बाहर से आनेवाली नई चिन्तन धारा एवं साधना और साहित्य से टकराना माना

---

१. ठाकुर—सम्पादक चन्द्रशेखर मिश्र, जीवनवृत्त, पृ० २।

है।[1] उनका मत है कि स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को उभारने में तत्सामयिक सांस्कृतिक संघर्ष का बहुत बड़ा हाथ है।[2] उन्होंने भक्ति के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। शृंगारकाल में इस प्रकार की स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले कवियों में आलम, घनआनन्द, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव आदि हैं। उन्होंने इस काल के कवियों की प्रेरणा का आधार फारसी की शायरी को माना और इसके ऊपर भारतीयता का रंग इस प्रकार चढ़ा माना कि वह बाह्य प्रभाव के रूप में दिखाई ही नहीं देती। इससे साधना के क्षेत्र में कुछ परिवर्तन हुआ, पर उसे भारतीय रूप देने के लिए उसमें 'हरिनाम' दे दिया गया। इस प्रेम में सगुण ब्रह्म के प्रतिष्ठित हो जाने से फारसी काव्य की भाँति रहस्यवाद की ओर झुकाव नहीं रह गया। स्वच्छन्द कवियों में जो रहस्य का संकेत मिलता है उसे मिश्र जी ने इस प्रवाह की परम्परा का वस्तुतः संकेत करने वाला ही माना है।

इनकी भक्ति का विवेचन करते हुए मिश्र जी ने शुद्ध कवि उसी को माना है जिसकी बात अनूठी हो, जूठी न हो, पहले से कही हुई न हो, उक्ति में नवीनता हो और साथ ही साज-सज्जा भी हो, सौन्दर्य भी हो।[3] इनमें स्वच्छन्दधारा के कवियों की रचनाएँ सौंदर्य से मुक्त नहीं थीं। हाँ, भक्ति के कवि अवश्य सौन्दर्य से सम्बन्ध नहीं रखते। घनआनन्द की भक्ति की रचना को कुछ लोग उनकी नहीं मानते। स्वच्छंदता की प्रवृत्ति में नवीन का ग्रहण अवश्य होता है, भले ही पूर्णतः पुराने का त्याग न हो। मिश्र जी ने ठाकुर की प्रवृत्ति और शैली की व्याख्या निम्नलिखित सवैये के आधार पर की है—

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अक्षर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कहा हरिनाम की बात अनूठो बनाइ सुनावै॥
ठाकुर सो कवि भावत मोहिं जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥[4]

सौन्दर्य का संयोग अनूठी बात के बिना सम्भव नहीं। 'राज' शब्द की व्याख्या भी उन्होंने की है। 'राजसभा' का अर्थ उन्होंने बड़ी सभा, सबकी सभा बताया है। उसमें कवि को बड़प्पन पंडित और प्रवीणों द्वारा मिलती है। तुलसीदास उसी रचना को श्रेष्ठ मानते हैं जो 'सुरसरि सम सब कहँ हित' करने में सक्षम हो। कवित्त का 'बित्त' वही है जो 'चित्त' को हर ले। वह मनोहारी, रंजनकारी ही न हो, चेतना को तल्लीन करनेवाला भी हो। इस धारा से सम्बद्ध कवियों को उन्होंने 'रीतिमुक्त' कहने की अपेक्षा स्वच्छन्दवृत्ति वाला कहना अधिक उपयुक्त माना है। अर्थात् 'रीति' का नाम ये लेना नहीं चाहते। कुछ लोग इनको शुद्ध शास्त्रवादिता के बंधन में बाँध देते

१-३. ठाकुर—सम्पादक चन्द्रशेखर मिश्र, पृ० ७, वही, १०।
४. ठाकुर—संपा०, चन्द्रशेखर मिश्र, पृ० ३, सवैया सं० ६।

हैं। उन्होंने मार्ग तो शास्त्र का अवश्य अपनाया, पर उस पर चलने का अपना स्वच्छंद साधन ग्रहण किया। यदि ये शास्त्रीय बेड़ियों से जकड़े होते तो हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकालीन कवियों में 'रीतिधारा' के कवियों को अधिक महत्त्व देते। पर वस्तुतः स्थिति विपरीत है। स्वच्छंदधारा के कवियों और उनकी रचनाओं से सम्बद्ध मिश्र जी के विचार उनकी शास्त्रवादिता के बन्धन को पूर्णतः शिथिल कर देते हैं। उनके इसी विचार ने उत्तरमध्यकालीन काव्य-भंडार के अन्धकार में पड़े इन कवियों को प्रकाश में लाने में योगदान दिया। स्वच्छंद धारा के कवि ठाकुर का भी उनके द्वारा ही उद्धार हुआ। ठाकुर में लोकजीवन की स्वच्छन्दता सर्वत्र थी। लोकवाणी से इन्होंने अपने को सदैव सम्पृक्त रखा। इसी दृष्टि से मिश्र जी ने हिन्दी में उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं माना।

आकर-ग्रंथमाला के अन्तर्गत डॉ० वटेकृष्ण द्वारा सम्पादित 'गंग-कवित्त' की भूमिका में मिश्र जी ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का उल्लेख करते हुए देशी भाषाओं में हिन्दी भाषा के उद्‌भव का विवेचन किया है। इन भाषाओं में प्रयुक्त छन्दों का उल्लेख क्रमशः विकसित रूप में किया है। 'संस्कृत का जैसा अनुष्टुप् या श्लोक है या प्राकृत की जैसी गाथा है वैसा ही अपभ्रंश का दोहा।'[1] हिन्दी में वर्णिक और मात्रिक छन्दों का समन्वय है। उन्होंने 'कवित्त' को प्रकृति से वर्णवृत्त के वंश का और प्रवृत्ति से मात्रावृत्त के वंश का माना है।[2] 'कवित्त' शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण करते हुए उसमें कई छन्दों का समावेश संभव माना है। उन्होंने तुलसीदास की 'कवित्तावली' में घनाक्षरी और सवैये के साथ कवित्त के नाम पर छप्पय और झूलना के भी ग्रहण का संकेत किया है। कवित्त में मुख्य रूप में घनाक्षरी और सवैये ही आते हैं।

उन्होंने कवित्त की उत्पत्ति पर भी विचार किया है। इसका प्राचीन रूप सूरदास के गीतों के बीच, घनाक्षरी और सवैये के रूप में तुलसीदास की कवित्तावली में और केशवदास के आरम्भिक ग्रन्थों में प्रौढ़ रूप में मिलता है। विद्यापति के गीतों में यह नहीं दिखाई देता। इसी से उन्होंने इसका उद्‌भवकाल विक्रमी की १४ वीं शताब्दी और १६ वीं शताब्दी के बीच माना है।[3] घनाक्षरी छन्द की शैली और पांचाली रीति शैली में पौरुष अधिक है। यह घनाक्षरी के अनुकूल है। इसलिए कवित्त या घनाक्षरी का उद्‌भव इसी रीतिवाले प्रदेश में होना बताया। उन्होंने गंग के सवैयों में यथास्थान पांचाली शैली होने का भी उल्लेख किया है। कवित्तों की अधिकतर रचना भाट कवियों की थी जिनका मूल क्षेत्र पांचाली शैली की सीमा में है। गंग, नरहरि जो अकबर के

१-३. गंग-कवित्त—संपादक, डॉ० बटेकृष्ण, पृ० ५, वही, ६।

समकालीन हिन्दी के कवि थे, पांचाली शैली के क्षेत्र के ही थे। गंग और तुलसीदास का उल्लेख कवियों की दृष्टि से भिखारीदास ने भी किया है।

मिश्र जी ने अनेक विद्वानों के ग्रन्थों पर संक्षिप्त रूप में भूमिकाएँ लिखीं, जिनकी गणना समग्रता में करना असम्भव है क्योंकि उस सामग्री का परिगणन कहीं मिलता नहीं है। आज भी अनेक विद्वानों की पुस्तकें उनके यहाँ भूमिका लिखने के लिए पडी हुई हैं। उनके जीवन का इस समय सबसे बहुमूल्य समय इसी कार्य में व्यतीत हो रहा है। उनके द्वारा पुस्तकों पर दी गई सम्मतियाँ भी पक्षपाती नहीं, आलोचनात्मक गुण लिये हुए हैं! यहाँ कुछ पुस्तकों के नामों का उल्लेख किया जा रहा है जिन पर उन्होंने आलोचनात्मक भूमिकाएँ दी हैं—

१—'समाज' (नाटक)—छविनाथ पाण्डेय, साहित्य सेवक कार्यालय, ब्रह्मनाल, काशी, सं० १८४६ वि०।

२—हमारे समाज की रूपरेखा—कृष्णशंकर शुक्ल, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, सं० १६१६ वि०।

३—प्राचीन एवं नवीन काव्यधारा— सूर्यबली सिंह, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, सं० १६६६ वि०।

४—प्रियप्रवास-दर्शन—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी,' साहित्योद्यान, बेनियाँ बाग, वाराणसी, सन् १९४० ई०।

५—'जौहर'—श्यामनारायण पाण्डेय—सरस्वती मंदिर, काशी, चैत पूर्णिमा, सं० २००३ वि०।

६—भारतीय साहित्यशास्त्र—बलदेव उपाध्याय, प्रसाद-परिषद्, काशी, सं० २००५ वि०।

७—प्रसाद की कहानियाँ—केदारनाथ शुक्ल—सरस्वती मंदिर, बनारस, सं० २००७ वि०।

८—अपभ्रंश-प्रकाश—देवेन्द्रकुमार जैन, जैन ग्रन्थमाला, २१५८ भदैनी, काशी, सं० २००७ वि०।

९—मानव के मूल में—भगवतीशरण सिंह—विद्या मंदिर, ब्रह्मनाल, काशी, सं० २००७ वि०।

१०—युग-पुरुष—शुकदेव सिंह 'सौरभ', सं० २००८ वि०, संपादक सु० सि० सौरभ (चौरपुर, बनारस)।

११—मानस मूर्च्छना—रामसेवक शास्त्री, हिन्दी साहित्य प्रकाशन समिति, भागलपुर, सं० २०११ वि०।

१२—'उषा'—गुलाब खण्डेलवाल, २१२, बी० के० पाल एवेन्यू, कलकत्ता ६, सन् १९६५ ई०।

यहाँ कुछ ही उन पुस्तकों का उल्लेख किया गया जिनमें उनकी आलोचनात्मक भूमिकाएँ हैं। उनकी सम्मतियों का विवरण देना सम्भव नहीं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में उनकी प्रस्तावनाओं या भूमिकाओं में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि को सैद्धांतिक विवेचन, तत्कालीन परिस्थिति के विमर्श एवं ऐतिहासिक विकास और भाषाविचार पर आधृत माना जा सकता है। सैद्धांतिक मान्यताओं के आधार पर ऐतिहासिक एवं तत्कालीन परिस्थितियों के परिवेश में पुस्तकों का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने अपने स्वच्छन्द मत का भी प्रतिपादन किया है। अतः उनकी इन भूमिकाओं को प्रौढ़ आलोचना के अन्तर्गत स्थान देना ही अधिक उपयुक्त है।

सप्तम अध्याय

पाठसम्पादन-शैली एवं टीकाकार्य

[क] पाठसम्पादन की प्रक्रिया एवं मिश्र जी की दृष्टि

पाठसम्पादन के लिए पाठालोचन, पाठशोधन, पाठान्वेषण, पाठानुसंधान, पाठ-विज्ञान, ग्रंथसम्पादन आदि नाम हिन्दी में प्रचलित हैं, पर अँग्रेजी में इसे केवल 'टेक्सचुएल क्रिटिसिज्म' ही कहा जाता है, जिसका आशय होता है पाठ-सम्बन्धी विचार। किसी रचना का वास्तविक पाठ क्या रहा होगा और किन कारणों से वैसा रहा होगा, इसी विषय का विवेचन पाठालोचन हुआ करता है। पाठालोचन उन्हीं रचनाओं का होता है जिनके पाठ का प्रकाशन आधुनिक मुद्रण के पूर्व हुआ हो अथवा जिनका मुद्रण लेखक के निर्देशन में न हुआ हो। रचना का वास्तविक पाठ भी दो प्रकार का होता है—एक वह जो लेखक की लेखनी से लिपिवद्ध हुआ हो और दूसरा वह जो उसका अभीष्ट रहा हो, भले ही उसको लिपिवद्ध करने में लेखक से कोई प्रमाद हो गया हो। पाठालोचन उक्त पहले प्रकार के पाठ का निर्धारण करके उक्त दूसरे प्रकार के पाठ तक पहुँचने का भी प्रयास करता है।[1]

पाठालोचन या पाठसम्पादन की परिभाषा मुख्यतः दो दृष्टियों से की गयी—एक वैज्ञानिक दृष्टि एवं दूसरी साहित्यिक दृष्टि। इनमें पहली को पाश्चात्योन्मुख एवं दूसरी को भारतीय परम्परोन्मुख दृष्टि कह सकते हैं। कन्हैया सिंह ने पाठालोचन की वैज्ञानिक दृष्टि को दृष्टिगत कर कहा है कि "किसी रचना की सभी प्रतियों के परीक्षण एवं निश्चित वैज्ञानिक विधि के अनुगमन द्वारा उन प्रतियों के आधार पर रचयिता के अभीष्ट पाठ को प्राप्त करने की प्रक्रिया को ही 'पाठालोचन या पाठसम्पादन' कहते हैं।"[2] पाठशोध की वैज्ञानिक पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र ने कहा है कि "वैज्ञानिक पद्धति पाठशोध के सम्बन्ध में प्रायः सामान्य नियमों की जाँच और आँकड़े भर उपस्थित करती है। कहा यह अवश्य जाता है कि पाठशोधक अर्थ पर भी विचार करके पाठ निर्णय करे, किन्तु देखा यह जाता है कि परम्परा का बोध ठीक से न होने से यह पद्धति अनर्थक पाठों का प्रायः संचय कर लेती है।"[3]

---

१. हिन्दी-साहित्य कोश (भा० १)—संपा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४४६।

२, पाठसम्पादन के सिद्धान्त—कन्हैया सिंह, पृ० ५।

३. सम्भावना (शोधतंत्र विशेषांक)—संपा० रामेश्वर लाल खंडेलवाल।

उन्होंने वैज्ञानिक प्रक्रिया को केवल शब्द के ही आँकड़ों एवम् साँचों पर आधृत माना है। उन्होंने 'शब्दार्थौ सहितौ' को ध्यान में रखकर अर्थ पर ध्यान देना भी उतना ही आवश्यक कहा है जितना शब्द पर। उन्होंने इस प्रक्रिया पर दार्शनिक दृष्टि से भी विचार किया है। उनका मत है कि "कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से मानस का क्या, हिन्दी के किसी ग्रंथ का सम्पादन नहीं हो सकता। इसके लिए साहित्यिक सम्पादन की सरणि का परित्याग अहितकर है। वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है, साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूल ग्रंथ के लेखक से लेकर सम्पादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं। अतः चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता।"[1] कन्हैया सिंह ने उनके 'रामचरितमानस' के सम्पादन के प्रति निष्ठा तो अवश्य प्रकट की, पर वैज्ञानिक सम्पादन को अचेतन प्रक्रिया कहना भ्रम बताया। इनके इस भ्रम का निवारण मिश्र जी द्वारा की गई वैज्ञानिक और साहित्यिक पद्धति की व्याख्या से हो जाता है।

भारतीय साहित्य में आरम्भ से ही बुद्धिपक्ष से हृदय पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है, बुद्धि का सम्बन्ध विज्ञान से है और साहित्य का हृदय से। उनका कहना है कि "वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है। साहित्य शब्द और अर्थ का सम्पृक्त रूप होता हैं। अतः शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि ही प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन में उपयोगी हो सकती हैं। वैज्ञानिक सरणि के नियम का इतना ही सदु-पयोग या पालन हो सकता है कि सम्पादक किसी शब्द को हस्तलेखों में न मिलने पर अर्थ बल पर बदल न सके।"[2] इस पद्धति से सम्बद्ध वार्तालाप में उन्होंने यह स्वीकार किया कि ऐसी बात नहीं है कि वैज्ञानिक प्रक्रिया केवल शब्द पर ही ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया केवल अर्थ पर ही। इसी को दृष्टिगत कर उन्होंने वैज्ञानिक प्रक्रिया को शब्दोन्मुख और साहित्य-प्रक्रिया को अर्थोन्मुख कहना अधिक समीचीन बताया।

उनका मत है कि 'यदि कोई पाठ संकलन की विधि जान गया है तो बिना विशेष विद्या-बुद्धि के भी अच्छा काम कर सकता है। इसके विपरीत अधिक विद्या-बुद्धि वाला यदि उस विधि से परिचित नहीं है तो अच्छा काम नहीं कर सकता।'[3] उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना निर्णय दिया है कि "वैज्ञानिक सम्पादन मक्षिका स्थाने मक्षिका रख कर उसका 'विमर्श' करता है। यह 'विमर्श' चेतन प्रक्रिया है। मेरे विचार से 'विमर्श'

१,२. रामचरितमानस—आचार्य मिश्र, आत्मनिवेदन, पृ० २५-२६।

३. केशव-ग्रन्थावली (खण्ड ३)—सम्पा० आचार्य मिश्र, सम्पादकीय पृ० १८।

के लिए साहित्यिक परम्परा का ज्ञान विशेष अपेक्षित है। इसलिए वैज्ञानिक पद्धति विना साहित्यिक संस्पर्श के पूर्ण नहीं है।"[1]

मिश्र जी स्वयं सहृदय हैं और साहित्य में सहृदय को ही विशेष स्थान दिया गया है। जिस प्रकार आलोचना में पक्षपात या अहंकार की भावना आ जाती है तो आलोचक दोषपूर्ण निर्णय कर लेता है, उसी प्रकार पाठालोचन में जहाँ अहंकार की भावना आयी वहाँ पाठालोचन की साहित्यिक पद्धति दोषपूर्ण हो जाती है और पाठांतर की सम्भावना बढ़ जाती है। उनका कहना है कि यह कार्य तभी सफल हो सकता है, जब अहंकार का लोप हो। उन्होंने इसके लिए दोनों प्रणालियों के समन्वय को ही श्रेयस्कर माना है। किसी एक पर चलने से समुचित कार्य-सम्पादन सम्भव नहीं। इसके लिए पाठसम्पादक का सहृदय होना भी आवश्यक बताया है।[2]

वे साहित्य के क्षेत्र में अपने गुरु लाला भगवानदीन एवम् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ऋणी रहे हैं। हिन्दी में पाठसम्पादन की साहित्यिक प्रक्रिया पर अधिक बल देने का कारण इस प्रक्रिया का उनके गुरुओं द्वारा अपनाया जाना भी रहा है। उनका कहना है कि 'हिन्दी में प्राचीन ग्रंथों के सम्पादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवंगत प्राध्यापक लाला भगवानदीन, पं० रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास थे। इनके संपादित ग्रन्थों में कुछ ऐसी अच्छाइयाँ हैं, जो वैज्ञानिक सम्पादनों में नहीं रह गई हैं।'[3] जायसी-ग्रन्थावली का वैज्ञानिक शोध हुआ है, पर अर्थ की दृष्टि से आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित जायसी-ग्रन्थावली का पाठशोध उन्होंने उत्तम बताया। इसका कारण आचार्य शुक्ल का परम्परा से परिचित होना माना है। उनसे भी कहीं अधिक लाला भगवानदीन को परम्परा से अवगत कहा है। इसके स्पष्टीकरण में उन्होंने पद्मावत के पाठशोध का एक स्थल प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि "लालाजी ने पद्मावत का जो पूर्वार्द्ध सम्पादित करके हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित कराया था उसकी पहली ही अर्धाली में "कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू" में पाठशोध किया था। शुक्लजी के संस्करण में वह पहले 'कीन्हेसि तेहि परबत कैलासू' ही था। बाद में 'परबत' का 'पिरीत' हुआ। 'कैलासू' का 'कविलासू' वैज्ञानिक पाठशोधन करके उसी का विकास भर किया गया है। यदि 'पिरीत' न होता तो अब तक 'परबत' या पर्वत चलता होता। परम्परा बताती है कि 'कैलासू' स्वर्ग अर्थ में है 'पर्वत' अर्थ में नहीं।"[4] फिर भी उन्होंने कोरी साहित्यिक सरणि के अनुगमन

१,२. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—सम्पा० आचार्य मिश्र, सम्पादकीय, पृ० १८, १९।
३. रामचरितमानस—संपा० आचार्य मिश्र, आत्मनिवेदन, पृ० २६।
४. सम्भावना—संपा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, (शोध-तंत्र विशेषांक), पृ० २३९।

को ही श्रेयस्कर नहीं माना। दोनों सरणियों के तुल्यबल के संयोजन से ही सर्वोत्तम कार्य हो सकने की सम्भावना व्यक्त की है।[१] और इसी पद्धति पर 'रामचरितमानस' के काशिराज संस्करण का सम्पादन भी किया है।

पाठसम्पादन में अपने गुरुओं के प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है। पद्माकर पंचामृत के प्रवचन में उन्होंने लिखा है कि 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' की जो प्रति लाला भगवानदीन के पास थी, उसमें कई स्थानों पर कुछ पंक्तियाँ नहीं थीं, हमने उन पंक्तियों को ज्यों का त्यों रख दिया है।[२] उन्हीं के शब्दों में जगद्विनोद आदि ग्रन्थों में असावधानी से समझिए या छापने वालों के भ्रम से कहिए, कुछ शीर्षक छूट गए थे। पद्माकर की शैली के अनुरूप जोड़कर उसमें एकता लाने का प्रयत्न किया गया है।[३] इसी को दृष्टिगत कर विष्णुकान्त शास्त्री ने उनकी साहित्यिक पद्धति को पारिभाषिक शब्दों में सरल-पाठ परम्परावादी कहा है। इनका कहना है कि जिसमें कठिन अप्रचलित शब्दों का अर्थ न समझने के कारण या उसे व्याकरण, छन्द, पाठ को पूर्ण करने की सम्पादकीय सदाशयता के कारण सम्पादक परिवर्तन, परिवर्धन कर देता है।[४]

यह निश्चित है कि 'साहित्यिक' सम्पादन पद्धति में उदारता के कारण कुछ दोष आ जाता है, जिसे मिश्रजी ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि "साहित्यिक सरणि में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें कोई सूझ अपने ढंग की हो गई; कवि या कर्ता की पद्धति पर न हो सकी तो वह कुछ की कुछ हो जाएगी। 'गणेश' के स्थान पर 'बानर' हो जाएगा।"[५] इसके लिए वे कवि के अंतःकरण से तादात्म्य स्थापित करना आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक पद्धति की ओर भी न्यायसंगत ही रही है। इस पद्धति में अर्थ का विचार होता ही न हो, ऐसी उनकी धारणा नहीं है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का भी विचार है कि 'प्रत्येक सम्पादन-कार्य में अर्थ-विमर्श आवश्यक होता है।'[६] वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताओं को मिश्रजी ने भी स्वीकार किया है। उनका कथन है कि "उस मूल पाठ तक पहुँचने की एक पद्धति वैज्ञानिक कहलाती है। विभिन्न हस्तलेखों और जहाँ तक हो प्राचीनतम हस्तलेखों के संग्रह द्वारा पाठ संकलित करके और पाठों को छानकर निकालना परिश्रम-साध्य काम है। इसमें

---

१. रामचरितमानस—संपा० आचार्य मिश्र, आत्मनिवेदन, पृ० २६।
२, ३. पद्माकर पंचामृत—संपा० आचार्य मिश्र, प्रवचन, पृ० ३, ४।
४. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन-ग्रन्थ (संस्मरण संदर्भ), पृ० ५८।
५. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—संपा० आचार्य मिश्र, सम्पादकीय, पृ० १८।
६. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन-ग्रन्थ (संस्मरण-संदर्भ), पृ० ६०।

सन्देह नहीं कि इस पद्धति के द्वारा बहुत से प्राचीनतम पाठ प्राप्त हो जाते हैं। यदि हस्तलेखों को लिखने में भरपूर सावधानी हुई हो और संशोधन कम हुआ हो तो इस पद्धति से मूल या आदि पाठ तक पहुँचा जा सकता है।"[1]

वस्तुतः पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं है। यदि समान स्रोतों से दो पाठ प्राप्त होते हैं तो यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि दोनों पाठों में से सन्दर्भ के अनुकूल कौन अधिक संगत है। 'इन और ऐसी ही समस्याओं का सही समाधान सम्पादक की साहित्यिक विदग्धता ही कर सकती है।'[2] इसी प्रकार की उलझन 'मानस' के सम्पादन की एक पंक्ति में दिखाई देती है, जो डॉ० माताप्रसाद गुप्त और अन्य सभी सम्पादकों (एक पं० शम्भुनारायण चौबे को छोड़कर) द्वारा वह इस प्रकार स्वीकृत थी—

'चले मत्त गज घंट विराजी। मनहु सुभग सावन घन राजी॥'

'घंट विराजी' पाठ व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, पर अधिकांश प्राचीन हस्तलेखों से चयन की विवशता के कारण सम्पादकों को उसे स्वीकार करना पड़ा। 'काशिराज संस्करण' के समय मिश्र जी ने जितने हस्तलेखों का निरीक्षण-परीक्षण किया उनमें से दो हस्तलेखों में 'घंट' के स्थान पर 'घय' पाठ मिला। इस 'घय' को न समझने के कारण 'घंट' संशोधन किया गया। जो आज अधिक संस्करणों में गृहीत है। उनकी साहित्यिक अर्थानुसंधानकारिणी वृत्ति ने 'घय' पाठ को लिखावट की त्रुटि मानकर मूल पाठ 'घटा' ग्रहण किया। 'टा' लिखने में 'ट' की टाँग 'आकार' को पाई से जा मिली और 'घटा' के साथ दुर्घटना घटित हो गई और उसने घय का रूप ग्रहण कर लिया। 'घय' को अनर्थक समझकर 'घंट' बनाया गया। व्याकरण के घटाटोप पर भी किसी ने ध्यान न दिया। संस्कृत में गजघटा-घनघटा का युगपत् वर्णन अनेकत्र है। तुलसी ने उसी का अनुग्रहण किया है।[3] इस प्रकार उनकी साहित्यिक सरणि से सम्बद्ध दृष्टि इस पाठ को शुद्ध करने में पूर्णतः सफल रही।

आलोचना के अन्तर्गत पाठालोचन और साहित्यालोचन ये दो शब्द प्रचलित हैं, जिनके उद्देश्य, क्षेत्र, प्रक्रिया, परिणाम में तत्त्वतः अंतर है। पाठालोचक लेखक या कवि की कृति के मूलपाठ का निर्धारण करता है। साहित्यालोचक उस निर्धारित मूलपाठ के आधार पर लेखक या कवि का मूल्यांकन करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ पाठालोचन का कार्य समाप्त होता है वहाँ से साहित्यालोचक का कार्य आरम्भ

---

१. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—संपा० आचार्य मिश्र, संपादकीय, पृ० १८।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनन्दन ग्रन्थ, (संस्मरण-संदर्भ) पृ० ६०।
३. रामचरितमानस—संपा० आचार्य मिश्र, आत्मनिवेदन, पृ० २८।

होता है।[1] इस प्रकार दोनों के उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर है। पाठालोचन का क्षेत्र साहित्यालोचन के क्षेत्र से विस्तृत है, क्योंकि पाठालोचन में त्रुटियों से बचने के लिए लिपि, भाषा, लेखन-सामग्री के क्रमिक विकास का ज्ञान आवश्यक है, जबकि साहित्यालोचन में इतने विस्तृत ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है। पाठालोचक निर्धारित नियमों के आधार पर चलता है, पर साहित्यालोचन आलोचक के पांडित्य, ज्ञान एवम् सूझ-बूझ से चालित होता है। पाठालोचन में यदि कई व्यक्ति किसी पाठ पर प्रामाणिकता और सतर्कता से एक से नियमों का अनुगमन करें तो सभी प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगे। परन्तु साहित्यालोचकों का निष्कर्ष एक ही होगा यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह व्यक्तिसापेक्ष है। इस दृष्टि से यदि मिश्र जी को देखा जाय तो वे दोनों आलोचनाओं के प्रतिनिधि-आलोचक हैं। इसके प्रमाण हैं उनके द्वारा सम्पादित लगभग साठ से अधिक पुस्तकें और लगभग १२ से अधिक मौलिक आलोच्य कृतियाँ। उनके द्वारा सम्पादित लगभग सभी पुस्तकें आलोचनात्मक भूमिकाओं से पूर्ण हैं। केशव-ग्रंथावली (खण्ड—३),रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), भिखारीदास-ग्रंथावली (खण्ड—२) आदि उनकी सम्पादित पुस्तकों की भूमिकाओं में पाठालोचन की प्रवृत्ति और सिद्धान्त तथा भूषण, घनआनन्द-ग्रंथावली आदि की भूमिकाओं में साहित्यालोचन की उनको प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में मुद्रणों के आविष्कार ने आधुनिक रचनाओं के सम्पादन की समस्याओं को समाप्त कर दिया है। इस समय की मुद्रित प्रति सदियों तक अपने मूल रूप में सुरक्षित रहेगी। किन्तु प्राचीन युग की रचनाओं के उचित मूल्यांकन के लिए उनके मूल पाठ का निर्धारण आवश्यक है, क्योंकि ये ताम्रपत्रों, शिलालेखों, हस्तलिखित ग्रंथों आदि में अपने विकृत रूप में ही उपलब्ध होती हैं। साहित्य में पाठालोचन की प्रक्रिया पर बहुत दिनों तक ध्यान नहीं दिया गया, इसीसे कृतियों के पाठों की त्रुटियाँ या विकृतियाँ बढ़ती गयीं।

प्राचीन-हस्तलिखित प्रतियों या शिलालेखों के आधार पर ही पाठालोचन होता है। डॉ० एस० एम० कात्रे का कहना है कि पाठालोचन का वास्तविक कार्य तो शिलालेखों या पाठों के दुरुपयोग से उत्पन्न अथवा ऋतु प्रभाव, उत्केरक की भूल से पहुँचाई क्षति की प्रति पूर्ति करना है।""""भारतीय पाठालोचन का मुख्य कार्य हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपियों की उपलब्ध प्रतिलिपियों की आलोचना करना है।[2] प्राचीन समय में लेखकों की मूल प्रतियों की प्रतिलिपियाँ होती थीं, फिर उन प्रतिलिपियों की

---

१. पाठ-सम्पादन के सिद्धांत—कन्हैया सिंह, पु० १६।

२. भारतीय पाठालोचन की भूमिका—डॉ० कात्रे—अनु० डॉ० उदयनारायण तिवारी, पृ० २१।

प्रतिलिपियाँ होने लगीं। इससे मूल पाठ से उन प्रतिलिपियों में अशुद्धियाँ क्रमशः बढ़ने लगीं। ऐसी स्थिति में पाठालोचन के निर्धारित सिद्धांतों के आधार पर हमें उनके मूल पाठ प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। इस अशुद्धि के समाधान के लिए डॉ० विष्णु सीताराम सुकठणकर का कहना है कि किसी रचना के मूल पाठ के साथ से ऐसे अंशों के सम्बन्ध में जो सभी प्रतियों में नहीं प्राप्त होते हैं, विचार करने का एक ही तर्कपूर्ण ढंग है कि वे अंश शेष पाठ से सावधानतापूर्वक अलग कर लिए जाने चाहिए और उन पर एक-एक करके विचार करना चाहिए। ऐसे अंशों को मूलपाठ सिद्ध करने का दायित्व उस व्यक्ति पर होता है जो इन अंशों के मूल पाठ होने का दावा करता है। हस्तलिखित प्रतियों का साक्ष्य स्पष्टतः उसके विरुद्ध है फिर भी इतने मात्र से उनका प्रक्षिप्त होना प्रमाणित नहीं है। कारण यह है कि जुड़े हुए अंशों का अधिकांश प्रतियों में न प्राप्त होना ही इस तथ्य का प्रमाण नहीं है कि वे अंश प्रक्षिप्त नहीं हैं।[1] प्रतिलिपिकारों की सहज विकृतियों का निवारण करना तथा उसके प्रक्षेपों का निराकरण पाठालोचक करता है। डॉ० कात्रे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। उनका कहना है कि "पाठालोचन का मूल उद्देश्य किसी हस्तलिखित ग्रंथ या प्रलेख में उपलब्ध साक्ष्य का निर्वाचन एवं नियंत्रण करना है जिससे मूल प्राचीन ग्रंथ तक पहुँचा जा सके और पाठ की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके,....कौशलयुक्त एवम् वैज्ञानिक प्रणाली से, जहाँ तक सम्भव हो सके, किसी पाठ का उसके मूल स्वरूप के अनुरूप निर्धारण करने में मानव-बुद्धि का उपयोग करना ही पाठालोचन का मूल उद्देश्य है।"[2] पाठनिर्धारण के इसी कार्य को डॉ० कात्रे ने आलोचनात्मक संशोधन कहा है।[3] हमारे देश में पाठालोचन की अति आवश्यकता है। प्राचीन काल से ही भारत में विद्या के प्रति लोगों का अनुराग रहा है। वैज्ञानिक विधियों की अविकसित अवस्था उस समय की साहित्यिक राशि को वर्षों तक व्यवस्थित रखने में असफल रही। आज का वैज्ञानिक युग उस सम्पत्ति को एकत्र करने में बहुत सहायक हुआ।

---

1. There is only one rational way of dealing with these 'additional' Passages, They must be carefully Segregated from the rest of the Text, and examined individually. The on us of Proving the originality of These 'additional' Passages will naturally rest on him who alleges the originality. The documents speak naturally against them, but their evidence is not by any means conclusive—Critical studies in Mahabharat, V. S. Sukthankar, Memorial Edition Committee, Poona, 1944, P. 246.

२,३. भारतीय पाठालोचन की भूमिका, डॉ० कात्रे--अनु० डॉ० तिवारी, पृ० ३४, वही।

व्यावहारिक दृष्टि से पाठालोचन की प्रणाली को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पाठशोधन और (२) पाठसंस्कार। पाठशोधन से तात्पर्य है सबसे अधिक प्रामाणिक हस्तलिखित ग्रन्थ या उसमें उपलब्ध साक्ष्य का चुनाव करके उसके आधार पर किसी स्वलिखित ग्रन्थ का निर्माण करना।[1] इसमें उपलब्ध सभी प्रमाणों के आलोचनात्मक परीक्षण के पश्चात् ही उसी आधार पर पाठ का चुनाव करना सम्भव हो सकता है। पाठसंस्कार का कार्य पाठपरम्परा के समस्त अविश्वसनीय या अप्रामाणिक तत्त्वों को, जो उत्कृष्ट प्रलेखों या हस्तलिखित ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं, निकालना है। पाठसंस्कार में पाठपरम्पराओं की सीमाओं के परे जाना है और लिखित साक्ष्य को विवेकपूर्ण किन्तु प्रणालीवद्ध रीति से प्रत्यादिष्ट करना है।[2] पाठालोचन का कार्य आलेखों या सामग्री पर अवलम्बित होता है। जिन आधारों पर पाठालोचन हो, वे सभी उपादान सामग्री कहलाते हैं। इस दृष्टि से सामग्री के तीन भाग किए जाते हैं—मुख्य सामग्री, पोषक सामग्री और सहायक सामग्री।[3] मुख्य सामग्री वह है जिसमें प्रस्तुत रचना का पाठ सुरक्षित हो। यह सामग्री भोजपत्र, ताड़पत्र, पत्थर, कागज, कपड़ा आदि के रूप में प्राप्त हो सकती है। पोषक सामग्री नाम का भेद है, यह सहायक के अन्तर्गत ही ली गयी है। सहायक सामग्री पाठालोचक द्वारा मुख्य आधार न मान-कर पाठसम्पादन में सहायक मात्र होती है। यह रचना के उद्धरण, संकलन के रूप में होती है। ऐसी सामग्रियाँ टीकाओं, अनुवादों, संग्रहों, लक्षण ग्रन्थों के उद्धरणों, विवेचन ग्रन्थों, जन परम्परित आदि रूपों में उपलब्ध होती हैं।

मुख्य सामग्री को साधारणतया तीन भागों में विभाजित किया गया है—

१. स्वहस्तलेख (आटोग्राफ),
२. प्रथम प्रतिलिपि (इम्मीडिएट कापी आव् द आटोग्राफ),
३. प्रतिलिपि की प्रतिलिपि (कापी आव् द कापी)।

कर्ता के हाथ की लिखी हुई प्रति या उसके निर्देशन में लिखी गई प्रति को स्वहस्त-लेख कहते हैं। ऐसे स्वहस्तलेख बहुत कम पाए जाते हैं। ऐसी प्रति के प्राप्त हो जाने पर बहुत सी समस्याओं का समाधान हो जाता है और सम्पादक के लिए सम्पादन कार्य आसान हो जाता है। पर ऐसी प्रतियों के उपलब्धि पर आचार्य मिश्र ने शंका व्यक्त की है। उनका कहना है कि "प्राचीन काल में कवि अपनी स्वहस्तलिखित प्रति उस समय निष्पन्न समझ कर परित्यक्त कर देता था जब 'लिखक' उसे सुन्दर अक्षरों में

१,२. भारतीत पाठालोचन की भूमिका, डॉ० कात्रे—अनु० डॉ० तिवारी, पृ० ३४.
वही।
३. आचार्य विश्वनाथप्रगाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पाण्डेय, पृ० ६४

लिख देता था।''''उस समय के कवियों के हृदय में स्वामित्व (कापीराइट) की भावना नहीं थी। वे अपनी रचना के प्रचलित-प्रसरित होने मात्र से सन्तुष्ट हो जाते थे।[१]''

जो प्रतियाँ स्वहस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि होती हैं, वह प्रथम प्रतिलिपि के अन्तर्गत आती हैं। इन प्रतियों का आदर्श कर्ता की मूल प्रति ही होती है। ऐसी प्रतियाँ पाठालोचन में अत्यधिक सहायक होती हैं।

मूल प्रतियों की प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ इस तृतीय कोटि में आती हैं। ये प्रतिलिपियाँ सदैव हुआ करती थीं। उनकी परम्परा निरंतर चलती रहती थी। आज मूल प्रतिलिपियाँ उपलब्ध न होकर ऐसी ही प्रतिलिपियाँ उपलब्ध हैं। अस्तु जो विकृतियाँ लेखक की निश्चेष्टा, प्रदेश-भेद के परिणामस्वरूप, लेखन की शोधन-प्रक्रिया के फलस्वरूप, एक लिपि से दूसरी लिपि में उतारने से लेख्या या श्रवण भ्रमपूर्ण होने से, सम्प्रदाय भेद या रुचि के आग्रह के फलस्वरूप हो जाती हैं उनका निराकरणकर मूलपाठ तक पहुँचने के लिए पाठालोचक को पाठालोचन के नियमों का अनुगमन करते हुए वहुत सूझ-वूझ से कार्य करना पड़ता है।

पाठालोचक में समस्त प्राप्त प्रतियों, समकालीन प्रवन्धों, लेखों, इतिहास-ग्रन्थों, टीकाओं आदि के अध्ययन और अनुशीलन की क्षमता तो अनिवार्य है ही, साथ ही साथ भाषा एवं लिपि, छन्दशास्त्र एवं साहित्यशास्त्र, सन्-संवत्, लेखन-सामग्री, व्याकरण आदि का ज्ञान भी आवश्यक है। मत्स्यपुराण में पाठलेखक (लिपिक-लिखक) के ज्ञान एवं गुण के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक मिलता है जो यहाँ उद्धृत है—

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै॥
शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् समश्रेणिगतान् समान्।
अक्षरान् वै लिखेद् यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः॥
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः।
वह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्याद् मृगत्तम॥[२]

पाठलेखक को वहुज्ञानकुशल होना चाहिए। इसी वहुज्ञता से उसको मूलपाठों के निर्धारण में सफलता मिलती है। इन तथ्यों के औचित्य को सिद्ध करने हेतु इसपर विस्तार से विचार किया जाएगा।

---

१. भिखारीदास (खं० २)—सं० आचार्य मिश्र (सम्पादन-शैली), पृ० ७।
२. देखिए, पाठसम्पादन के सिद्धान्त—कन्हैया सिंह, पृ० १०–११।

प्रतिलिपि परम्परा में पाठविकृतियों का रूप क्रमशः बढ़ता जाता है जिससे पाठालोचन की समस्या खड़ी हो जाती है। ये पाठप्रमाद तो कई कारणों से उत्पन्न होते हैं, पर उन्हें 'देश-भेद' और 'काल-भेद' विशेषरूप से प्रभावित करते हैं। जिस प्रदेश में प्रतिलिपियाँ होती हैं वहाँ की स्थानीय भाषा एवं लिपि का प्रभाव मूल कृति पर अवश्य पड़ता है। विभिन्न लिपियों में कृति का रूपान्तर भी होने लगता है। इसीलिए पाठ-संपादक को भाषा एवं लिपि का बहुज्ञ होना आवश्यक है। जिन-जिन भाषाओं में उस कृति की प्रतिलिपि होती है उन भाषाओं का ज्ञान भी आवश्यक है, जिनका प्रभाव प्रतिलिपि वाली भाषा पर पड़ता है। तभी उनकी विकृतियों का निवारण सम्भव होगा। रचयिता से सम्बद्ध स्थान एवं समय की भाषा के साथ लिपि का भी ज्ञान उसके लिए अपेक्षित है। सम्पाद्य कृति के रचनाकाल की भाषा का आरम्भ से लेकर अन्त तक की सभी अवस्थाओं का ज्ञान आवश्यक है। बीसलदेव रासो में आये 'मूंगफली' (सभा संस्करण, सर्ग ३ छन्द ७), 'गाज' आदि शब्दों के आधार पर आचार्य मिश्र ने उसे सोलहवीं शताब्दी की रचना स्वीकारा है।[1] उनसे पहले ही भाषा के आधार पर अगरचन्द नाहटा ने भी उसकी भाषा को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा माना है।[2] लिपि की अज्ञानता के कारण पाठ में आयी विकृतियों का एक सुन्दर उदाहरण मिश्र जी ने दिया है—"कैथी लिपि के कारण मानस की निम्नलिखित अर्धाली के दो पाठ हो गए—

'तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धन्धक धोरी॥'

प्राचीन पाठ 'धीग धरमध्वज धन्ध्रक धोरी' है। 'धीग' को कैसे 'धिग' पढ़ लिया गया यह कैथी लिपि बता देगी। उस लिपि में 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' दोनों के लिए दीर्घ 'ईकार' की मात्रा का ही प्रयोग होता है। अतः वहाँ 'धीग' को 'धीग'-'धिग' दोनों पढ़ सकते हैं। जिसने 'धीग' को 'धिग' पढ़ा उसने मानस के नियम के विरुद्ध 'धर्मध्वज' को भी पढ़ा। मानस में संस्कृत के दो शब्दों के समस्त होने पर 'संयुक्ताद्यं दीर्घम्' का नियम हिन्दी पाठ में नहीं है। 'धंध्रक' शब्द के 'र' को अनावश्यक समझ 'धंधक' कर दिया गया।[3] रामचरितमानस (काशिराज संस्करण) के आत्मनिवेदन में उन्होंने लिपिभेद से पाठभेद के अनेक उदाहरण दिये हैं—"कैथी और नागरी की प्रतियों का लेखन-शैली में भिन्नता होने के कारण विवदमान रूपों के अतिरिक्त दोनों वर्तनियों की एकवाक्यता मान ली गई है। कैथी मे दंत 'स' को 'श' लिखते हैं। उसमें दीर्घ और

१,२. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र पृ० ७३, वही।
३. रामचरितमानस—संपा० आचार्य मिश्र, (आत्मनिवेदन), पृ० २६।

ह्रस्व इकार की मात्रा के लिए दीर्घ का ही प्रयोग करते हैं। 'माया' को 'माआ', 'लज्जा' को 'लज्या' आदि लिखने का चलन है। 'य' के लिए 'ऐ' होता है—

इ, ई = ई	उ, ऊ = ऊ
ए, ऐ = ऐ	ि, ी = ी
य = ऐ, अ	ु, = ू
या = आ[1]	

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश-काल एवं कला-भेद से उत्पन्न होने वाली पाठ-विकृतियों को समझने एवं उसके निराकरण हेतु उस ग्रन्थ से संबद्ध देश एवं काल सम्बन्धी भाषाओं एवं लिपियों का बहुविध ज्ञान पाठालोचक को होना अनिवार्य है।

किसी भी काव्य-ग्रन्थ का सम्पादन करते समय पाठालोचक को छन्दशास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक होता है। छन्दशास्त्र के नियमों का ज्ञाता पाठालोचक सही छन्दों को ग्रहण करने में सक्षम हो सकता है। रचना, काल और रचयिता के वैयक्तिक प्रयोगों के प्रतिकूल जो छन्द हों वे अस्वीकार्य होते हैं। इसके लिए पाठालोचक को उसके वैयक्तिक प्रयोगों से विज्ञ होना चाहिए। मिश्र जी ने अपनी 'केशव-ग्रन्थावली' में छन्द के विषय में जो लिखा है वह विचारणीय है।[2] उनका कहना है कि 'छन्दों की गति और पाठ-रूप में अन्तर होने पर भी छन्दों की गति के अनुसार रूप स्वीकृत किया गया है। हस्तलेखों में छन्द कोई है, पर नाम उसका दूसरा ही अंकित है, ऐसी स्थिति में छन्द का विचार विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है। जो पाठ छन्द का अनुयायी है वही ठीक है।'[3]

छन्द के ज्ञान के साथ ही साहित्यशास्त्र का ज्ञान भी अनिवार्य है। इसमें विशेष रूप से उस धारा और काल-विशेष की शास्त्रीय जानकारी अनिवार्य है जिस धारा और काल का ग्रन्थ सम्पादक सम्पादित करने का इच्छुक हो। रीतिकाल की काव्य प्रवृत्ति के विशेषज्ञ मिश्र जी द्वारा संपादित ग्रन्थों में आधे से अधिक रीतिकालीन हैं या उनसे प्रभावित हैं। भक्तिकाल की सगुण धारा पर भी इनका इसी प्रकार अधिकार है। साहित्यशास्त्र की अनभिज्ञता से उत्पन्न कठिनाई से मूल पाठ की उपलब्धि संकट में पड़ सकती है। उन्होंने ऐसे स्थलों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया है। दुलही ग्राम (लखीमपुर खीरी) निवासी पं० गंगाधर शर्मा की प्रति (लिपि०—१६७२) 'सुन्दरकाण्ड' के आदि में आई मारुति वंदना में 'हेमशैल' और 'रघुपतिप्रियभक्तं' से सम्बद्ध उनका शास्त्रीय विचार दर्शनीय है—'इसमें दुलही का पाठ दो अंशों में अकेला है एक 'हेमशैल' और

---

१. रामचरितमानस—सम्पा० आचार्य मिश्र, (आत्मनिवेदन), पृ० २३।
२. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—संपा० आचार्य मिश्र, पृ० २४।
३. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—संपा० आचार्य मिश्र, पृ० २४।

दूसरे 'रघुपतिप्रियभक्तं'। दोनों अंशों के पाठ अन्यत्र सर्वत्र क्रमशः 'स्वर्णशैल' और 'रघुपतिवरदूत' हैं। 'हेमशैल' को 'स्वर्णशैल' कर देने से 'स श' के अनुप्रास का चमत्कार बढ़ता है। 'रघुपतिप्रियभक्तं' में 'संयुक्ताद्यं दीर्घम्' की नीति से 'रघुपतिप्रियभक्तं' पढ़ना पड़ेगा। 'दुलही के स्वामी ने पहली भेंट में स्वतः बताया कि इस प्रति में स्वयं तुलसीदास ने अन्यों के सुझाव पर परवर्ती संशोधन किया था, ऐसी पूर्वजों की परम्परागत अनुश्रुति हैं। पर 'रघुपतिप्रियभक्तं' में 'संयुक्ताद्यं दीर्घम्' की वैकल्पिक स्थिति छंदोमंजरी की साखी पर मानी जा सकती है—

'प्रह्ले वा'[१] इति पुनः पिंगलमुनेर्विकल्पविधायकं सूत्रम्।

उदाहृणं यथा कुमारे

रा मंगलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतप्रत्युद्गमनीयवस्त्रा।
निर्वत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे॥

इस प्रकार छन्दःशास्त्र इसे दोषमुक्त कर देता है।[१]

पाठसंपादन में प्रतियों और उनके प्रतिलिपिकाल का ज्ञान प्रायः अनिवार्य होता है। इसी प्रकार रचना के निर्माणकाल का ज्ञान भी आवश्यक होता है ताकि उस ग्रंथ के सम्पादन के लिए आवश्यक उस काल सम्बन्धी अन्य सामग्रियों का उपयोग भी किया जा सके। प्राचीन काल की प्रतियों का प्रतिलिपि काल प्रायः उनकी पुष्पिका में दिया रहता हैं, जिससे उसके काल के निर्धारण की समस्या सुलझाई जाती है। फिर भी समस्या बनी रहती है, क्योंकि भारतवर्ष में अनेक प्रकार के सन्-संवतों का प्रचलन था। कभी-कभी उसके रचनाकाल का संकेत पाठ में मिलता है। कोई प्रतिलिपिकार उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए सन्-संवत् को पीछे लिख देता है। ऐसी अवस्था में पाठालोचकों को यहाँ अब तक के प्रचलित सभी सन्-संवतों के साथ ही ज्योतिष, गणित और नक्षत्र-गणना का ज्ञान भी आवश्यक है, क्योंकि नक्षत्र आदि से भी अंक, दिन, समय आदि के संकेत मिलते हैं।

पाठनिर्धारण के लिए लेखन-सामग्री का ज्ञान भी आवश्यक होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रतियों की समय-सम्बन्धी सूचना आदि या अन्त में होती है। प्रतियों की विकृतियों से सबसे अधिक आदि और अन्त के पन्ने ही प्रभावित होते हैं, जिससे प्रतिलिपिकाल का ज्ञान नहीं होता। लेखन-सामग्री में कागज ताड़पत्र, भोजपत्र, लेखनी और स्याही आदि आते हैं। इनके सम्बन्ध में पाठालोचक को यह ज्ञान आवश्यक है कि किस काल और प्रदेश में किस लेखन-सामग्री का प्रयोग होता था। इस प्रकार लेखन

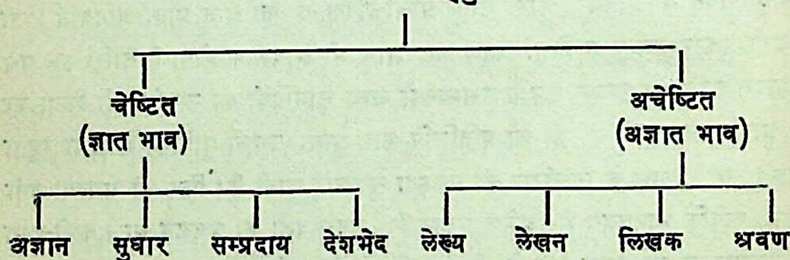
---

१. रामचरितमानस—संपा० आचार्य मिश्र, (आत्मनिवेदन), पृ० १९।

सामग्रियों के आधार पर कृति के रचनाकाल एवम् कभी-कभी रचना-स्थल का वास्तविक अनुमान लगाया जा सकता है।

पाठसम्पादन का मूल हेतु पाठ विकृतियों का निराकरण है। इसलिए पाठ विकृतियों के कारणों पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। पाठ की अशुद्धियाँ प्रतिलिपिकारों द्वारा बढ़ती हैं। उनमें जिन गुणों को अपेक्षित बताया गया है उनके अभाव में उनसे की गई भूलों को पाठ-विज्ञान के अन्तर्गत पाठ-विकृतियाँ कहते हैं। कन्हैया सिंह का कहना है कि 'किसी भी रचना के लेखक द्वारा प्रस्तुत मूलपाठ के प्रतिलिपिकारों द्वारा सचेष्ट अथवा निश्चेष्ट परिवर्तन, मूल, वृद्धि अथवा कमी करने की प्रवृत्ति या पाठ-विकृति की प्रक्रिया तथा उसका परिणाम पाठ-विकृति के नाम से जाना जाता है।'[1] मिश्र जी ने अनुलिपि करने में 'नेत्र' और 'कर'—दो इन्द्रियों को प्रधान माना है। कभी-कभी श्रवणेन्द्रिय की भी सहायता लेनी पड़ती है। कतिपय पाठान्तर जाने-अनजाने भी हो जाते हैं। इन्होंने अधिकांश पाठ को प्रमादजन्य बताते हुए पाठान्तर की रूपरेखा संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की है—

पाठान्तर-हेतु[2]



पाठ-विकृतियों के हेतुओं एवम् दिशाओं का ज्ञान एवम् इनके निवारण की क्षमता ही 'पाठ-सम्पादक' का प्रमुख कौशल है।[3] पाठ-सम्पादन की प्रक्रिया का प्रथम सोपान है 'पाठ-प्रमादों का ज्ञान एवं उससे सम्बद्ध सामग्री का संग्रह', दूसरा सोपान है 'पाठ-चयन', तीसरा है 'पाठ-सुधार' एवं इसके पश्चात् पाठक के सहायतार्थ सम्पादन सम्बन्धी स्वीकृत मानदण्डों का पूर्णरूप से उल्लेख करना।

सम्पादन शैली की प्रक्रिया की दृष्टि से साहित्यिकसरणि और वैज्ञानिकसरणि—ये दो भेद किये गये हैं। मिश्र जी ने इनके अन्तर को स्पष्ट किया है जिसका उल्लेख इसी अध्याय में पीछे किया जा चुका है। उनका 'वैज्ञानिक सम्पादन' से सैद्धांतिक मतभेद

---

१. पाठसम्पादन के सिद्धान्त—कन्हैया सिंह, पृ० ४१।

२. रामचरितमानस—संपा०आचार्य मिश्र, (आत्म विवेदन), पृ० २०।

३. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पांडेय, पृ० ६९।

अवश्य हैं, पर व्यावहारिक दृष्टि से उनकी इन मान्यताओं का वैज्ञानिक सम्पादन से कोई वैमत्य नहीं। कन्हैया सिंह ने वैज्ञानिक सम्पादन को शास्त्रीय पद्धति के रूप में ग्रहण किय: है। उन्होंने हिन्दी पाठ-सम्पादन के इतिहास को आरम्भ से लेकर वर्तमान तक को पाँच कालों में विभक्त किया है[1]——

१——मुद्रण पूर्व काल.....(सन् १८०० ई० के पूर्व)।
२——प्रारम्भिक मुद्रण काल.....(सन् १८०० ई० से १८८८ ई०)।
३——ग्रियर्सन काल.....(सन् १८८८ ई० १९१० ई०)।
४——ग्रियसनोत्तर काल.....(सन् १९१० ई० से १९४१ ई०)।
५——वर्तमान काल.....(सन् १९४२ के पश्चात्)।

पाठ-संपादन के वर्तमान युग में हिन्दी में डॉ० माताप्रसाद गुप्त और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अग्रणी माने जाते हैं। सम्पादन की वैज्ञानिक विधि का आरम्भ सन् १९४२ में डॉ० माताप्रसाद गुप्त के एक लेख द्वारा माना जाता है, जो 'हिन्दी अनुशीलन' (अंक ३, वर्ष ९) में प्रकाशित हुआ था।[2] लाला भगवानदीन 'दीन', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा स्थापित पाठ-संपादन की साहित्यिक सरणि को मिश्र जी ने अपनाया, पर व्यावहारिक दृष्टि से वैज्ञानिक सरणि से भी अछूते नहीं रहे। इस प्रकार उनकी संपादन शैली को समन्वयवादी सरणि कहा जा सकता है। वे मूल पाठ को प्राप्त करने के लिए 'शब्द' और 'अर्थ' पर तुल्यबल देते हैं। उनकी इस दृष्टि की पुष्टि क्रमशः उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में होती गयी है जो 'रामचरितमानस' (काशिराज संस्करण) में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो गयी है। 'भूषण-ग्रन्थावली' से लेकर 'रामचरितमानस' के काशिराज संस्करण तक की लम्बी यात्रा जो आज भी गतिशील है——इस क्षेत्र में इनके निरंतर विकास की सूचिका है।

उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों से ही हिन्दी-साहित्य का वह मध्यकालीन वाङ्मय सर्वसुलभ हो गया, जो अब तक अंधकार में था। इसके पूर्व तो केवल साहित्य के इतिहास के पन्नों में इन ग्रन्थों का विवरण अल्प रूप में मिलता था। अपने संपादित ग्रन्थों के आरम्भ में उन्होंने विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाएँ भी दी हैं। हस्तलेखों के चित्र (फोटो) और कठिन शब्दों या वाक्यों को स्पष्ट करने वाली टिप्पणियों से उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थ और उजागर हुए हैं। उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थतीन प्रकार के हैं——इनमें अधिकांश ऐसे हैं जिनका संग्रह, पाठशोधन, टिप्पणी एवं सम्पादन का काम उन्होंने स्वयं किया है, कुछ ग्रंथ ऐसे हैं। जिनका संकलन तो किसी और ने किया है

१, २. पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त——कन्हैया सिंह, पृ० २२३, २३२।

किन्तु सम्पादन उन्होंने ही किया है, और कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सम्पादन अन्य लोगों के सहयोग से किया है। प्राचीन ग्रन्थों के संपादन के साथ ही आधुनिक युग में निर्मित कृतियों का संपादन भी उन्होंने किया है। यहाँ उनके कुछ विशिष्ट संपादनों पर विचार किया गया है। केशव ग्रंथावली (तीन खण्डों में), घनआनन्द-ग्रंथावली (दो खण्डों में), भूषण-ग्रन्थावली, सुदामाचरित, पद्माकर पंचामृत, पद्माकर ग्रन्थावली, रसखानि, रामचरितमानस (काशिराज संस्करण) आदि उनके महत्त्वपूर्ण सम्पादन हैं।

'केशव-ग्रन्थावली' के सम्पादन के समय जितने हस्तलेखों एवं टीकाओं का पता चला उन्होंने उन सभी को प्राप्त कर उनका आधार लिया जिससे अर्थ एवं पाठ दोनों में सहायता मिली। फिर भी उसके पाठ की अपूर्णता को उन्होंने स्वीकार किया है। उस ग्रन्थ का सम्पादन हो जाने के अनन्तर कुछ ऐसी सामग्री का पता चला है जिसका विनियोग करने से कदाचित् और निखार हो जाए।[१] इस ग्रन्थावली का सम्पादन उन्होंने तीन खण्डों में किया है। प्रथम खण्ड में केशवदास की दो रचनाएँ 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया', द्वितीय खण्ड में तीन रचनाएँ 'रामचन्द्रिका', 'छंदमाला', 'शिखनख' तथा तृतीय खण्ड में 'रतनवावनी', 'वीरचरित्र', 'जहाँगीर-जस-चन्द्रिका' और 'विज्ञान-गीता' हैं। इन ग्रन्थों की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिका पर विशेष ध्यान दिया गया है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में उन्होंने वैज्ञानिक तथा साहित्यिक विधि के समन्वयात्मक रूप का प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में 'वैज्ञानिक प्रक्रिया' 'शब्द' पर अधिक ध्यान देती है साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है। साहित्य शब्द और अर्थ का संपृक्त रूप होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों पर समान दृष्टि ही उपयोगी हो सकती है।[२] इसलिए दोनों प्रणालियों का समन्वय ही श्रेयस्कर है किसी एक पर चलने से समुचित कार्य-सम्पादन नहीं हो सकता। प्रस्तुत ग्रंथावली के सम्पादन में इसी समंजसता से काम लिया गया है। शब्द के लिए प्राचीन प्रतियों का अधिकांश में विश्वास किया गया है, पर 'अर्थ' की संगति का भी ध्यान रखा गया है।[३] उनकी दृष्टि में साहित्यिक प्रक्रिया में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो वैज्ञानिक पद्धति में नहीं हैं।[४] इस ग्रन्थावली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी के प्राचीन सम्पादकों से प्रतिकूल इसमें प्रतियों का पूर्ण साक्ष्य ग्रहण किया गया है।[५]

---

१. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—सम्पा० आचार्य मिश्र, संपादकीय, पृ० १८।
२. रामचरितमानस—सम्पा० आचार्य मिश्र, (आत्मनिवेदन), पृ० २६।
३. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३,) सम्पा० आचार्य मिश्र, सम्पादकीय पृ० १९।
४. रामचरितमानस—सम्पा० आचार्य मिश्र, (आत्मनिवेदन), पृ० २६।
५. पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त—कन्हैया सिंह, पृ० १३१।

उन्होंने इस ग्रन्थ में चन्द्रविन्दु (ँ) से लेकर वर्तनी तक के विविध रूपों के प्रयोग, प्रमाण एवं पद्धति पर विस्तृत रूप से विचार किया है। पाठचयन में उन्होंने छंद की गति, भाषा की शुद्धि एवं प्रयोग की व्यापकता पर ध्यान दिया है। पर रूप वही ग्रहण किये गये हैं जो प्रतियों में प्राप्त होते हैं। छन्दों की गति और पाठरूपों में अन्तर होने पर छन्दों की गति के अनुसार रूप स्वीकृत किया गया है। हस्तलेखों में छन्द कोई है पर उसका नाम दूसरा ही अंकित है। ऐसी स्थिति में छन्द का विचार विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ। जो पाठ छन्द का अनुयायी है वही ठीक है।[1]

उन्होंने भाषा एवं ध्वनि पर भी विचार किया है। हिन्दी के हस्तलेखों में बहुत से अक्षर ऐसे हैं जिनका उच्चारण स्थिति के अनुसार दो तरह से होता है। कहाँ कौन सा उच्चारण व्यवहार में लाया जाये—यह एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। उन्होंने संकेतों द्वारा इस स्थिति को स्पष्ट किया है, जैसे कवर्गी 'ख' के लिए सर्वत्र 'ष' का व्यवहार है। इसका उच्चारण 'ख' ही होता है। इसका दूसरा उच्चारण दन्त 'स' भी होता है। जहाँ 'ख' के लिए 'ष' है वहाँ उन्होंने उसका 'ख' उच्चारण प्रकट करने के लिए 'ष' के नीचे विन्दी लगा दी है। इसी प्रकार 'ड' और 'ढ' के नीचे बिन्दी लगाकर दोनों के उच्चारण की भिन्न स्थिति स्पष्ट की है।

वैज्ञानिक विधि के अनुसार उन्होंने हस्तलेखों का भी अनुगमन किया है। केशवदास संस्कृत के पण्डित थे। उन्होंने संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग किया है, पर हिन्दी की पुरानी भाषा में 'ण' नहीं मिलता। इसलिए मिश्र जी ने वैज्ञानिक बिधि से 'ण' के स्थान पर 'न' और 'श' के स्थान पर 'स' पाठ ग्रहण किया है। यही स्थिति 'ज्ञ' की भी है, यह इस रूप के साथ 'गइ' या 'ग्यं' या 'ग्यँ' रूप में मिलता है। इन सबका उच्चारण 'ग्यँ' ही होता है पर उन्होंने एकरूपता लाने का प्रयत्न नहीं किया, हस्तलेखों में जहाँ जैसा है वहाँ वैसा ही रखने का प्रयत्न किया है। हस्तलेखों में अनुनासिकता की स्थिति कहीं ऊपर विन्दी लगाकर और कहीं चन्द्रविन्दु से प्रकट की गयी है, पर उन्होंने चन्द्रबिन्दु को ही ठीक समझ कर उसका उपयोग किया है। प्रस्तुत ग्रन्थावली में आरोपित अनुनासिकता से प्रायः बचने का प्रयास किया गया है। कभी-कभी अधिक प्रचलन से कुछ रूप स्वीकृत किये गये हैं, जैसे—दीन्ही, दीन्हों आदि रूप। अभी मुद्रण-व्यवस्था के अभाव और भाषा के सरलीकरण की आधुनिक दृष्टि के कारण चन्द्रबिन्दु के स्थान पर बिन्दु से ही काम चलाया जाने लगा है, पर उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों से उसे हटाया जाना उचित नहीं माना, क्योंकि उसका व्यवहार कहीं-कहीं न करने से छन्द अशुद्ध हो जाता है, जैसे कहीं 'सिँगार' रूप स्वीकृत किया है तो कहीं 'सिंगार'। 'सिंगार'

---

१. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३)—सम्पा० आचार्य मिश्र (सम्पादकीय), पृ० २४।

रूप स्वीकृत करने से छन्द ही दोषपूर्ण हो जायेगा। अपभ्रंश के प्रभाव से अकारान्त पुंलिग प्रथमा, द्वितीया में उकार का प्रयोग होने लगा था। केशवदास के ग्रन्थों में जहाँ यह प्रवृत्ति सभी हस्तलेखों में थी वहाँ उन्होंने उसे ज्यों का त्यों ग्रहण किया अन्यत्र नहीं।

उन्होंने बारह वर्ष के अटूट परिश्रम से घनआनन्द की कृतियों का सम्पादन किया। आनन्द, आनन्दघन और घनआनन्द को भिन्न-भिन्न होने का प्रमाण सहित विवेचन करते हुए, उनकी कृतियों का उल्लेख एवं सम्पादन किया है। घनआनन्द-ग्रन्थावली में उन्होंने विविध हस्तलेखों के आधार पर कवि के ३९ ग्रन्थों का बहुत कठिन परिश्रम से पाठान्तरों और टिप्पणियों सहित सम्पादन किया है। इसके 'शब्द रूपों' में वहीं तक एकरूपता लाई गई है जहाँ तक ग्रन्थ के 'वैज्ञानिक' सम्पादन का महत्त्व बना रहे और साहित्यिकता भी खण्डित न हो।[1] शब्दों के भाषावैज्ञानिक रूपों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी की जीवितावस्था में व्यक्त इच्छा की पूर्ति के लिए सम्पादित 'भिखारीदास-ग्रन्थावली' का स्थान उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने भिखारीदास की कृतियों का मूलपाठ तो प्रस्तुत किया ही है साथ ही सम्पादन-सामग्री एवं सम्पादन शैली का विस्तृत विवेचन किया है। भिखारीदास के ग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न प्रतियों का अवलोकन किया है। पाठ-विकृतियों और पाठान्तर पर विचार करते हुए उन्होंने इसका कारण पर्याप्त हस्तलिखित प्रतियों का न मिलना माना है। कर्ता की स्वलिखित प्रतियों के न मिलने के कारण अनुकृति हो जाने पर फेंक देना तथा स्वामित्व की भावना का अभाव बताया है। कृतिकार की कृति का सम्मान राजा-महाराजा द्वारा उसके जीवनकाल तक ही सम्भव था। अन्यथा उसके अनन्तर उसका कोई स्वामित्व नहीं रह जाता था। प्रदेशभेद से भाषा एवं लिपियों में त्रुटि, लिखक के प्रमाद से विकृति, संस्कारवश व्यक्तिगत ज्ञान-सीमा आदि से स्खलन को भी पाठांतर का कारण बताया है। कवि द्वारा उन्होंने पाठांतर का प्रमाण भी प्रस्तुत किया है। कवि अपने एक ही छन्द को विभिन्न नरेशों की प्रशस्ति में प्रयुक्त करता था तो उसमें पाठभेद हो जाता था। केशवदास जी का एक ही छन्द रसिकप्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रचन्द्रिका, वीरचरित्र, विज्ञानगीता और जहाँगीरजसचन्द्रिका में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए या वर्णनों में पाठभेद से प्रयुक्त है।[2] यही स्थिति देव और पद्माकर की रचनाओं में भी है। लिखित प्रमाणों के अभाव में हस्तलेखों के आधार पर उसके पाठ का रूप होना चाहिए। इसीलिए उन्होंने

---

१. घनआनन्द-ग्रन्थावली—सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २।

२. भिखारीदास-ग्रन्थावली (खं० २)—सम्पा० आचार्य मिश्र, (सं० शै०), पृ० ९।

'केशव-ग्रन्थावली' और 'भिखारीदास-ग्रन्थावली' के सम्पादन में हस्तलेखों की परम्परा पर ही ध्यान दिया है। किसी छन्द के पाठभेद को एक जैसा करने का प्रयास नहीं किया।[१]

उन्होंने अपनी सम्पादन-शैली में यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पहले शोधन-सम्पादन में अर्थ की दृष्टि प्रधान रहती थी और वैज्ञानिक शोध में शब्द की दृष्टि प्रधान है।[२] उन्होंने मानस की एक अर्धाली को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया है—'केहि न सुसंग बड़प्पन पावा।' यह चौपाई संप्रति इसी रूप में प्रचलित है, पर पुराने हस्तलेखों में इसका रूप मिलता है—'केहि न सुसंग बड़त्तन पावा।' जिन हस्तलेखों में 'बड़त्तन' मिलता है वे तुलसीदास के निकट प्रचलित थीं। बड़प्पन बाद में चला, उसी अर्थ में और पाठ का रूप बदल गया। यहाँ अर्थांतर नहीं है रूपान्तर अवश्य है।[३] इसी प्रकार उन्होंने और उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। प्राचीन पाठों के वैज्ञानिक अनुसंधान से भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और परम्परा प्रवाह को जानने में अच्छी सहायता मिलती है। इस दृष्टि से भी वैज्ञानिक पद्धति लाभप्रद और ग्रहणीय है। पर इसे उन्होंने पूर्णतः दोषमुक्त नहीं माना।

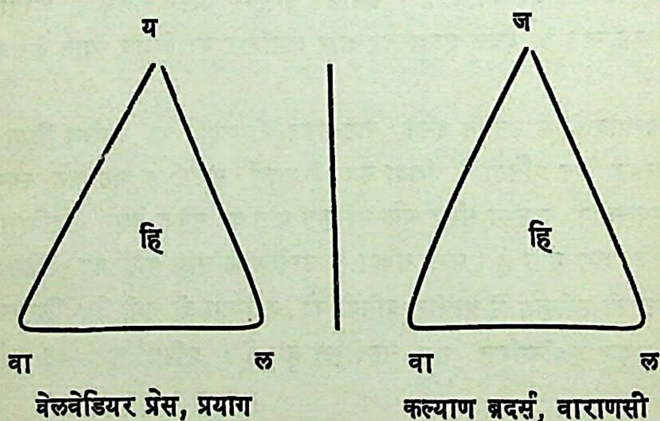
उन्होंने हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन कार्य को आरम्भिक चरण माना है। इसकी तुलना संस्कृत के सम्पादित ग्रन्थों से की है। सुकठणकर द्वारा संस्कृत में किये गये कार्य आज भी हिन्दी में किये गये प्रयासों से श्रेष्ठ हैं। संस्कृत-हस्तलेखों से भिन्न हिन्दी के हस्तलेखों की कई अपनी समस्याएँ भी हैं। संस्कृत वर्णवृत्तों के स्थान पर हिन्दी में मात्रावृत्तों का प्रचलन अधिक है। अस्तु, संस्कृत जैसी ग्राफ-पद्धति हिन्दी में उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकती। पाठ-संकलन में वर्तनी का संकलन करने पर पाठान्तर ग्रन्थ से भी अधिक बढ़ जाता है। इसलिए उन्होंने पाठ-संकलन में वर्तनी के कारण होने वाले रूपान्तर के बदले शब्दान्तर और अर्थान्तर पर विशेष ध्यान देने का आग्रह किया है।[४]

इस ग्रन्थावली में उन्होंने इसके पाठ-संग्रह की पद्धति का उल्लेख किया है। इसके पाठों का संग्रह जिन प्रतियों से किया गया है उनमें संशोधित पाठ कम स्थानों पर हैं, फिर भी यथास्थान उसका संग्रह मूल स्वीकृत पाठ का संकेत देकर तद्भिन्न पाठ पाद-टिप्पणी में दे दिया गया है। छन्द संख्या के उल्लेख के साथ पाठों का संकेत किया गया है। मूलपाठ की स्वीकृत में प्राचीन प्रतियों को वरीयता दी गयी है। लिखक के प्रमाद-जन्य स्थल एवम् अर्थानुसंगत पाठ अस्वीकृत हुए हैं। प्रतियों का पाठ प्रसंगानुकूल न

१-४. भिखारीदास-ग्रन्थावली (खं० २)—संपा० आचार्य मिश्र, (सं० शै०), पृ० १०, ११, १२, वही।

होने पर कल्पित पाठ भी रखा गया है, परन्तु सभी प्रतियों के पाठ को स्वरूप भेद और प्रतियों के नाम-सहित कोष्ठक में दिया गया है। जैसे 'रससारांश' के आरम्भ में ही छठे छन्द में 'स्वादवेत्ता' के स्थान पर सभी प्रतियों में 'स्वादवेदता' ही मिलता है। उन्होंने यहाँ 'स्वादवेत्ता' पाठ ही स्वीकार किया है। उनका कहना है कि यहाँ 'वेदता' शब्द संज्ञा है, होना चाहिए विशेषण। आगे के 'रसिकजन' में सप्तमी नहीं लगी है। इसलिए 'स्वादवेत्ता' ही प्रतियों में 'स्वादवेदता' हो गया होगा, 'स्वादवेत्ता' लिखा गया 'स्वादवेतता' फिर 'स्वादवेदता।[१]' 'छन्दार्णव' की द्वितीय तरंग के प्रथम छन्द में दीर्घ स्वरों का उल्लेख करते हुए ई, ऊ, आ, ए के स्थान पर आ, ई, ऊ, ए पाठ उन्हें उचित लगा। छन्दों के लक्षणों का उल्लेख सांकेतिक रूप में होने से इसके सम्पादन में बहुत परिश्रम करना पड़ा है। उन्होंने गुरु, लघु की सांकेतिक एवं उसके विभिन्न नामों का उल्लेख कर भिखारीदास के 'छन्दार्णव' में किये गये छन्द-सम्बन्धी विचार को सुस्पष्ट एवं सरल बना दिया है।

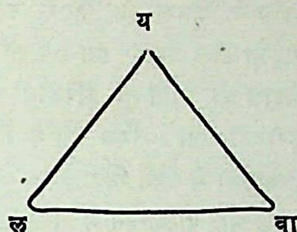
उनके कठिन परिश्रम एवं पांडित्य का परिचय इस ग्रन्थावली के सम्पादन में मिलता है। इसमें संकलित ग्रन्थ 'काव्यनिर्णय' के २१ वें उल्लास के ३२ वें छन्द का स्पष्ट और ठीक अर्थ उनसे पूर्व किसी सम्पादक या टीकाकार ने नहीं लगाया। इस छन्द के अर्थ का निर्देश स्वयं भिखारीदास ने अगले दोहे में दिया है। इसमें उन्होंने त्रिभुज खींच कर 'यलवा' लिखकर अर्थ लगाने को कहा है। उनके सम्पादन से पूर्व वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग (सन् १९२६ ई०) और कल्याण ब्रदर्स, वाराणसी (सन् १९५६) से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ। 'भिखारीदास' ने 'खचि त्रिकोन यलवाहि लिखि' का निर्देश दिया। इन दोनों में निम्नलिखित रूप से त्रिभुज बनाकर 'यलवाहि' को लिखकर अर्थ स्पष्ट किया गया है।



वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग | कल्याण ब्रदर्स, वाराणसी

१. भिखारीदास-ग्रन्थावली (खं० २)—संपा० आचार्य मिश्र, (सं० शै०), पृ० १४।

मिश्र जी ने इसमें पूछे गये १५ प्रश्नों का उत्तर 'यलवा' लिखकर ही दिया है। उनका मत है कि भिखारीदास ने केवल तीन अक्षरों का ही त्रिकोण माना है, अर्थात् उन्होंने 'यलवाहिं' शब्द से 'हिं' को अलग कर दिया[1]—



चित्र में 'व ब' का अभेद है और 'च ज' का भी। 'य' अक्षर से उत्तर क्रमशः य, यवा (जवा), यल (जल), यवाल (जवाल), यलवा (जलवा), में पाँच हुए। 'ल' अक्षर से इसी प्रकार ल, लय, लवा, लयवा (लइवा = लेवा), लवाय (लय + आय)। वा अक्षर से वा (वां), वाल (वाल) वाय (वाज), (वालइ = वाले), वायल (वातल = वायुकारक)।[2] इन्हीं के आधार पर उन्होंने प्रश्नों और उत्तरों को मिलाया है।

प्राचीन हस्तलिपियों में सूक्ष्म अन्तर के कारण पाठशोध में अनेक विकृतियाँ आ जाती हैं। उन्होंने ऐसी त्रुटियों पर ध्यान देते हुए प्राचीन हस्तलेखों में व्यवहृत 'ष' के दोनों उच्चारणों अर्थात् 'ख' 'स' को यथास्थान ग्रहण किया है। इसी प्रकार 'व' और 'ब' में कहीं 'ब' के लिए 'व' लिख जाता है, ऐसी स्थिति में यथास्थान उसमें भिन्न-भिन्न रूपों को ही ग्रहण किया है। द्वित्व के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि जहाँ द्वित्व होता था वहाँ लिखने की एक विधि यह भी थी कि पूर्वगामी वर्ण पर उदात्त का चिह्न (खड़ी पाई) लगाते थे। अच्छ को लिखते थे अेछ।[3] कहीं-कहीं उदात्त का रूप अनुस्वार में भी बदला मिलता है—संस्कृत 'खड्ग' से 'खग्ग' हुआ और फिर इसका 'खंग' रूप भी मिलता है। रासो में पाये जाने वाले वर्णों के द्वित्व रूपों से उसके अर्थ लगाने में कभी-कभी कठिनाई भी होती है जिसे उन्होंने उदात्त चिह्नों द्वारा सहज कर देना श्रेयस्कर बताया है, पर स्वयं इस ग्रन्थावली में द्वित्व-लेखन-प्रणाली, जहाँ तक हो सका है, ज्यों की त्यों स्वीकार की है।

हिन्दी में प्रयुक्त अनुनासिक वर्णों के उच्चारण में संस्कृत में प्रयुक्त उक्त उच्चारण में अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने हिन्दी स्वर को अनुनासिक से रंजित बताया—जैसे

---

१. भिखारीदास-ग्रन्थावली (खं० २)—सं० आचार्य मिश्र, (सं० शे०), पृ० १७।
२,३. भिखारीदास-ग्रन्थावली (खण्ड २)—आचार्य मिश्र, (सं०-शै०) पृ० १७, १९।

मान-मांन, माँ, मैं आदि । प्राचीन हस्तलेखों में आये 'ड' 'ढ' की स्थिति का स्पष्टीकरण पहले ही केशव-ग्रन्थावली के प्रसंग में कर दिया गया है । अवध में रहकर भिखारीदास ने ब्रजभाषा का प्रयोग करना चाहा । जैसे शुक्ल जी ने 'घोड़ा' का ब्रजी रूप 'घोड़ों' बताया, उसी प्रकार भिखारीदास ने 'हियरा' का 'हियरो' रूप ग्रहण किया । मिश्र जी ने इसका आकारान्त रूप 'हियरा' ही ठीक माना, इस रूप को आचार्य शुक्ल ने पहले ही स्वीकार किया था । भिखारीदास की भाँति ही 'हरिऔध' भी अवध में रहकर ब्रजी के अनतुरूप 'रसकलस' में हियरो ही रखा । मिश्र जी ने भिखारीदास द्वारा स्वीकृत ओकारान्त रूप को ही इस ग्रन्थावली में रहने दिया है ।

अर्थ के अज्ञान के कारण भी पाठशोधन में विकृतियाँ आ सकती हैं जिससे पाठान्तर की सम्भावना रहती हैं । श्रृंगार निर्णय २६२ वें पद्य में 'मकलिका' शब्द आया है । वस्तुतः 'मकरिका' के 'रलयोरभेदः' से 'मकलिका' रूप बना है । 'मकलिका' को न समझकर 'भारत जीवन प्रेस' वाले संस्करण में 'कलिकासु' पाठ कर दिया गया है । वस्तुतः 'मकरिका' एक प्रकार की श्रृंगारी रचना का नाम है । इसी प्रकार मिश्र जी ने 'असावरी' का प्रयोग तीन अर्थों में देखा, लेकिन वहाँ उदाहरण सहित उसका अर्थ 'वस्त्र' लगाया ।

काव्य निर्णय के पाँचवें उल्लास में श्रृंगार के अपरांग-वर्णन में आये निम्नलिखित दोहे के अनेक पाठ मिलते हैं—

चन्द्रमुखिन के कुचन पर जिनको सदा बिहार ।
अहह करै ताही करन चरबन फेरवदार ॥[1]

'चरबन फेरवदार' का 'भारत जीवन प्रेस' वाले प्राप्ति में 'चरबन फैरवरदार' और और वेलवेडियर प्रेस वाली प्रति में 'चिरियन फैरबदार' रूप मिलता है । प्रस्तुत छन्द के अन्य दोनों पाठों को उन्होंने असंगत बताया है और उसके अर्थ को भी स्पष्ट किया है तथा उसमें आये रसों की स्थिति भी स्पष्ट की हैं ।

पाठानुसन्धान के लिए आधुनिक वर्ग-प्रणाली (ग्राफ-पद्धति) का प्रचलन वैज्ञानिक तथा समीक्षात्मक पाठशोध के नाम से पश्चिम की देन के रूप में भारत में स्वीकार किया जा रहा है । उसी समतुल्य वर्ग-पद्धति पर रामचरितमानस का पाठशोधन काशी-राज श्री ईश्वरीनारायण सिंह के तत्वाधान में आरम्भ किया गया था । पाठानुसंधान का प्रवर्तन काल पश्चिमी देशों में विक्रमी क २० वीं शताब्दी के पूर्व नहीं हो पाया । सवत् २०१० वि० की विजयादशी को काशिराज महाराज श्री विभूतिनारायण सिंह ने इसे पूर्ण करने का कार्य आचार्य मिश्र को सौंपा । इनके इस सम्पादन में साहित्यिक

---

१. भिखारीदास-ग्रन्थावली (खण्ड २)—सं० आचार्य मिश्र, सं० शै० पृ० ३२ ।

एवं वैज्ञानिक पद्धति के तुल्यबल का विनियोग है।[1] यह सम्पादित ग्रन्थ हिन्दी जगत् के लिए एक अभूतपूर्व देन है।

आचार्य मिश्र द्वारा सम्पादित 'मानस' से पूर्व इसके पाठ का सम्पादन मुख्यतः चार प्रकार से किया गया था—(१) सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए किसी एक प्रति का पाठ लेकर अधिक से अधिक लिखावट की भूलों का मार्जन करते हुए, (२) किन्हीं विशेष काण्डों के लिए किन्हीं विशेष पाठ और शेष के लिए किसी अन्य प्रति या सम्पादित संस्करण का पाठ लेते हुए, (३) सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए एक से अधिक प्रतियों के सम्पादित संस्करणों का पाठ लेकर, जहाँ जिस पाठ का ग्रहण ठीक है वहाँ उसको ग्रहण करते हुए, और (४) सम्पूर्ण सामग्री का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन-विश्लेषण करते हुए। पहले प्रकार के सम्पादन कोदवराम, वन्दन पाठक आदि ने किये, दूसरे प्रकार का विजयानन्द त्रिपाठी और वाजपेयी ने, तीसरे प्रकार का भगवत्दास खत्री ने और चौथे प्रकार का डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने। कहना न होगा कि इनमें से किसी भी प्रकार का पाठसम्पादन पूर्ण नहीं रहा।[2]

'मानस' के मूलपाठ के सम्पादन में काशिराज संस्करण को जितनी सफलता मिली है उतनी अब तक के किसी भी संस्करण को नहीं। इससे पूर्व डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित मानस को अत्यधिक प्रामाणिक माना गया था। आधुनिक युग के पाठालोचकों में डॉ० गुप्त को सर्वश्रेष्ठ सम्पादक मानने वाले कन्हैया सिंह ने भी यह स्वीकार किया है कि 'रामचरितमानस' के पाठ को आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने डॉ० गुप्त के पाठ से एक डग और आगे बढ़ाया है, इसमें सन्देह नहीं।[3]

डॉ० माताप्रसाद गुप्त की प्रति वैज्ञानिक विधि से सम्पादित है। पर मिश्र जी कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया को मानस के लिए ही नहीं, बल्कि हिन्दी के किसी भी ग्रन्थ के सम्पादन के लिए अनुपयोगी मानते हैं। इसके लिए साहित्यिक प्रक्रिया का त्याग अहित-कर बताते हैं। डॉ० गुप्त के वैज्ञानिक विधि से सम्पादित पाठ के परिप्रेक्ष्य में मानस के काशिराज संस्करण को देखने से तथ्यों का और स्पष्टीकरण हो जायेगा—

चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहु सुभग सावन घनराजी॥

—बालकण्ड, ३००।२

---

१. रामचरितमानस सं०—आचार्य मिश्र (आत्म निवेदन), पृ० २६।

२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व—वी० रामकृष्ण रेड्डी, पृ० २३५।

३. पाठ-सम्पादन के सिद्धांत—कन्हैया सिंह, पृ० २१८।

मिश्र जी ने 'घंट' के स्थान पर 'घटा' पाठ रखा। 'घंट' पुल्लिग है, 'विराजी' स्त्रीलिंग क्रिया है जो असंगत है। अयोध्या वाली प्रति में 'घय' पाठान्तर है। वस्तुतः यह 'घय' मूल रूप से 'घटा' है जिसमें 'टा' का आकार 'ट' से मिल गया है जो 'घय' रूप में ग्रहण कर लिया गया है।

इसी प्रकार का पाठ डॉ० गुप्त के सुन्दर काण्ड १०।४।५ में भी मिलता है—

चन्द्रहास हरु मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं।
सीतल निसि तव असिवर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा॥

काशिराज संस्करण में यह पाठ इस प्रकार है—

चन्द्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं।
सीतल निसित बहसि बर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा।[1]

उन्होंने यह पाठ १७०४ की कोदोराम[2] की प्रति के साक्ष्य एवं प्रसन्नराघव के श्लोक के आधार पर स्वीकृत किया है। प्रसन्नराघव में श्लोक आया है—

चन्द्रहास हर मे परितापं। रामचन्द्र विरहानलजातं॥
त्वं हि कांतिजित मौक्तिकचूर्णं। धारया वहसि शीतलमम्भः॥ प्रसन्नराघव।[3]

प्रसन्नराघव से प्रेरणा लेकर ही तुलसीदास ने रामचरितमानस की इन अर्धालियों का निर्माण किया। इसी प्रकार मिश्र जी ने अनेक स्थलों पर पाठ शुद्ध किये हैं। इसी प्रकार 'वायस' के स्थान पर प्राचीन हस्तलेखों में 'पायस' शब्द मिलता है। उन्होंने 'पायस' पाठ को ही ग्रहण किया है। क्योंकि 'कागा' और 'वायस' दोनों पर्यायवाची शब्दों की एक साथ कोई आवश्यकता नहीं। 'पायस' (खीर) सभी दृष्टि से उपयुक्त पाठ है। 'पायस' और 'पलिअहिं' में 'प' का अनुप्रास भी है। शब्द काव्य-सौंदर्य में चमत्कार की दृष्टि से भी उचित है।

'पायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा।[4]

लिपि के अज्ञान के कारण भी पाठान्तर हो जाता है। कैथी लिपि के मानस की निम्नलिखित अर्धाली के दो पाठ हो गये जिसका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है—

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धंधक धोरी॥

---

१. रामचरितमानस—सं० आचार्य मिश्र, पृ० ३१३।
२. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पाण्डेय, पृ० ७६।
३. पाठ-सम्पादन के सिद्धांत—कन्हैया सिंह, पृ० २१५।
४. रामचरितमानस—सं० आचार्य मिश्र, पृ० ४१।

'धिग' और 'धंवक' के पाठ-भेद पर इसी अध्याय में पहले विचार किया जा चुका है।

अन्य भाषाओं के अज्ञान के कारण भी पाठ-भेद हो जाता है। तुलसीदास ने संस्कृत के शब्द भी प्रयुक्त किये हैं जिनको ठीक से न समझने के कारण परिवर्तन किया गया है। पार्वती सप्तर्षियों से कहती हैं—

देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिय सदासिवहि भरतारा॥

'शिव' का एक नाम 'सदाशिव' भी है। जो मानस में अन्यत्र प्रयुक्त है—

'बिनती सुनहुँ सदासिव मोरी।'

'सदा' शिव से पृथक् होकर 'भरतार' से सम्बद्ध हो गया। अतः अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिए पाठभेद करके व्यत्यय कर दिया गया और नया पाठ हो गया—

'चाहिअ सिवहि सदा भरतारा।'

पूर्ण वैज्ञानिक सम्पादन से यही पाठ ठीक माना गया है।[1]

मिश्र जी ने छन्द की दृष्टि से भी विचार किया है। कलियुग वर्णन में एक चरण का अर्थ न बैठने से उसे छन्दोविरुद्ध रखा गया है—

'बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्हि रही बिरती॥'

गीता प्रेस और मानस पीयूष में 'रही' के बदले 'न रहि' पाठ लिया गया है। इससे छन्दोभंग है। छन्द 'तोटक' है जिसमें चार 'सगण' होते हैं। इनमें 'रही' का अर्थ 'रह गई' लगाया है, जबकि 'थी' ठीक है। जो 'विरति थी' उसे 'विषय' ने हर लिया।[2]

उन्होंने संस्कृत-रूपों को सर्वत्र बनाए रखने में भी छन्दोबाधा का अनुभव किया है। 'मार्गन' के स्थान पर 'मारगन'[3] और 'कार्मुक' के स्थान पर 'कारमुक'[4] रखने से पाठ के प्रवाह के साथ मात्रा भी पूरी होती है।

'मानस' के सम्पादन के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये जाते हैं जिनका समाधान उन्होंने किया है। पहला प्रश्न है कि तुलसीदास का स्वाक्षर में लिखित हस्तलेख क्या हुआ? उन्होंने इसे स्पष्ट किया—सुलेख लिखने वाले व्यवसायी कर्ता द्वारा लिखित पाण्डुलिपि की अपेक्षा से वह लुप्त हो गया। जो हिन्दी के किसी भी प्राचीन कृति के लिए सत्य है। दूसरा प्रश्न है कि तुलसीदास ने मानस लिखने के अनंतर उसमें अनेक (छह वार) संशोधन किये। उनके जीवन के दीर्घ अन्तराल में संशोधन की सम्भा-

---

१. रामचरितमानस—सं० आचार्य मिश्र, (आत्मनिवेदन), पृ० २८।
२. वही, आत्मनिवेदन, पृ० २८।
३. वही, षष्ठसोपान, ९१।
४. वही, षष्ठ सोपान, ९३।५।

वना है पर छः बार संशोधन की बात अतर्क्य हैं, क्योंकि सिद्ध कवियों की वाणी में इतनी बार संशोधन का अवकाश नहीं।[१] उन्होंने संशोधन की सम्भावना वाले दो स्थलों का उल्लेख किया है।

'मानस' के सम्पादन के सैद्धान्तिक मानदण्ड के निर्देश के साथ ही उन्होंने इसमें अपनाये गये संकेतों का भी निर्देश किया है। जिन स्थलों पर कुछ छूट जाने की सम्भावना है उन स्थलों पर छूटे हुए अंश को रखकर बड़े कोष्ठक [ ] से घेर दिया गया है और परिशिष्ट में उन प्रतियों का उल्लेख किया गया है जिनमें 'बढ़ोत्तरी' पाठ है। यह 'बढ़ोत्तरी' विशिष्ट प्रतियों वाली ही स्वीकार की गयी है, साधारण की नहीं। संक्षेपार्थ हस्तलेखों के नाम-संकेत के अक्षरों की पद्धति स्वीकार की गयी। संकेत में प्रायः आदि या अन्त के दो अक्षर अपनाये गये हैं। परिश्रम की दृष्टि से संकेत में प्राथमिकता दी गयी है। परिशिष्ट की आधारभूत प्रतियों के 'सक्षिप्त पाठभेद' के अतिरिक्त वढ़ोतरी, अभावसूचक सारणी और प्रक्षेपों का संकलन है। मूल के स्रोतों का समावेश फिर भी नहीं किया जा सका। पाठान्तर में हस्तलेख का रूप यथासाध्य ज्यों का त्यों व्यक्त किया गया है। पर कैथी और नागरी की प्रतियों की लेखन-शैली में अन्तर होने के कारण विवदमान रूपों का पृथक् उल्लेख किया गया है—जैसे ह्रस्व इकार के लिए भी दीर्घ का प्रयोग, य के लिए ऐ का प्रयोग आदि।[२] इसके साथ ही उन्होंने उच्चारणों का संकेत और रामचरितमानस के भाषान्तर का भी परिशिष्ट में उल्लेख किया है।

उन्होंने हिन्दी के पाठ-संग्रह की समस्याओं पर सोदाहरण विस्तृत विचार किया है और पाठान्तर के हेतुओं का भी उल्लेख किया है। प्राचीन ग्रन्थों की विभिन्न सम्पादन-शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। हस्तलेखों में व्यवहृत लिपियों और चिह्नों का भी ऐतिहासिक विवेचन किया है। संसार भर में प्राप्त मानस के ज्ञात हस्तलेखों की सूचना और आधारभेद से हस्तलेखों की शाखा-प्रशाखा का निरूपण भी किया है। अनिश्चित, अनिर्णीत एवं असंतोषप्रद स्थितियों का निराकरण किया है। सम्पादन में महत्त्वपूर्ण देवनागरी के हस्तलेखों के अतिरिक्त निर्धारित सीमा के कैथी के विशिष्ट हस्तलेखों का सर्वप्रथम विनियोग किया है। सं० १७८० वि० तक के ज्ञात और प्राप्त हस्तलेखों के आधार पर मानस के मूलपाठ का आधुनिक वैज्ञानिक सरणि पर निर्धारण किया गया है। तुलसीदास के प्रत्यक्ष शिष्य रामू द्विवेदीकृत मानस की संस्कृत टीका 'प्रेमरामायण' का सर्वप्रथम उपयोग किया गया है। प्राचीन हस्तलेखों

१. रामचरितमानस—आत्मनिवेदन, पृ० १८।
२. वही, आत्मनिवेदन, पृ० ५४।

के संशोधन के पूर्व के उपेक्षित पाठों के आधार पर पाठ-समस्या का विमर्श और रहस्य का उद्घाटन किया गया है। उन्होंने पाठभेद की सरल एवं सुबोध पद्धति अपनायी है। पाठ में संकलित सभी महत्त्वपूर्ण पाठभेदों का उद्धरण प्रस्तुत किया है। उनके सैद्धान्तिक विचारों का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वर्तमान युग में हिन्दी साहित्य के विकास पर बल देते हुए अतीत के ग्रन्थों की खोज और ग्रन्थ के मूलपाठ की समस्या पर भी उन्होंने विशेष बल दिया है। पाठशोध की इस विधा ने हिन्दी साहित्य में पर्याप्त महत्त्व प्राप्त किया और यह समृद्ध भी हुई है। इस विधा को समृद्ध और सम्पन्न वनाने वालों में मिश्र जी अग्रगण्य हैं। वर्तमान युग की हिन्दी साहित्य की सभी विधाएँ पाश्चात्य साहित्य जगत् से प्रभावित मानी जाती हैं। ऐसी ही हीन भावना पाठालोचन के सम्वन्ध में भी मिलती है जबकि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि पाश्चात्य साहित्य जगत् से पूर्व ही हमारे यहाँ यह कार्य आरम्भ हो गया था। उन्होंने पाश्चात्य सम्पादन-शैली का अनुकरण नहीं किया अपितु उसे औचित्य की सीमा तक ही स्वीकार किया। उनके पाठसम्पादन के मूल में साहित्यिक पद्धति है जो मूलतः भारतीय है। पाश्चात्य वैज्ञानिक सरणि को उन्होंने पूर्णतः अमान्य नहीं किया, उसके गुणों को ग्रहण भी किया है। उनकी सम्पादन-पद्धति को समन्वयवादी पद्धति कह सकते हैं। इसके विनियोग को उन्होंने स्वीकार भी किया है।

टीका-कार्य के विविध रूप

साहित्य में अधिकांश ऐसे शब्द, प्रसंग आदि होते हैं जो अत्यधिक क्लिष्ट एवम् गूढ़ रहते हैं, जिनका ज्ञान सहज सम्भव नहीं। घटना, चरित्र एवं तथ्यों की व्यंजना वहुत ही पाण्डित्यपूर्ण एवम् चमत्कारिक ढंग से की जाती है। इनका ज्ञान केवल विद्वानों एवम् रसज्ञों को ही हो सकता है। सामान्य जन के हित के लिए साहित्य के रसज्ञ पण्डित अर्थ की विभिन्न पद्धतियों द्वारा इसे बोधगम्य वनाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में अर्थप्रकाशन की परम्परा का उद्भव वेदों के आविर्भाव के थोड़े समय पश्चात् ही हो गया और यह परम्परा आज तक अपने विविध रूपों में पल्लवित-पुष्पित होती रही है। वेद से लेकर आज तक अर्थ-प्रकाशन की दो पद्धतियाँ मिलती हैं—एक अर्थ-प्रकाशन की परोक्ष-पद्धति और दूसरी प्रत्यक्ष-पद्धति।

अर्थप्रकाशन की परोक्ष-पद्धति में भी दो प्रकार की शैलियाँ हैं—एक स्वतन्त्र-पद्धति और दूसरी चित्र-पद्धति। इनमें पहली प्रणाली प्रधानतः वैदिक साहित्य में मिलती है। दूसरी प्रणाली का प्राचीन रूप मन्दिरों, गुफाओं (एलोरा, अजन्ता आदि), राज-प्रासादों एवम् उत्कीर्ण कथा-गाथाओं में मिल जाता है। हिन्दी साहित्य में भी

जायसी कृत पद्मावत, रामचरितमानस सचित्र, बिहारी के दोहों आदि में मिलती है। यह प्रणाली केवल साहित्य के मूल भाव या अभिप्राय ही कहती है।

अर्थप्रकाशन की प्रत्यक्ष-प्रणाली पदों एवं भावों दोनों का अर्थ प्रत्यक्षरूप से व्यक्त करती है। इसके भी दो भेद हैं—एक मौखिक और दूसरी लिखित। मौखिक प्रणाली का प्रयोग पुराण वाचक व्यासों के यहाँ मिलता है। इसीसे इसे व्यास प्रणाली भी कहा जाता है।[1] यह विशुद्ध अर्थप्रणाली है। "प्रायः सभी शास्त्रों के विकास का यह क्रम रहा है कि पहले उसका स्वरूप स्वल्प और संक्षिप्त रहता है—अनन्तर उन पर भाष्य, व्याख्या, वार्त्तिक, विवृति, टीका, टिप्पणी, कारिका आदि द्वारा विवेचन होता रहता है और नवीन शाखा-प्रशाखाओं द्वारा उनका विस्तार होता रहता है। नदियों का प्रवाह जिस प्रकार उद्गमस्थल में अति स्वल्प रहता है किन्तु उनके समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते उसका विशाल विस्तार हो जाता है। वस्तुतः यही स्थिति शास्त्र की भी है।"[2] आलोचना के ये विविध प्राचीन भेद हैं। इनमें टीका का नाम विशेष रूप से अब प्रचलित है।

टीका-पद्धति का उद्भव एवम् विकास भारतीय वाङ्मय में ही हुआ है। वैदिक एवम् संस्कृत साहित्य में टीका-वाङ्मय अपनी विविधता एवम् विलक्षणता के कारण समादृत है। संस्कृत का टीका साहित्य श्रेष्ठ विचारकों, प्रकाण्ड-पण्डितों एवम् दिव्य प्रतिभाओं की देन है। पतंजलि, कात्यायन, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव-गुप्त, पण्डितराज जगन्नाथ आदि इसी प्रकार की विभूतियाँ हैं, जिन्होंने संस्कृतसाहित्य-शास्त्र को बोधगम्य एवम् विशाल बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। लिखित टीका-पद्धति के ग्रन्थों में अष्टाध्यायी पर हुए कात्यायन के 'वार्त्तिक'[3] (ई० पू० ४ थी शताब्दी) को प्राचीनतम माना जा सकता है। दर्शन-ग्रन्थों[4] एवम् स्वतन्त्र वैदिक टीकाकारों[5] की उपलब्ध प्राचीनतम टीकाएँ उसके पश्चात् की ही मानी जाती हैं। संस्कृत के टीका साहित्य का समग्र रूप ई० पू० ४ थी श० से प्रारम्भ होकर निर्विघ्न गति से १८ वीं शती तक चलता रहा।

संस्कृत साहित्य के मध्यकाल (७०० ई० से १५०० ई०) में यह पद्धति महत्त्वपूर्ण साहित्यधारा के रूप में अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हुई। टीकाओं की इतनी अधिक प्रधानता को देखकर डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे ने इस काल को टीका-युग[6] कहा, जिसे टीका-

---

१. रामचरितमानस का टीका साहित्य—डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, पृ० ३१।

२. काव्य-मीमांसा, राजशेखर, अनुवादक—केदारनाथ शर्मा सारस्वत, अध्याय परिचय—पृ० २६।

३-६. रामचरितमानस का टीका साहित्य—डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, पृ० ३४, वही, वही, पृ० ३५।

परम्परा का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। वार्त्तिककार कात्यायन, महाभाष्यकार पतंजलि, नागार्जुन, वात्स्यायन, कुमारिल भट्ट ऐसे मेधावी टीकाकार टीका-पद्धति के आरम्भिक काल (७०० ई० तक) की दिव्य विभूतियाँ हैं।

भारतीय अलंकारशास्त्र के इतिहास को आचार्य बलदेव उपाध्याय ने साधारण रूप से चार भागों में विभक्त किया है[1]—

(१) प्रारम्भिक काल (भामह से पहले),
(२) रचनात्मक काल (भामह से आनन्दवर्धन तक—६५० ई० से ८५० ई० तक),
(३) निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट तक—८५० ई० से १०५० ई० तक),
(४) व्याख्या काल (मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक—१०५० ई० से १७५० ई० तक) ।

रचनात्मक काल में उद्भट, वामन, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन आदि टीकाकार हुए। निर्णयात्मक काल में अभिनवगुप्त, प्रतिहारेन्दुराज आदि टीकाकार और कुन्तक जैसे कारिकाकार, वृत्तिकार, हुए। व्याख्या काल का तो नामकरण ही टीकाकारों की अधिकता के कारण ऐसा किया गया है। इस काल में मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र. अरिसिंह, अमरचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि व्याख्याकार हुए। इस टीका-परम्परा के पोषक एवम् समर्थक शंकराचार्य, रामानुज, श्रीधर स्वामी, वाचस्पति मिश्र एवम् मल्लिनाथ जैसे टीकाकार हुए। यह परम्परा आधुनिककाल (१६०० ई० के पश्चात्) में पूर्वकालों की भाँति समृद्ध नहीं रही। फिर भी इसमें नन्द पण्डित, स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे कतिपय उच्चकोटि के टीकाकार हुए।

'टीका' की भाष्य, व्याख्या, टिप्पणी, वृत्ति, वार्तिक, कारिका आदि विधाएँ हैं। सामान्य रूप से सभी को एक ही नाम 'टीका' से सम्बोधित किया जाता है, पर आन्तरिक रूप में ये सभी सूक्ष्म भेदोपभेदों से युक्त हैं। यहाँ भी 'टीका' शब्द सामान्य एवम् व्यापक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ। साथ ही अन्य विधाओं से भेद दिखाने के लिए सभी विधाओं की भाँति इसको भी अलग विधा के रूप में व्याख्यायित किया गया है। व्याख्या की उन विधाओं का ही आचार्यों के मतों द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है जिनका प्रयोग आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने किया है।

आलोचना के विविध प्राचीन भेदों—सूत्र, कारिका, वृत्ति, भाष्य, वार्त्तिक आदि की भाँति 'टीका' भी एक विधा है। अमर कोष के टीकाकार ने 'टीका' के सम्बन्ध में लिखा है—टीक्यतेऽर्थो यया। टीकृ गतौ। (भ्वादिगण आत्मने सेट्) 'गुरोश्च हलः

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र (प्र० भा०)—आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० १३२।

(३।३।१०३) इत्यः विषमपदव्याख्या।[1] इसी टिप्पणी के अन्तर्गत आचार्य हेमचन्द्र का टीका संबन्धी मत इस प्रकार है—

हेमस्तु टीका निरन्तरपदव्याख्या इति मूलं सुगमानां विषयाणां च निरंतर व्याख्या यस्यां सा इत्येवंरीत्या व्याख्यातवान्।[2]

अर्थात् पद के अर्थ का जिसके द्वारा सम्यक् बोध हो, वह टीका है। इसमें क्लिष्ट पदों की व्याख्या रहती है। हेमचन्द्र ने 'मूल' के सरल एवम् क्लिष्ट सभी पदों की निरंतर व्याख्या जिसमें की गयी हो उसे 'टीका' कहा है।

नगेन्द्रनाथ वसु कृत विश्वकोश में भी अमरकोष की उपर्युक्त परिभाषा का ही समर्थन प्राप्त होता है—

'टीक्यते, गम्यते, बुद्ध्यते, वानया टीकाधार्थे क टाप् च।

व्याख्याग्रन्थ, किसी वाक्य या पद का अर्थ स्पष्ट करने वाला वाक्य है।[3]

बृहद्वाचस्पत्यं-अभिधानकार ने केवल विषम पद-व्याख्या को 'टीका' माना है—
'टीक्यते, गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया। टीका-करणे घन् धार्थे क वा।

विषम पद-व्याख्या रूपे ग्रन्थभेदे।[4]

राजशेखर का मत है—यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका।[5] अर्थात् यथासम्भव सरल अर्थों का संकेत करना टीका है।

आप्टे ने टीका के अर्थ में अंग्रेजी के दो शब्द 'कमेन्ट्री' एवम् 'ग्लोस' दिये हैं। पुनः वे कहते हैं—'टीक्यते ग्रन्थार्थोऽनया[6]' अर्थात् टीका वह व्याख्याविधा है, जिससे ग्रन्थार्थ का ज्ञान प्राप्त हो जाय।

हिन्दी साहित्य कोश (भा० एक) के अनुसार—टीकृ गतौ (भ्वादि) + अः + स्त्री प्रत्यय टाप् (टीक्यते, गम्यतेऽर्थो, यया सा) (क) सामान्य अर्थ—१. व्याख्यान ग्रन्थ, २. व्याख्या, ३. विवृति, (ख) विशेष अर्थ—विषम पद-व्याख्यानरूपावृत्ति।[7] इनके अनुसार टीका वृत्ति की भाँति संक्षिप्त होनी चाहिए, क्योंकि उसमें केवल कठिन दुरूह पदों का ही व्याख्यान होता है। इसका विरोधी मत भी प्रचलित है। इस मत के अनुसार मूल के सुगम एवम् क्लिष्ट, सरल या दुरूह समस्त पदों की वृत्ति–जैसी संक्षिप्त

---

१. अमरकोष (रामाश्रयी टीका सहित), ३।५।७, पृ० ४१५।
२,३. देखिए–रामचरितमानस का टीका साहित्य–डॉ० त्रिभुवनाथ चौबे, पृ० ३६, वही।
४. वाचस्पत्यं बहत् संस्कृत अभिधानं, चतुर्थोभागः (२०१८ वि०), पृ० ३१८८।
५. काव्यमीमांसा—राजशेखर, द्वितीय अध्याय—पृ० १२।
६. संस्कृत–अंग्रेजी कोश, आप्टे, संस्करण काल—१८९०।
७. हिन्दी साहित्य कोश (भा० १)—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ३११।

या निरंतर व्याख्या 'टीका' कही जाती है। 'टीका' का यह दूसरा रूप ही अधिक दिखायी देता है। संस्कृत का टीका साहित्य बहुत विशाल है।

हिन्दी साहित्य में टीकाओं का महत्त्व मध्यकाल में अधिक रहा। यहाँ भी टीका का वही अर्थ गृहीत हुआ जो संस्कृत में था। मध्यकालीन भक्तिकाव्य एवम् रीतिकाव्य पर व्रजभाषा गद्य में अनेक टीकाएँ मिलती हैं—जैसे 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' पर क्रमशः गुसाईं हरिराय की तथा नाभादास की, 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका, हितहरिवंश के चौरासी पदों, बिहारी सतसई, रामचरितमानस आदि पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। आधुनिक युग में लाला भगवानदीन 'दीन' द्वारा रामचन्द्रचन्द्रिका, कविप्रिया, कवित्तावली, बिहारी-सतसई, रामचरितमानस के विविध काण्डों आदि पर विद्वत्तापूर्ण पद्धति पर भावात्मक शैली में लिखी गयी टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की 'बिहारी-सतसई' पर लिखी गयी पाण्डित्यपूर्ण टीका अत्यन्त प्रामाणिक है। आचार्य मिश्र ने तो मध्यकाल के अनेक ग्रन्थों के सम्पादन एवम् टीका-टिप्पणी द्वारा इस काल को विस्तृत और बोधगम्य ही बना दिया।

श्री रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में किसी पद या ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट करने वाले वाक्य या ग्रन्थ को 'टीका' कहा गया है।[1] डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने टीका ग्रन्थों को स्वतन्त्र ग्रन्थ एवं ग्रन्थसार के रूप में भी माना है। उनका कहना है कि मूलग्रन्थ की टीकाएँ, उनकी भी टीकाएँ, इस प्रकार कभी-कभी छह-छह, आठ-आठ पुश्त तक टीकाओं की परम्परा चलती गयी। लेकिन ये टीकाएँ सर्वत्र चिन्ता-पारतन्त्र्य की निर्देशक नहीं हैं, कभी-कभी स्वतन्त्र मतों के प्रतिपादनार्थ भी लिखी गयी थीं। आरम्भ में तो यह बात और सच थी। ऐसी टीकाओं को असल में टीका न कहकर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही कहना चाहिए।

"शब्दों में जब अर्थ अधिक प्रकट करने की कोशिश की जाती है तब इन छोटे-छोटे वाक्यों को सूत्र कहते हैं। जिसमें सूत्रों के सारमर्म बताए जाते हैं उसे वृत्ति कहते हैं। सूत्र-वृत्ति के परीक्षण को पद्धति कहते हैं। सूत्र और वृत्ति में बताए गये सिद्धांतों पर आक्षेप करके फिर उसका समाधान करके, इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहते हैं। भाष्य के बीच में जो विषय प्रकृत हो, उसे त्याग कर दूसरे उसीसे सम्बद्ध किन्तु अप्रकृत विषयों का जो विचार किया जाता है, उसे समीक्षा कहते हैं। इन सब में बताए गए विषयों का टीकन या उल्लेख जिसमें हो उसे टीका कहते हैं।"[2]

---

१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर—सम्पादक, रामचन्द्र वर्मा, पृ० ३८५।
२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११-१२।

टीका के लक्षणकारों द्वारा दिये गये टीका के लक्षण से दो मतों की स्थापना हुई है। अधिकांश लक्षणकार 'विषम पद-व्याख्या' को टीका मानते हैं, पर हेमचन्द्र ने निरन्तर पद-व्याख्या को टीका माना है। डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ने दोनों लक्षण ग्रहण किये हैं। इसीलिए उन्होंने आवश्यक सभी पदों की व्याख्या को टीका कहा है। सामान्य रूप से हिन्दी में किसी भी प्रकार की व्याख्या को टीका ही नाम दिया जाता है, चाहे वह वृत्ति, टिप्पणी, शब्दार्थ एवम् गद्यानुवाद ही क्यों न हो। टीका या अन्य विधा के लक्षण में व्याख्या शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है। अतः साधारण रूप से इस पर भी विचार करना आवश्यक है। संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में व्याख्या का अर्थ इस प्रकार है—वह वाक्य आदि जो किसी जटिल शब्द आदि का अर्थ स्पष्ट करता है।[1] रामचन्द्र वर्मा ने अपने द्वारा सम्पादित शब्दसागर में टीका और व्याख्या को एक ही माना है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने व्याख्या के क्षेत्र का विवेचन इस प्रकार किया है—"विस्तृत व्याख्या में सबसे पहले 'चूर्णिका' में कठिन शब्दों का अर्थ है। पद्य की गद्यात्मक संक्षिप्त टिप्पणी को 'चूर्णिका' कहते हैं। 'तिलक' में टीका है, सुसंगत भावार्थ। 'व्याख्या' उन शब्दों का विस्तृत विवेचन है।"[2]

व्याख्या की वृत्ति, भाष्य, वार्त्तिक, टिप्पणी आदि विधाएँ हैं। इसलिए इसकी रचना-प्रणाली इन सभी विधाओं में व्याप्त होगी। व्याख्या की रचना प्रक्रिया के सभी तत्त्वों का सन्निवेश विधा विशेष में हो ही, यह आवश्यक नहीं। पर यथावश्यक तत्त्वों का यथास्थान संयोजन होगा ही। पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना एवम् आक्षेप तथा उसका समाधान ही व्याख्या के पाँच तत्त्व हैं।[3] ये ही टीका के तत्त्वों के रूप में प्रयुक्त होंगे।

पदच्छेद का तात्पर्य व्याख्येय पदों को व्याकरण के नियम के अनुसार विश्लेषित कर अलग-अलग करना है। व्याख्येय में कई पदों का संघटन रहता है। पदच्छेदन करना टीकाकार का कर्तव्य है। टीका में व्याख्येय पदों का उच्छेदन वाक्य-योजना के साथ ही हो जाता है। इसीलिए अधिकांश टीकाओं में पदच्छेद तत्त्व नहीं मिलता। व्याख्येय के अन्तर्गत आने वाले सभी पदों की टीका-विवेचना की जाती है, पर कतिपय सरल शब्दों को छोड़ भी दिया जाता है एवम् क्लिष्ट तथा विवादास्पद पदों की अत्यन्त

---

१. संक्षिप्त शब्दसागर—रामचन्द्र वर्मा, पृ० ९१३।

२. भाषा भूषण—सम्पा० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र० संस्क०, पृ० ४१।

३. पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना,
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पंचलक्षणम्।—पंचविधास्मृतिः
देखिये—रामचरितमानस का टीका साहित्य—त्रिभुवननाथ चौबे, पृ० ५५

विस्तारपूर्वक टीका की जाती है। इसी को पदार्थोक्ति कहते हैं। व्याख्येय के समस्त पदों का विश्लेषण ही विग्रह है। समस्त वाक्य, सूत्र अथवा श्लोक के विभिन्न पदों का परस्पर सम्बन्ध ही वाक्य-योजना के अन्तर्गत आता हैं। व्याख्येय में सन्देहास्पद विचारों के निराकरण हेतु आक्षेप एवम् समाधान तत्त्व का समावेश किया गया है।

व्याख्या की अन्य विधाओं में 'भाष्य' का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अमरकोष की रामाश्रयी टीका में भाष्य की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'भाण्येत सूत्रार्थो येन' 'भाष्य व्याक्तायां वाचि' (म्या० आ० सं०) 'कृत्यल्युटोवहुलम् (३।३।११३) इति करणे पयत्। सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सुत्रानुकारिभिः स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यविदो विदुः।[1] अर्थात् सूत्र का अर्थ जिसके द्वारा कहा जाय, जहाँ भाष् धातु का अर्थ है—सुस्पष्ट कथन।....जहाँ सूत्र के पद का अनुकरण करने वाले वाक्यों द्वारा सूत्र का अर्थ वर्णित किया जाता है और फिर अपने पदों से अपना अभिप्राय भी व्यक्त किया जाता है, भाष्य के तत्त्व को समझने वाले उसे भाष्य कहते हैं।[2] वाचस्पत्यम् वृहत् संस्कृताभिधानं के अनुसार 'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो जनाः' इत्युक्ता लक्षणे सूत्र व्याख्या ग्रन्थ भेदे-सूत्र फणिभाषित-भाष्य फक्किका।'[3] राजशेखर की दृष्टि में ऊपर के अनेक आक्षेप लगाकर उनका समुचित उत्तर देते हुए विस्तृत विवेचन करना भाष्य है। इनका मत है—'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्।'[4]

शब्द कल्पद्रुम के अनुसार—'भाष्यं क्लीवलिंग (भाष्यते विवृतया वर्ण्यते इति। भाषा + ण्यत्) चूर्णिः।........सूत्र विवरणः ग्रंथः। तस्य लक्षणम् सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।[5]

'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में भाष्य का अर्थ—१. सूत्रों की व्याख्या या टीका, २. किसी गूढ़ बात या वाक्य की विस्तृत व्याख्या[6] बताया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूत्र और वृत्ति में बताये गये सिद्धांतों के स्पष्टीकरण को भाष्य कहा हैं।[7] भाष्य मूल की विस्तृत व्याख्या होता है। इसका अध्ययन सर्वसाधारण के लिए सम्भव नहीं है। इसका लाभ विद्वान् पाठक ही उठा सकता है।

---

१. अमरकोष (रामाश्रयी टीका सहित), पंचम संस्करण, पृ० ४५६।
२. रामचरितमानस का टीका साहित्य—डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे—पृ० ५५।
३. वाचस्पत्यं, वृहत् संस्कृताभिधानं, षष्ठो भागः, पृ० ४६६८।
४. काव्य मीमांसा—राजशेखर, द्वितीय अध्याय, पृ० १२।
५. शब्दकल्पद्रुम—हिन्दी संस्करण, भाग—३।
६. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर—संपा० रामचन्द्र वर्मा, पृ० ७५६।
७. हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२।

टीका और व्याख्या का ही एक प्रकार का अन्य भेद टिप्पणी है। इसके विषय में आप्टे का कथन है कि 'टिप्पणी एक प्रकार की टीका है, कभी-कभी इसका अभिप्राय एक टीका की टीका से भी लिया जाता है। जैसे महाभाष्य के ऊपर कैयट की टिप्पणी और नागेश जी भट्ट की टिप्पणी, कैयट की ही उपर्युक्त टीका पर।'[१] संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर में इसका अर्थ इस प्रकार है—टिप्पणी १. किसी वाक्य या प्रसंग का विस्तार के साथ अर्थ सूचित करने वाला विवरण, २. टीका-व्याख्या।[२] टिप्पणी वह संक्षिप्त टीकात्मक ग्रन्थ है जिसमें मूलग्रन्थ या टीकात्मक ग्रन्थ के क्लिष्ट अंशों की सरल व्याख्या की गई हो। यह व्याख्याविधा की सबसे लघु शैली है।[३] हिन्दी में 'टिप्पणी' शब्द अंग्रेजी के 'नोट' शब्द का वाचक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि टिप्पणी व्याख्येय (मूलग्रन्थ और टीका दोनों) ग्रन्थ की व्याख्या की सबसे संक्षिप्त शैली है जिसमें क्लिष्ट एवम् दुरूह पदों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है।

वाचस्पत्यम्—वृहत् संस्कृताभिधानम् में 'टिप्पणी' की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—'टिप-क्विप् टिपापन्यते, पन-घञर्थेक गौरीङ्णीष् टीकायाम्। सा च टीका व्याख्यारूपतयैव व्यवह्रियते यथा चिन्तामणिटीकाया दीधितिव्याख्या टीका जगदीशकृता गदाधरकृता च। यथा शारीरक सूत्रभाष्य-व्याख्या पञ्चपादिका भामती च। महाभाष्य-व्याख्या कैयटकृता इत्यादि। प्रथम व्याख्यामपि क्वचित् प्रयुज्यते यथा 'गौमतङ्गाननं नत्वालीलावण्याः सुटिप्पनी। भवेरोन सुबोधार्थं क्रियते यद्‌गुरोः श्रुतम्॥[४]

'टीका' के अन्तर्गत ही 'चूर्णिका' आती है। वृहत् संस्कृताभिधानम् के अनुसार 'सक्तुसु शब्दार्थ चि।[५]' साधारण रूप से यह शब्दार्थ नाम से ही अधिक प्रचलित है। संक्षिप्त शब्दसागर में 'चूर्णभाष्य अर्थ पद से गद्य में व्याख्या करना' एवम् 'चूर्णक' का अर्थ वह शब्द गद्य जिसमें छोटे-छोटे शब्द हों।[६] इस चूर्ण=चूर्णक से चूर्णिका शब्द बना है। अतः मिश्र जी द्वारा 'चूणिका' का अर्थ 'पद्य की गद्य रूप में संक्षिप्त टिप्पणी'[७] बताया जाना ठीक ही है।

मिश्र जी की टीका-पद्धति

आधुनिक युग के अन्य समीक्षकों की अपेक्षा टीका के प्रति मिश्र जी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होंने टीका को समीक्षा का एक प्रकार माना है और टिप्पणी को

---

१. रामचरितमानस का टीका साहित्य—डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, पृ० ८४।
२. संक्षिप्त शब्दसागर—संपा० रामचन्द्र वर्मा, पृ० ३८४।
३. रामचरितमानस का टीका साहित्य—डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, पृ० ८५।
४,५. वाचस्पत्यम्—वृहत् संस्कृताभिधानम्—चतुर्थो भागः, वही।
६. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर—संपा० रामचन्द्र वर्मा, पृ० ३२१।
७. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र से वार्ता के मध्य।

संपादन कला का आधार। आलोचना में सर्वप्रथम आलोचक कृति की टीका-टिप्पणी करता है और तब वह उसकी समग्र रूप में आलोचना करता है। आलोचक को आलोचना तभी सफल हो सकती है, जब वह कृति के सभी शब्दों एवम् वाक्यों का संदर्भ सहित अर्थ समझता हो। सभी आलोचकों में इस प्रकार की क्षमता नहीं होती वह दूसरों द्वारा व्याख्यायित कृतियों का सहयोग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आलोचना का सर्वप्रथम सोपान कृतियों की टीका-टिप्पणी है।

संपादन-कार्य का भी प्रमुख रूप टीका-टिप्पणी ही है। पाठ का निर्धारण एक-एक शब्द के प्रसंग एवम् अर्थ को ध्यान में रखकर किया जाता है। मिश्र जी ने अपनी संपादित पुस्तकों में टिप्पणी एवं पाठांतर का विशेष उपयोग किया है। अपनी संपादित पुस्तकों को सरल एवम् सुस्पष्ट बनाने के लिए उन्होंने नीचे टिप्पणी एवम् पाठांतर प्रस्तुत किया है। टिप्पणी प्रस्तुत करने से पाठक को उस कृति में आये क्लिष्ट एवम् दुरूह शब्दों एवम् पदों का अर्थ समझने में सहायता मिलती है। इस प्रकार टिप्पणी तो इनके द्वारा संपादित लगभग सभी ग्रन्थों में मिलती ही है, लाला भगवानदीन जी द्वारा सम्पादित कई पुस्तकों में भी उन्होंने टिप्पणी आदि की व्यवस्था कर उसे प्रकाशित कराया है।

भारतीय परम्परा में अधिकांश भाष्यकार हुए, यदि उनके साहित्य को पृथक् कर दिया जाय तो संस्कृत साहित्य का मूल साहित्य उतना प्रौढ़ नहीं रह सकता जितना की इसके एकत्व में है। भारतीय परम्परा में भाष्य के अन्तर्गत बहुत कुछ लिखा गया है। उन्होंने अपने सैद्धान्तिक मत भी प्रस्तुत किये, पर उसे अपना न बताकर मूलकर्ता के नाम से ही जोड़े रखा। यह अपनी परम्परा की विशेषता रही है। कात्यायन ने अष्टाध्यायी पर वार्त्तिक लिखा। इसकी विशेषता है कि सूत्र में जो कहा गया है, जो नहीं कहा गया है, जो अपूर्ण है, उन सबकी इसमें पूर्ति की गयी है। वार्त्तिककार का महत्त्व नहीं रहता, सूत्रकार का ही होता है। पतञ्जलि ने पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य लिखा। इसमें अपनी नवीन उपलब्धि दी, पर उसे अपना घोषित नहीं किया, क्योंकि यह यहाँ की परम्परा के अनुकूल नहीं था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परम्परा के आचार्यों में अभिमान नहीं था। अभिनव गुप्त, मम्मट, पतञ्जलि, कात्यायन, पण्डितराज जगन्नाथ आदि सभी इसी कोटि के आचार्य हैं। ये लोग सूत्र के व्याख्याकार हैं, खण्डन करने वाले नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ ने संचारी ३३ से अधिक माने, पर कहा कि जब भरतमुनि ने ३३ ही माने हैं तो वही मान्य है, ठीक है। आचार्य मिश्र इसी कुल के व्याख्याता हैं। ये आचार्य नयी बात कहने के लिए कृति के पहले के फलक (आभोग) को बड़ा कर लेते हैं। उसकी व्याख्या ही ऐसी कर देते हैं कि उसमें उनकी नयी उपलब्धि आ जाती है।

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने तो स्पष्ट शब्दों में समीक्षा को भाष्य वताया है। उनका मत है—अन्तर्भाष्यं समीक्षा। अवान्तरार्थविच्छेदश्च सा।[1] उन्होंने शास्त्रों का प्रणयन एवं विस्तार 'सूत्रादिभिश्चैषां प्रणयनम्। तत्र सूत्रणात् सूत्रम्'[2] द्वारा माना है कि टीका की इन विविध विधाओं के ज्ञाता ही शास्त्र कवि हैं। शास्त्र कवि का लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—

भवति प्रथयन्नर्थं लीनं समभिप्लुतं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः॥[3]

'हिन्दी साहित्य का अतीत' (भाग २) के अनुवचन में मिश्र जी ने भी इससे सम्वद्ध अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि "जिन्हें ग्रन्थों का बोध नहीं है वे समीक्षक बन बैठे तथा टीका से समीक्षा का स्तर ऊँचा बताते हैं। भारतीय परम्परा टीका-टिप्पणी करनेवालों का मान साहित्य क्षेत्र में पुराकल्प से मानती आई है। रस-विमर्शक आचार्यों में जिन मनीषी अभिनवगुप्त का सर्वोपरि सम्मान है वे साहित्यशास्त्र के टीकाभाष्यकार मात्र हैं। भारतीय दृष्टि टीका-भाष्य नहीं उसका महत्त्व देखती आई है। महाभाष्यकार पतंजलि आदि इसके प्रमाण हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य का मर्म उद्घाटित करने के लिए कितने ही टीकाकारों का परिश्रम परम श्लाघ्य है। साहित्य के टीकाकारों में सूरति मिश्र का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक युग में 'दीन' जी इसी परम्परा के थे। इन्होंने भी बिहारी, केशव के ग्रन्थों की टीका लिखी और 'मानस' पर भी हाथ लगाया। रत्नाकर जी ने भी बिहारी की टीका में कई स्थान पर दीन जी की टिप्पणियों को नामोल्लेखपूर्वक ससम्मान उद्धृत किया है। इन्होंने युग के अनुरूप समीक्षा लिखने का भी साहस किया है। ऐसे महापुरुषों को केवल टीका-सम्प्रदाय का कहकर उनकी अवहेलना करनेवाले भारतीय परम्परा का माहात्म्य क्या जानें।"[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी भारतीय परम्परा में इस पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस परम्परा के हिमायती आचार्य मिश्र के इस कार्य को आलोचना से पृथक् निम्न कोटि के साहित्य में कैसे स्थान दिया जा सकता है? समालोचना का वास्तविक आधार यही टीका-टिप्पणी है। 'समालोचना या समीक्षा का तलस्पर्शी लोचन या ईक्षा होनी चाहिए। इस ईक्षा, दृष्टि या दर्शन का परिज्ञान वाञ्छनीय है।[5] पद-पदार्थ-परिज्ञान इसी पद्धति से सम्भव है।

१-३—काव्यमीमांसा—राजशेखर (द्वितीय अध्याय), पृ० १२,११,१२।
४,५—हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० २)—आचार्य (विश्वनाथप्रसाद मिश्र)—अनुवचव, पृ० १२–१३, २१।

उन्होंने अपनी सम्पादित लगभग सभी पुस्तकों में टिप्पणी तो दी ही है, पर कुछ पुस्तकों पर टीकाएँ एवं भाष्य भी लिखा है। टीकाकार के रूप में उन्होंने बहुत ख्याति प्राप्त की। घनआनन्द के क्लिष्ट एवं दुरूह पदों का अर्थ लगाने में लाला भगवानदीन जी एवं शुक्ल जी जैसे मूर्द्धन्य विद्वानों ने कठिनाई का अनुभव किया।[1] वहाँ उन्होंने उनके छन्दों का ठीक-ठीक अर्थ करने में सर्वप्रथम सफलता पायी। अतः घनआनन्द के कवित्तों का उन्हें उद्धारक कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उन्हें पुस्तकों की टीका एवं व्याख्या-सम्बन्धी ज्ञान अपने साहित्यिक गुरु लाला भगवानदीन 'दीन' से प्राप्त हुआ। दीन जी द्वारा की जानेवाली अनेक टीकाओं में उन्होंने सहायक रूप में कार्य किया। टीकाओं की पूर्वपीठिका में विस्तृत भूमिकाएँ लिखकर कवि-ज्ञान को बहुत व्यापक बताया, जिससे पाठकों एवं अनुसंधायकों का मार्ग और प्रशस्त हो गया। कतिपय टीकाएँ उन्होंने अपने मित्रों के सहयोग से प्रस्तुत कीं।

सर्वप्रथम उन्होंने अपने मित्र पण्डित रमाकान्त चौबे के सहयोग से महाकवि भूषण-कृत 'छत्रसाल दशक' को टीका लिखी, जो कि सन् १९२९ ई० में साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने शब्दार्थ, भावार्थ, अलंकार एवं छन्दों का स्पष्ट उल्लेख किया है। क्लिष्ट शब्दों का उसकी पीठिका के साथ अर्थ स्पष्ट किया है। जैसे—'समद = अमीर अब्दुस्समद, इसे औरंगजेब ने सं० १७४७ वि० में महाराज का दमन करने के लिए भेजा था।'[2] इस प्रकार की व्याख्या से मन्द-बुद्धि पाठक भी सप्रसंग पदों का अर्थ सरलता से समझ जायेगा। छन्द आदि के उल्लेख में उन छन्दों के लक्षणों का भी कहीं-कहीं उल्लेख किया है—जैसे "मनहर कवित्त। यह वर्णिक दण्डक है। इसके प्रत्येक चरण में १६ और १५ के विराम से ३१ अक्षर होते हैं। चरणांत में गुरु वर्ण होना चाहिए। यदि प्रत्येक चरण में ८ + ८ + ८ + ७ का क्रम हो तो धारा अच्छी होती है। इसे घनाक्षरी और कवित्त भी कहते हैं।"[3]

महाकवि भूषण की दूसरी कृति 'शिवाबावनी' की टीका बजरंगबली गुप्त के सहयोग से की, जो सम्भवतः १९३० ई० के लगभग प्रकाशित हुई थी। इसमें शब्दार्थ, भावार्थ, अलंकार के उल्लेख के साथ विशेष एवं 'सूचना' में छन्द, पाठान्तर आदि का उल्लेख किया गया है। तुलसीदासकृत 'गीतावली' के ४४ पदों की टीका 'गीतावली गुंजन' के नाम से की। यह 'गीतावली' का संक्षिप्त रूप ही है। यह टीका हिन्दी के परीक्षार्थियों को दृष्टि में रखकर की गई है। इसकी टीका उन्होंने अकेले ही

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—अभिनन्दन ग्रन्थ, संस्मरण संदर्भ, पृ० ३९।
२,३. छत्रसाल दशक—सं० आचार्य मिश्र, पृ० ९, ८।

की थी। जसवन्तसिंहकृत 'भाषा-भूषण' की टीका उन्होंने की जो सन् १९३३ ई० में प्रकाशित हो चुकी थी। इसकी विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका कवि एवं पुस्तक परिचय से पूर्ण है। इसका परिष्कृत एवं परिवर्द्धित भाष्य उनके ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय चन्द्रशेखर मिश्र ने उनके निर्देशन में ही किया, जो सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ। भावार्थ, शब्दार्थ एवं छन्दों के साथ विशेष सूचना में अलंकार, शब्दों के विशेष अर्थ तथा अन्य क्लिष्ट शब्दों एवं प्रसंगों का स्पष्टीकरण किया गया है।

केशव की प्रसिद्ध रचना 'रसिकप्रिया' की टीका उन्होंने 'प्रियाप्रसाद तिलक' के नाम से की। यह लाला जी की अपूर्ण कार्य की पूर्ति के रूप प्रस्तुत हुई है। यह लिखी गयी सं १९८७ में परन्तु प्रकाशित हुई सं २०१५ में। इसकी टीका पद्धति लालाजी की ही है, पर साथ में पाठान्तर भी दिया गया है। इसका प्रयोजन टीका-टिप्पणी है। इसमें क्लिष्ट शब्दों का अर्थ 'शब्दार्थ' शीर्षक में और सुसंगत अर्थ 'भावार्थ' शीर्षक में दिया गया है। इसमें यथास्थान प्रमुख अलंकारों का निर्देश भी है। सूचना के अन्तर्गत ज्ञातव्य बातों का उल्लेख भी किया गया है। जहाँ अधिक सरलता है वहाँ शब्दार्थ मात्र ही दिया गया है और कहीं-कहीं वह भी नहीं है। यथास्थान व्याकरण से सम्बद्ध कुछ सूचनाएँ भी दी गयी हैं। उनका मत है कि 'किसी ग्रन्थ का मूल पाठ टीका-टिप्पणी करते समय कहीं अधिक स्पष्ट होता है।'[1]

बिहारी के पचास दोहों का सप्रसंग भाष्य उन्होंने 'बिहारी प्रकाश' के नाम से किया जो सन् १९७६ में लोकभारती प्रकाश, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इन दोहों के स्पष्टीकरण में उन्होंने प्रसंग, चूर्णिका, तिलक, व्याख्या, पाठान्तर, अलंकार तथा 'विशेष' में अन्य महत्त्वपूर्ण सूचनाओं का उल्लेख किया है। घनआनन्द-कबित्त के प्रथम आनन (शतक) का भाष्य उनके ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय चन्द्रशेखर मिश्र ने उनके निर्देशन में किया, जो वाणी-वितान, वाराणसी से सं० २०१७ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें इनके द्वारा सम्पादित 'घनआनन्द-कबित्त' के प्रथम सौ कबित्तों का प्रकरण, चूर्णिका, तिलक, व्याख्या, छन्द, अलंकार, पाठान्तर, व्याकरण से पूर्ण भाष्य है। तुलसीदासकृत 'गीतावली' की टीका 'गीतावली' नाम से गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हुई। इसके टीकाकार मुनिलाल जी की इस टीका का सम्यक् संशोधन उन्हीं से कराया गया, जो सन् १९३४ ई० में गीताप्रेस से प्रकाशित हुई।

जिस प्रकार महान् आदर्श ग्रन्थ 'रामचरितमानस' का सम्पादन कर उन्होंने साहित्य-जगत् एवं धार्मिक जगत् में उसका स्वस्थ रूप प्रस्तुत किया, उसी प्रकार

---

१. प्रियाप्रसाद तिलक—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ४१।

'मानस' की साहित्यिक टीका भी 'मानसलहरी' के नाम से पूर्ण करने की ओर ये अग्रसर हैं। 'मानसलहरी' की भाँति ही सूरदास के पदों की व्याख्या भी 'सूरसागर-मंथन' नाम से प्रस्तुत करने के लिए तत्पर हैं। इन दोनों महान् ग्रन्थों की उच्चतम साहित्यिक टीका के प्रकाशित होने में अधिक विलम्ब नहीं है।

उनका टीका-कार्य भी अपने प्रौढ़तम रूप तक पहुँच गया है। उन्होंने ग्रन्थों की टीका व्यावसायिक दृष्टि से नहीं की। उन्होंने भारतीय परम्परा की भूमि पर साहित्यिक टीका का वह प्रौढ़तम रूप प्रस्तुत किया है और प्रस्तुत करने में संलग्न हैं, जो कि टीका-परम्परा में आगे लिखी जाने वाली टीकाओं के लिए आदर्श रूप में ग्राह्य होगा।

●

अष्टम अध्याय

अभिव्यक्ति शैली और भाषा

'शैली' का स्वरूप—

साहित्य-सर्जना के मुख्यतः चार उपादान हैं—प्रथम बुद्धितत्त्व या ज्ञानतत्त्व, द्वितीय भावतत्त्व, तृतीय कल्पनातत्त्व और चतुर्थ 'शैली'। 'शैली' अँग्रेजी 'स्टाइल' का अनुवाद है और अंगरेजी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी में आया है। भारतीय साहित्यशास्त्र में 'शैली' से मिलते-जुलते अर्थ को देनेवाला एक शब्द प्रयुक्त हुआ है—रीति।[1] 'शैली' के अन्तर्गत ही अभिव्यक्ति के साधन शब्द और अर्थ आते हैं। 'शैली' एक प्रकार की वाक्य-रचना है। लेखक अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार की पद्धति द्वारा करना चाहता है कि साहित्य-मर्मज्ञ उसके पठन-पाठन के समय उस रचना में अन्तर्लीन हो जाये। इसके लिए लेखक उसमें सहजता के साथ सौन्दर्य की भी योजना करता हैं। कोई विषय आकर्षक, रमणीय एवं प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त किया जाता है तब उसे हम साहित्य-जगत् में 'शैली' कहने लगते हैं।[2] भारतीय साहित्यशास्त्र का विकास एक प्रकार से तत्कालीन शैलियों का विकास-विवेचन ही है। अलंकार, रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति, वृत्ति आदि सभी शैलियाँ ही हैं। वस्तुतः 'शैली' उस साधन का नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवम् प्रभावोत्पादक रूप से वाक्य-शक्ति के समस्त सरस तत्त्वों की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का संचार करे।'[3] 'जिस समय कोई लेखक भाव-व्यंजना-मात्र के उद्देश्य से ऊपर ऊँचा उठता है और शब्द-चयन तथा वाक्य-विन्यास का भी समुचित ध्यान रखकर अपनी लेखनी चलाता है, उसी समय शैली अथवा स्टाइल का जन्म होता है।'[4] शैली को एक गुण मानते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—"शैली अनुभूत विषयवस्तु को सजाने के उन तरीके का नाम है जो उस विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं।"[5] इससे यह स्पष्ट होता है कि शैली न तो अनुभूत विषयवस्तु का धर्म है और न कहने के तरीका का ही।

'शैली' के दो प्रमुख तत्त्व हैं—पहला बाह्य तत्त्व और दूसरा आभ्यंतर तत्त्व। पहले के अन्तर्गत नाद, शब्द, वाक्यादि एवम् दूसरे के अन्तर्गत शब्दशक्तियाँ, सरलता,

---

१. हिन्दी साहित्यकोश (प्र० म०)—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ७७३।

२,३. शैली—करुणापति त्रिपाठी, पृ० २२, २९।

४. हिन्दी गद्य-मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी, पृ० १४०।

५. हिन्दी साहित्य कोश (प्र० भा०)—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ७७३।

स्पष्टता आदि हैं। अर्थात् पहले में चमत्कार तत्त्व होता है जिसमें बुद्धि की प्रधानता रहती है तो दूसरे में भावतत्त्व होता है जिसमें हृदय की प्रधानता रहती है। शैली में इन दोनों तत्त्वों का समन्वय आवश्यक है। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शैली के दो मुख्य तत्त्व हैं—भाव और भाषा। इस प्रकार शब्द, वाक्य, भाव, वस्तु आदि के सुस्पष्ट, सुनियोजन को 'शैली' कह सकते हैं। किसी पद की रचना ध्वनिसमूहों से होती है। इसलिए उसकी योजना उपयुक्त ढंग से होनी चाहिए। इसका सम्बन्ध लेखक की कलात्मक निपुणता से है। इसका सबसे बड़ा आधार और साधन शब्द है। इसलिए लेखकों को शब्द-कोश का ज्ञान आवश्यक है। एक ही अर्थबोध के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पर उचित स्थल एवम् उपयुक्त अवसर पर शब्दों को प्रयुक्त करने के लिए लेखक को शब्द-कोश का ज्ञान आवश्यक होता है।

शब्द-योजना के साथ लेखक को संज्ञा, विशेषण और क्रियापद के प्रयोग का ज्ञान भी आवश्यक है। संज्ञाओं के प्रयोग में लेखक को विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके ज्ञान से ही वह यथास्थान शब्दों के पर्याय का प्रयोग कर सकता है। यही स्थिति विशेषण एवम् क्रियापद के प्रयोग के सम्बन्ध में भी है। शब्द जब तक व्यवस्थित रूप से वाक्य और महावाक्य का रूप नहीं ग्रहण कर लेते तब तक भावों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। इसलिए शैली के लिए वाक्य और महावाक्य का निर्माण भी आवश्यक है। भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने वाक्य को ही भाषा का चरमावयव माना है। स्फोटवादियों का कथन है कि—

"वाक्यस्फोटोतिनिष्कर्षंस्तिष्ठतीति मतस्थितिः।"

अर्थात् वाक्य से ही अर्थ का बोध होता है इसलिए भाषा का चरम अवयव वाक्य ही है।[1] कभी-कभी तो एक ही शब्द से पूर्ण वाक्य का काम चलाया जाता है। जैसे किसी को अपने निकट रहने पर कहा जाता है कि—'जाइए।' इसका तात्पर्य है—'आप यहाँ से जाइए।' पर केवल 'जाइए' कहने से वाक्य का बोध भर होता है, पूर्ण-भाव की अभिव्यक्ति तो वाक्य से ही होती है। शब्दों के अनुपयुक्त मेल को वाक्य नहीं कहा जा सकता है। वाक्य उस अभिव्यक्त पद-समूह को कहते हैं जिसके सभी शब्द आकांक्षा, योग्यता और परस्पर आसत्ति से युक्त हों। शैली की दृष्टि से वाक्य के तीन भेद किये गये हैं—पहला संयत, दूसरा शिथिल एवम् तीसरा संतुलित।

संयत वाक्य में ग्राहक या पाठक की उत्सुकता तब तक बनी रहती है जब तब कि वह अन्तिम भाग को पढ़ न ले, क्योंकि इसमें शब्द, उपवाक्य और सहायक वाक्य सभी एक प्रवाह में बँधकर सम्मिलित प्रभाव डालते हैं। शिथिल वाक्य की सर्जना संयत

---

१. शैली और कौशल—सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ४५।

वाक्य की सर्जना से पूर्णतः विपरीत होती है। इसके पहले भाग को पढ़ने से ही कौतूहल समाप्त हो जाता है, क्योंकि इसमें मुख्य भाग पहले ही दे दिया जाता है। इसके पश्चात् आनेवाले शेष वाक्य सहायक या निष्प्रयोजन होते हैं। ऐसे वाक्यों में रमणीयता नहीं होती है, और इनमें प्रभावोत्पादकता की क्षमता भी नहीं होती। संतुलित वाक्य उस वाक्य-समूह को कहते हैं जिसके वाक्य एक दूसरे पर आश्रित एवम् एक दूसरे से परस्पर सम्बद्ध होकर प्रभावोत्पादक होते हैं। वाक्यों से ही महावाक्य या अनुच्छेद का और वाक्यों या अनुच्छेद से प्रकरण, परिच्छेद, अध्याय या सर्ग का निर्माण होता है। किसी एक भाव, विचार, वस्तु या क्रिया की व्यवस्थित एवम् सुसंगठित व्याख्या के लिए जो एक वाक्य-समूह निर्मित होता है उसे अनुच्छेद या महावाक्य कहते हैं। अध्याय या प्रकरण में किसी एक विचार का निर्दिष्ट और पूर्ण अंश रहता है।

पाश्चात्य विद्वानों में शैली के गुण के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों ने शैली में शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, अलंकृति एवम् औचित्य इन बौद्धिक गुणों का रहना आवश्यक माना है और कुछ विद्वानों ने शुद्धता का सम्बन्ध साहित्य से न मानकर व्याकरण से माना है। सरलता को भी स्पष्टता के अन्तर्गत माना है। अतः शैली का वास्तविक गुण स्पष्टता एवं अलंकृति है। अनेक विद्वानों ने अपने मत से पृथक्-पृथक् गुणों का उल्लेख किया है। इन मतों की समन्वित दृष्टि से सरलता, स्वच्छता, स्पष्टता, प्रभावोत्पादकता, शिष्टता एवं लय शैली के आवश्यक गुण हैं।

कृति में प्रयुक्त भाषा, शब्द, वाक्य, मुहावरे आदि ऐसे हों जो सरल हों, तथ्य-बोधक हों एवम् नित्य की बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले हों। इसी को शैली की सरलता कहा जा सकता है। शैली की स्वच्छता से तात्पर्य लेखक की उस अभिव्यक्ति से है जिसमें कोई तथ्य छिपा न रह जाय। स्पष्टता के कारण ही लेखक अपने भावों एवम् विचारों को पाठकों के हृदय तक पहुँचाने में समर्थ होता है। उसकी रचना-शैली निर्मल दर्पण की भाँति होनी चाहिए, जिसमें हृदयगत विचारों एवम् भावों की छाया का सुस्पष्ट साक्षात्कार पाठक कर सके। इसके लिए लेखक को अपनी रचना की व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों पर ध्यान देना चाहिए। प्रसिद्ध पदों, प्रचलित मुहावरों और सूक्तियों का प्रयोग होना चाहिए। उसकी अभिव्यक्ति प्रभावशाली एवम् मनोमोहक होनी चाहिए। जिससे श्रोता या पाठक का हृदय प्रभावित हो। लेखक की शैली में शिष्टता, सौष्ठव और सुरुचिपूर्णता का होना आवश्यक है। अन्यथा सभ्य, संस्कृत एवम् शिष्ट समाज में उसकी कृति का आदर सम्भव नहीं। उसमें नाद सौन्दर्य का सहयोग एवम् प्रसंगानुसार ध्वनियों की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है।

अभिव्यंजना शैली में ही भाषा-शैली पर भी विचार किया जाता है। भाषा-शैली का विचार तद्भवनिष्ठभाषा, तद्भवतत्समात्मक भाषा, तत्समाश्रित संस्कृतनिष्ठ भाषा,

बहुभाषामिश्र आदि दृष्टि से किया जाता है। भाषा-शैली का वाक्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। शैली के वाह्य एवं आभ्यन्तर तत्त्वों की दृष्टि से वाक्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए भाषा-शैली के निम्नलिखित पाँच भेद किये जा सकते हैं—

(१) सुगम शैली, (२) गुम्फित वाक्य-शैली, (३) उक्ति प्रधान-वाक्य-शैली, (४) अलंकृत-शैली और (५) गम्भीर शैली।

सरल भाषा-शैली में सरल वाक्यों का तथा एक क्रिया वाले वाक्यों का अधिकांश प्रयोग होता है। इसका वाक्यविन्यास अतीव सरल होता है। इसमें प्रसाद गुण का होना आवश्यक है। इसके साथ ही उक्ति की अभिव्यंजना-प्रणाली में प्रभावोत्पादकता अर्थगम्भीरत एवं समर्थता भी आपेक्षित है। जिनमें से एक अधिक पूर्ण क्रिया-पदों का प्रयोग होता है। वे गुंफित वाक्य कहे जाते हैं। इस गुंफित वाक्य का जिस शैली में प्रयोग होगा उसे हम गुंफित वाक्य-शैली कहते हैं। यह शैली गूढ़ विषयों के निरूपण, प्रतिपादन एवं विवेचन में अधिक सहायक होती है। इस शैली में वाक्यों की सुसंघटित सुनियोजना होनी चाहिए एवं शिथिलता का अभाव भी रहना चाहिए। उक्ति प्रधान शैली में लेखक अपनी उक्ति में चमत्कार का सर्जन करने के लिए उक्ति-विदग्धता दिखाने के लिए लोक में प्रचलित रूढ़ियों, मुहावरों एवं सूक्तियों का अधिकांश मात्रा में प्रयोग करता है। मुहावरों या लोकोक्तियों का प्रयोग वस्तुतः लाक्षणिक होता है। इन लोकोक्तियों के प्रयोग से लेखक की भापा में प्रभावोत्पादकता एवं भावोत्तेजकता के साथ-साथ कुछ कुतूहक्ष भी उत्पन्न होता है। पर इनका प्रयोग स्वाभाविक रूप में होना चाहिए।

अलंकार-युक्त काव्य-वर्णन की शैली को अलंकृत शैली कहते हैं। लेखक इसकी योजना से अपनी अनुभूत रूप अमूर्त भावना को मूर्त आकार देता है जिससे उसकी उक्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है। वस्तु का रूप, गुण अथवा उसकी क्रिया का ब्रिम्ब-ग्रहण कराने में रचनाकार प्रस्तुत वर्णन से समर्थ नहीं हो पाता तब वह कभी लक्षणा शक्ति की सहायता से, कभी वस्तु के सांगोपांग भव्य वर्णन से और कमी-कमी अप्रस्तुत की योजना से सादृश्य-मूलक अथवा असादृश्य मूलक अलंकारों की सहायता से वस्तु के रूप, गुण अथवा क्रिया की तीव्र अनुभूति कराता है। उसकी उक्ति का अप्रस्तुत श्रोता या पाठक के रूप में सादृश्यादि की सहायता से प्रस्तुत विषय में वांछित भावना जागरित कराने में समर्थ हो तभी अलंकार-योजना सफल एवं समोचीन समझनी चाहिए।

जिसमें लाक्षणिक, व्यंजक और ध्वनिप्रधान व्यंजना प्रणालियों के कारण उक्ति के के सामान्य अर्थ के भीतर अभीष्ट भाव छिपा रहे उसे गम्भीर या गूढ़ शैली कहते हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र में अभिव्यंजना की तीन प्रणालियाँ—जिन्हें शब्द-शक्तियाँ कहते

हैं—अमिधा, लक्षण और व्यंजना हैं। इन्हीं तीनों के सहारे अभिव्यंजना के तीन प्रकार होते हैं—अभिधात्मक, लाक्षणिक और व्यंग्यात्मक। अभिधा द्वारा सीधे साधारण अर्थ का बोध होता है। मुख्यार्थ अर्थात् अमिधा द्वारा प्राप्त वाच्यार्थ को न ग्रहण करके उसी से सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण किया जाता है तो उसे 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं। इस अर्थ को बोध कराने वाली शब्दशक्ति को 'लक्षणा' कहते हैं। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों के अतिरिक्त जिस विलक्षण अर्थ का बोध होता है उसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। इस शक्ति के प्रयोग से शब्द की सामर्थ्य, उसकी शक्ति और प्रभावोत्पादकता बढ़ जाती है। भारतीय साहित्य में इसकी दो कोटियाँ मानी गयी हैं—प्रथम कोटि है जिसे ध्वनि कहते हैं एव द्वितीय उसकी अपेक्षा मध्यम कोटि है जिसे गुणीभूत व्यंग्य नाम दिया गया है। इन्हीं शब्द-शक्तियों के माध्यम से जिन उक्तियों को वक्रता के साथ अभिव्यक्त किया जाता है वे गूढ़-शैली के अन्तर्गत आती हैं। इनमें भी जहाँ अभिव्यंग्य शीघ्र समझ में आ जाय उसे हम सरल गूढ़-शैली कहेंगे और जहाँ अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता पड़ेगी उसे हम क्लिष्ट गूढ़ शैली कहेंगे।

साहित्य की विविध शैलियों पर ध्यान देने पर प्रमुख रूप से दो प्रकार की शैलियों का स्वरूप प्रचलित दिखायी देता है—पहला व्यक्तिप्रधान शैली और दूसरा विषयप्रधान शैली। जिस भावाभिव्यक्ति में लेखक की व्यक्तिगत अनुभूति, रुचि, प्रवृत्ति, मनोवृत्ति और भावना का प्रतिविम्ब दिखायी पड़ता है उसे व्यक्तिप्रधान-शैली के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। जिस भावाभिव्यंजना में व्यक्तिगत अनुभूतियाँ और भावनाएँ विषय-प्रवाह में तिरोहित हो जाती हैं वह विषय-प्रधान शैली के अन्तर्गत स्थान पाता है।

व्यक्तिप्रधान शैली को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में उस अभिव्यक्ति को रखा जा सकता है जिसमें रचनाकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यंजना स्वयं साक्षात् रूप में उत्तम पुरुष में करता है। इस प्रकार की शैली हिन्दी गद्य-साहित्य में पर्याप्त रूप में विकसित नहीं हुई है। द्वितीय वर्ग में उस रचना को रखा जा सकता है जिसमें लेखक अपनी आत्मानुभूतियों का वैयक्तिक रूप से वर्णन तो करता है, और उक्ति में आश्रय भी उत्तम पुरुष का ही लेता है, पर वह साक्षात् रूप से हमारे समक्ष नहीं आता है। कहानी, नाटक, उपन्यास आदि में ही इस प्रकार की शैली में रचनाकार साक्षात् रूप से हमारे सामने नहीं आता, अपितु उसकी रचना ही सन्देश-वाहक बन कर उसका सन्देश सुनाती रहती है। इस प्रकार की शैली में रचना करने के लिए लेखक को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार की शैली का वास्तविक रूप निबन्धों में ही दिखाई पड़ता है।

इस व्यक्तिप्रधान शैली के स्थूल रूप से तीन भेद किये जा सकते हैं—रागात्मक, इन्द्रियानुभवात्मक और ज्ञानात्मक।[1] जिस अभिव्यंजना में लेखक के वैयक्तिक राग की प्रवृत्ति-निवृत्ति के मूल में रहने वाली हृदय की भावना झलकती हुई स्पष्ट दिखायी देती है उसे रागात्मक व्यक्तिप्रधान शैली कहा गया है। इसमें लेखक का हृदय बाह्य प्रभावों से तो प्रभावित होता ही है साथ ही उसकी बोधवृत्ति, कल्पनाशक्ति एवं रागात्मिकावृत्ति को बहुत दूर की यात्रा करनी पड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप वह भाव-प्रवाह में निमग्न होकर बहने लगता है, जिससे वह विविध प्रकार की साहित्यिक कृतियों की रचना करता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह अपने विवेक एवं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इस अनेक रूपात्मक जगत् के विभिन्न व्यापारों का अनुभव करता हैं। लेखक अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत सुखद या दुःखद अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है। उसके वर्णन की इस शैली में उसके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलकता है। इसे व्यक्तिप्रधान-इन्द्रियानुभवात्मक शैली कहते हैं। इसे चित्रात्मक शैली भी कहा जा सकता है, क्योंकि इस शैली का प्रमुख उपयोग किसी वस्तु या भाव के चित्र-वर्णन में ही अधिक होता है।

ज्ञानात्मक शैली में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, इसलिए इसे बुद्ध्यात्मक शैली भी कहते हैं। ज्ञान-विज्ञान के जितने साहित्य-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें से अधिकांश इसी शैली के परिणाम हैं। इनका सम्बन्ध वैयक्तिकता से संपृक्त विवेक से रहता है।

किसी भी कृति का बहुत सूक्ष्म रूप से निरूपण करने पर उनमें कहीं न कहीं व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है, फिर भी उसमें प्रधानता वर्ण्य-विषय की ही रहती है। इस प्रकार की शैली को विषय-प्रधान शैली कहते हैं। इसमें व्यक्तित्व वर्ण्य-विषय में तिरोहित होकर अभिव्यक्त होता है। उसकी छाया स्पष्ट रूप से दिखायी नहीं देती। इसमें ज्ञान-विज्ञान-विषयक लेख, कलात्मक लेख आदि के साथ शास्त्रीय विवेचन भी होता है। इस शैली के भी तीन भेद किये जा सकते हैं—रागात्मक शैली, इन्द्रियानुभवात्मक शैली एवं ज्ञानात्मक शैली। रागात्मक शैली में मानव स्वभाव के अनुसार परिचालित होने वाली वृत्तियों का अंकन करते हैं। इन्द्रियानुभवात्मक शैली में इन्द्रियों पर पड़े बाह्यविषयों के प्रभाव का वर्णन होता है। इसमें रागात्मिका-वृत्ति रहती है, पर वह वैयक्तिक नहीं होती। ज्ञानमूलक शैली में लेखक अपने विवेक से वर्ण्य-विषय के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसका विश्लेषण करता है। इसमें न उसकी रागात्मिका वृत्ति की भाँति भावुकता दिखाई देती है, न तटस्थ दर्शक की भाँति कोरी अनुभूतियों का वर्णन। इसमें रचनाकार पूर्व पक्ष को प्रस्तुत कर, समस्या को सामने

---

१. शैली—करुणापति त्रिपाठी, पृ० २०१।

लाता है और पुनः उसके समाधान का यत्न भी करता है। विषयप्रधान रागात्मक शैली में महाकाव्य, भक्तिप्रधान-ग्रन्थ, वीर गाथाएँ आदि रचनाएँ होती हैं। बिम्बग्राहक संश्लिष्ट योजना के लिए इन्द्रियानुभवात्मक शैली उपयोगी होती है। आलोचनात्मक कृतियों की रचना मुख्यतः व्यक्तिप्रधान एवं विषयप्रधान रागात्मक एवं ज्ञानात्मक शैलियों में होती है।

साहित्यिक शैलियों की भाँति आलोचना शैली का विवेचन न करके गद्य-साहित्य के एक रूप विशेष का विवेचन किया गया है। आधुनिक युग में आलोचना का विकास विविध पद्धतियों के रूप में हुआ, पर प्रमुखता निर्णयात्मक एवं व्याख्यात्मक शैली की ही रही। ऐतिहासिक एवं अनुसंधानात्मक शैली भी व्याख्यात्मक शैली के ही विशेष विकसित रूप हैं। आलोचना की ही एक विशेष शैली ग्रन्थ-सम्पादन है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने समीक्षा, निबन्ध, भूमिका, प्रस्तावना और परिचय, सम्पादकीय लेख, व्याख्या, टीका, टिप्पणी, जीवनचरित आदि को रूपशैली के अन्तर्गत रखकर व्याख्या की है।[1] जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के विषयों के लिए भाषा और भाव-शैली का निर्णय आवश्यक होता है, उसी प्रकार किसी विषय, कथा या सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए उसकी रूपशैली का निर्णय भी आवश्यक होता है। किसी सामाजिक सिद्धान्त या विचार का उल्लेख करने के लिए कहानी या उपन्यास को सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है और शास्त्रीय या दार्शनिक विषयों के निरूपण के लिए निबन्ध को। लेखक ग्रन्थ लिखने से पूर्व विषय-वस्तु को प्रस्तुत करने के लिए काव्य-रूप अर्थात् रूपशैली का निर्णय करता है। 'किसी भी कलाकृति में विशेष सौंदर्य उत्पन्न करने का जो बौद्धिक नियोजन किया जाता है उसको कौशल कहते हैं।'[2]

भारतीय आलोचना का आरम्भिक रूप गुण-दोष का निर्णायक ही था। इसमें आलोचक रूढ़ियों का अनुसरण करते हुए आलोचना-सिद्धान्तों के आधार पर एक मानदण्ड बनाकर, आलोच्य कृति के समस्त गुण-दोषों का निरूपण करता है। इस पद्धति के आलोचक यदि अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करते और तटस्थता को त्याग कर किसी कृति में गुण ही गुण और किसी कृति में दोष ही दोष का उल्लेख करते हैं तो वह पद्धति निर्णयात्मक न होकर तर्कप्रधान या तुलनात्मक हो जाती है। इसमें वह अपने व्यक्तित्व को, अपनी व्यक्तिगत रुचियों को पूर्णतः भुला देता है। इस प्रकार की आलोचना के आधार लक्षण-ग्रन्थ में निर्धारित नियम ही होते हैं। यह आलोचना पद्धति इतनी रूढ़िग्रस्त हो गयी कि इसका स्थान आलोचना के क्षेत्र में अब गौण माना जाने लगा है। इसमें आलोचक न तो कभी भावाविष्ट होता है और न कभी उच्छृंखल

१,२. शैली और कौशल—सीताराम चतुर्वेदी—पृ० ३४८–४१३, पृ० ६।

ही। वह सदैव गम्भीर चिन्तनकर्ता के रूप में हमारे सामने आता है। अतः हम इसे विषयप्रधान शैली का रूप कह सकते हैं।

जहाँ आलोचक तर्कों के आधार पर पक्षपातीय दृष्टि से किसी कृति के गुणों का केवल खण्डन करते हुए उसमें दोष ही दोष का साक्षात्कार करता है या गुण का, इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक न होकर तर्कप्रधान हो जाती है। इसमें आलोचक की दृष्टि पूर्वग्रह एवं पक्षपात युक्त होती है, क्योंकि या तो वह वैयक्तिक परिमित ज्ञान के कारण तत्त्वानुसंधान में असमर्थ रहता है अथवा अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार आलोच्य कृति के एक पक्ष का ही निरूपण करता है। इस प्रकार के आलोचकों को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि में उनको रखा जा सकता है जो अपनी आलोच्य शक्ति की अपूर्णता के कारण वास्तविक गुण-दोष का निरूपण नहीं कर पाते। मिश्रबन्धुओं की देव और विहारी विषयक आलोचना इसीप्रकार की है। दूसरी कोटि में उन आलोचकों को रखा जा सकता है जो ईर्ष्या, क्षोभ, क्रोध आदि भावनाओं से प्रेरित होकर आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना करते हैं। मिश्रबन्धुओं की उक्त आलोचना को देखकर अनेक आलोचक क्षुब्ध होकर उसकी खण्डनात्मक आलोचना करने लगे। इस प्रकार तर्कप्रधानशैली गुण-प्रदर्शक भी होती है और दोष-प्रदर्शक भी। पर उसमें तर्क का आधार न्याय-संगत नहीं होता। इस शैली में निबन्धशैली की व्यक्ति-प्रधान शैली का पुट भी दिखाई पड़ता है। तर्कप्रधान शैली में पक्षपात की भावना के आने पर उसमें व्यक्तिनिष्ठ शैली का सामंजस्य हो जाता है। इसी दृष्टि से इस आलोचना को व्यक्ति-प्रधान शैली कहा जाता है।

निर्णयात्मक और तर्कप्रधान आलोचना शैली के अनन्तर व्याख्या-प्रधान शैली का विकास हुआ जिसे आलोचना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति कहा जा सकता है। इस पद्धति में आलोचक केवल शास्त्रीय नियमों के आधार पर आलोच्य कृति के गुण-दोष का निरूपण नहीं करता, अपितु वह उसके अन्तस् में प्रवेश कर सहृदयतापूर्वक उसपर विचार करता है। वह लेखक की तत्कालीन परिस्थितियों का भी अध्ययन करता है जिनसे प्रेरित होकर वह रचना करता है। वह उसमें आये गुणदोषों का निरूपण न कर उसके कारणों को समझने का प्रयास करता है। इस पद्धति में यथा-स्थान आलोचक आलोच्य कृति के दोषों का उद्घाटन भी करता है। करुणापति त्रिपाठी ने व्याख्या-प्रधान आलोचना शैली की उक्ति में स्पष्टता, प्रगल्भता और प्रचुरता गुणों को आवश्यक माना है।[1]

व्याख्या-प्रधान आलोचना ही अपने ऐतिहासिक एवं अनुसन्धानात्मक रूप में विकसित हुई। ऐतिहासिक पद्धति में आलोचक ऐतिहासिक पद्धतियों के आधार पर कृतिकार

---

१. शैली—करुणापति त्रिपाठी, पृ० २२८।

की सामाजिक, राजनीतिक, साम्प्रदायिक आदि परिस्थितियों की व्याख्या करते हुए उसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है और उसके औचित्यानौचित्य का विचार करता है। साहित्येतिहास की लेखन पद्धति इसी शैली के अन्तर्गत आती है। आलोचना के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक, प्रभाववादी, प्रगतिवादी आदि आलोचना-पद्धतियाँ प्रचलित हुईं, पर वे आलोचक की वैयक्तिक छाप से दूर नहीं हो पायीं। किसी एक आलोचक को किसी एक आलोचना पद्धति का शुद्ध आलोचक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुछ न कुछ मात्रा में अन्य आलोचना-पद्धतियों का प्रभाव भी उसपर दिखायी देता है, फिर भी उसकी लेखन-शैली के अधिक व्यवहार एवं मत को देखते हुए उसकी पद्धति का निर्धारण सम्भव होता है।

निबन्ध लेखन में भी अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं जिनमें विचारात्मक, वर्णनात्मक, भावात्मक, कथात्मक और आत्मव्यंजक प्रमुख हैं। विचारात्मक निबन्ध शुद्ध साहित्यिक कोटि में आते हैं। जिन निबन्धों में बुद्धि और हृदय दोनों का समुचित समन्वय हो वे ही शुद्ध विचारात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं। तार्किक विषयों का प्रतिपादन निगमन एवं आगमन शैली द्वारा हो सकता है। निगमन शैली में सिद्धान्त की बात प्रस्तुत करके उसके लिए अनेक तर्क और उन तर्कों की सिद्धि के लिए अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये जाते हैं। आगमन शैली में अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत करके उनमें से कोई सिद्धान्त निकाला जाता है। इस प्रकार के निबन्धों में प्रमुखता व्याप्ति की होती है। शुक्ल जी के अधिकांश निबन्ध निगमन शैली में लिखे गये हैं तथा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आगमन शैली में।

वर्णनात्मक निबन्ध के भी संश्लिष्ट एवं असंश्लिष्ट दो रूप हैं। संश्लिष्ट में वर्णन परिस्थिति से समन्वित होता है। असंश्लिष्ट वर्णन वहाँ होता है जहाँ फुटकल नाम गिनाये जाते हैं। वर्णनात्मक निबन्ध में लेखक एक-एक वस्तु का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करता है।

भावात्मक निबन्धों में भावों की व्यंजना प्रधान होती है। ये निबन्ध भी दो प्रकार की शैली में लिखे जाते हैं—एक धारा शैली और दूसरी तरंग शैली। जहाँ भाव की व्यंजना आदि से अन्त तक निरन्तर होती है वहाँ धारा शैली का प्रयोग समझना चाहिए एवं जहाँ उसकी व्यंजना बीच-बीच में हो वहाँ तरंग शैली। बाबू ब्रजनन्दन सहाय के अधिकांश निबन्ध धारा शैली में लिखित हैं तो डॉ० रघुवीर सिंह के तरंग शैली में।

कथात्मक निबन्ध की रचना कोई कथा लेकर की जाती है। इसके अन्तर्गत यात्रा-वर्णन एवं जीवनियाँ आती हैं। पद्मसिंह शर्मा के 'पद्मपराग' में संगृहीत निबन्ध इसी शैली में लिखे गये हैं।

आत्मव्यंजक निबन्ध में प्रधान रूप से लेखक का व्यक्तित्व व्यंजित होता है। ये निबन्ध भी दो प्रकार के होते हैं—एक में वर्ण्य विषय का महत्त्व नगण्य रहता है और दूसरे में उसका महत्त्व भी कुछ मात्रा में रहता है। प्रतापनारायण मिश्र के अधिकतर निबन्ध पहले वर्ग में और सरदार पूर्णसिंह के दूसरे वर्ग में आते हैं।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य-जगत् में प्रमुख रूप से आलोचक एवं निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। उनके अधिकांश निबन्ध भी आलोचनात्मक ही हैं। उनके निबन्ध इतने प्रौढ़ एवं व्यवस्थित रहे हैं कि उनके संग्रह में आदि से अंत तक एक प्रवाह दिखाई देता है। 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' ऐसे ही निबन्धों का संग्रह है, जो हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल के इतिहास के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। उनके 'गोसाईं तुलसीदास' नामक पुस्तक में भी अनेक निबन्ध संगृहीत हैं, पर इसमें धारा-प्रवाह कहीं भी विच्छृंखलित नहीं दिखाई देता। अतः लेखन-शैली एवं भाषा पर विचार भी उनकी आलोचनात्मक कृतियों एवं निबन्धों की दृष्टि से किया जायेगा।

आचार्य मिश्र की अभिव्यक्ति शैली

विषयानुरूप मिश्र जी की लेखन-शैली अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। उनकी विवेचन पद्धति मूलतः व्याख्यात्मक है। आचार्य शुक्ल की भाँति उनके स्वर में दृढ़ता एवं आत्मविश्वास है। यदि शुक्ल जी की दृढ़ता का परिचय इस रूप में मिलता है कि 'तुम मानो या न मानो मेरा कथन सोलहो आने ठीक है', तो इनका विश्वास इस रूप में मुखरित होता है कि 'मैं बिल्कुल ठीक कहता हूँ तुम समझने की चेष्टा तो करो।' शुक्ल जी की भाँति विषय-विवेचन के पश्चात् आप भी निष्कर्ष देने चेष्ट करते हैं। 'निष्कर्ष यह निकला कि', 'तात्पर्य यह है कि', 'स्पष्ट हो गया होगा कि', 'बात यह थी कि' आदि वाक्य-खण्डों के माध्यम से आप विषय को स्पष्ट करते हुए अपने मत का प्रतिपादन एवं स्पष्टीकरण करते हैं।

उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों एवं निबन्धों में विषय की ही प्रधानता है। 'जब वे परम्परागत ज्ञान का परिवेशन करते हैं तब इनका प्राध्यापक-रूप प्रधान हो उठता है। विवेच्य विषय की निर्भ्रांत स्पष्ट व्याख्या प्रसाद गुण-सम्पन्न सुखपाठ्य, व्यासशैली में करते हैं ताकि 'समुझै बाला, बालकहु बर्नन पंथ अगाध।'[1] अपने प्रिय कवियों के विवेचन में उनका गम्भीर विश्लेषणात्मक समीक्षक रूप प्रकट होता है। मूल के पद-पदार्थ के परिज्ञान के सहारे समीक्ष्य की तलस्पर्शी ईक्षा करते हैं और अत्यन्त चुस्त गठी हुई समास शैली में उसकी विशिष्टता का निरूपण करते हैं, किन्तु इसका समुचित

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—अभिनन्दन ग्रन्थ, (संस्मरण-सन्दर्भ) पृ० ७४।

रसास्वाद करने के लिए पाठक में भी गहरी साहित्यिक विदग्धता अपेक्षित है। जब वे अपने प्रतिपक्षियों का खण्डन करने में प्रवृत्त होते हैं तब उनका योद्धा-रूप व्यक्त होता है। परिहास—चटुल शैली में श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हुए विरोधी तर्कों के धुर्रे उड़ा देते हैं। उनके व्यंग्य तो 'मेरे जान बान हैं अचूक चापधारी के।'[1]

उनकी विषय-प्रधान विवेचनात्मक शैली का सहज रूप उनकी सभी आलोचनात्मक कृतियों एवम् निबन्धों में देखा जा सकता है। आचार्य शुक्ल की भाँति ही उनके विचारात्मक निबन्धों में निगमन शैली की ही प्रधानता है। उनके अधिकांश निबन्ध इसी कोटि के हैं। 'साहित्य और लोकजीवन', 'साहित्य की सामाजिकता', 'साहित्य में व्यष्टि और समष्टि', 'साहित्यिक पलायनवादी क्यों', 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति के मूल', 'द्रष्टा और स्रष्टा भारतेन्दु', 'साहित्य-साधना', 'अथातः साहित्य-जिज्ञासा', 'साहित्य का मानदण्ड', 'साहित्य का सन्तान', 'साहित्यशास्त्र और समालोचना', 'रणभूमि' आदि 'हिन्दी की सामयिक साहित्य' पुस्तक में संगृहीत निबन्ध इसी शैली में लिखे गये हैं। उनके विवेचनात्यक निबन्ध बुद्धितत्त्व एवं हृदयतत्त्व से युक्त हैं। यथा "साहित्य लोक का यही 'साहित्य' (सहिततत्व) सिखाता है, वह 'सहितता' ही नहीं सिखाता, 'स-हितता' भी सिखाता है। एक ओर वह स्वार्थ से विरत करके पदार्थ की ओर उन्मुख होने की दृष्टि प्रशस्त करता है। दूसरी ओर परार्थ करने का, कल्याण में लगन का पथ भी परिष्कृत करता है। आज संसार की दुर्गति का कारण है 'स्वार्थ'। इस स्वार्थ के अति सेवन से ही विश्वात्मा वेदना में चिल्ला रही है। स्वार्थ का यह आलिंगन तभी छूट सकता है, जब 'साहित्य' का 'भाग' जगे। लोक के निरानन्द का तम तभी दूर हो सकता है, जब 'साहित्य' के आनन्द की सात्त्विक ज्योति फूटे। जीवन की नीरसता का प्रसार तभी रुक सकता हैं, जब 'साहित्य' का 'रस' डूबने के लिए मिले। कोरे बुद्धिवादियों, हृदय को क्यों मारे डाल रहे हो, बुद्धि को क्यों विधवा बना रहे हो, उसका सौभाग्य-मंगल क्यों लूट रहे हो? उसे 'हृदय' के 'सहित' क्यों नहीं रहने देते, उसे 'स-हित' क्यों नहीं रमने देते? अर्थवादियो, लोभियो, तुम्हारा अर्थ, तुम्हारा लोभ मन को खा गया, और तो सब है पर 'मन' भर खा गया। फल यह है कि तुम्हें 'तोला' भर पचाने की शक्ति नहीं रह गई। स्मरण रखो यदि 'मानस' में डुबकी लगाना भूल जाओगे, रूपयों पर लोटते रहोगे तो वे ठीकरे हो जायँगे—ठीकरे। 'साहित्य' का 'सुवर्ण' ही तुम्हारे 'सुवर्ण' को चमका सकता है। 'रजत' को 'रज' होने से बचा सकता है। 'सहित' में ही तुम्हारा 'हित' है।"[2]

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—अभिनन्दन ग्रन्थ (संस्मरण संदर्भ), पृ० ७४।
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० १७७-१७८।

इस व्याख्यात्मक रूप में दृढ़ता, आत्मविश्वास एवं गाम्भीर्य है। सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्मय का दिग्दर्शन कराने वाली उनकी आलोचनात्मक पुस्तक 'वाङ्मय-विमर्श' को सूत्रात्मक शैली में निर्मित कहा जा सकता है। इतनी छोटी सी पुस्तक में हिन्दी साहित्य का इतिहास, साहित्य की विविध विधाओं का विवेचन, भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का निरूपण, भाषाविज्ञान, लिपि आदि विषयों का संक्षेप में जो स्पष्ट निरूपण हुआ है वह हिन्दी साहित्य के अन्य ग्रन्थों में अभी दुर्लभ है। वर्ण्य-विषय एवम् व्याख्यात्मक शैली ने इस ग्रंथ को विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के बीच समादृत कराया।

उनके संस्मरणात्मक निबन्धों में कथात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। इस कोटि में उनके द्वारा लिखी गई जीवनियों को भी स्थान दिया जा सकता है। इस शैली का प्रौढ़ रूप उनके 'महावीर-तीर्थ की यात्रा' निबन्ध में मिलता है। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत है, "जब हम लोग मुगलसराय पहुँचे तो तूफान मेल पैंतालीस मिनट लेट था। केडिया जी की उत्सुकता और उत्कण्ठा उस समय देखने ही योग्य थी। पूर्व की तरफ़ से कोई इंजन भी आता दिखाई पड़ता तो चौंककर कहने लगते—'गाड़ी आई गई।' उनकी मेघ-ध्वनि ने मुसाफिरों से कई वार उठा-बैठी की कसरत उस शीत में अनायास ही करा ली। राम-राम करते जब गाड़ी आई तो तिल रखने की कौन कहे, राई रखने की भी जगह न थी। मैं लपक कर खिड़की से घुसा तो मेरी धोती चीं बोल गई। किसी प्रकार सामान ठूँसा गया, और लोग पिल पड़े। रास्ते में बिस्तर के मोढ़े पर केडिया जी बैठे। राय साहब ने अपनी कला की बदौलत जगह बना ही ली। अन्त में केडिया जी को भी हम लोगों ने 'छ्वै छिगुनी पहुँचो गिलत' की नीति से अपने बीच, हृदय की भाँति ही, सुरक्षित कर लिया।"[1]

कहीं-कहीं उनकी दृष्टि वैयक्तिक प्रवाह में भी प्रवाहित हो गयी है। इसका अल्प-रूप में दर्शन खण्डन-मण्डनात्मक प्रसंगों में होता है। कबीर आदि सन्तों के प्रति उनका कहना है कि "इन सन्तों को समाजसुधारक कहना ठीक नहीं प्रतीत होता। समाजसुधारक वही कहा जा सकता है जो समाज को माननेवाला और समाज की रक्षा को माननेवाला हो। ये सन्त समाज को नहीं मानते। इनकी साधना सामाजिक साधना न होकर वैयक्तिक साधना थी और ये व्यक्तिगत उत्कर्ष की दृष्टि से ही इस प्रकार का उपदेश दिया करते थे। यह दिखला देना कि सन्त मत के माननेवाले जिस-जिस जाति या वर्ग में थे उस उस जाति या वर्ग के दैनन्दिन कार्यों से कभी पराङ्मुख नहीं हुए, इसलिए वे सामाजिक प्राणी माने जायें, तर्क के लिए तर्क है। जगत् के प्रति आकर्षण एवं जगत् के प्रति विकर्षण अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति दो मनःस्थितियाँ हैं जो इस

---

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६२।

बात का निर्णय देती हैं कि कौन सामाजिक है और कौन असामाजिक ।....इन सन्तों के वचन जगत् में प्रवृत्त करानेवाले नहीं हैं । इसलिए ये समाजसुधारक नहीं कहे जा सकते । इनका लक्ष्य ही यह नहीं था । इनके समाजसुधारक होने की सद्भावना आधुनिक मस्तिष्क की उपज है ।"[१] हम सभी सन्त कवियों में समाजसुधारक की दृष्टि मानें या न मानें पर कबीर में इसकी छाप अवश्य दिखायी देती है । हिन्दी-साहित्य-जगत् भी इसको स्वीकार करता है ।

उनकी समासात्मक गद्यशैली अत्यन्त सुगठित एवं संश्लिष्ट है । यथा-"केशव ने सामाजिक अमर्यादा का 'शव' निकाल कर शिवत्व का अधिक संयोजन तो किया, पर 'केशव' अपने 'केश' का क्या करते, शिव की शुक्लता आने पर भी श्रृंगार की श्यामता वे नहीं हटा सके । जब केशवदास की दासता भी इसका परिष्कार नहीं कर पाई तब पद्माकर भट्ट की 'भट्टता' क्या कर सकती है ।"[२]

'जो पद्माकर जल में जन्मे उन्होंने रससागर तरंगायित कर दिया । क्या कहें सागर में पद्माकर या पद्माकर में सागर ।'[३] 'उनमें श्रृंगार की रसिकता ही नहीं थी, रसिकता का भी श्रृंगार था ।'[४]

उनकी कहानियाँ हास्य-व्यंग्यपरक हैं, इसलिए उनमें व्यंग्यात्मक शैली का ही दर्शन होता है । इस शैली का रूप उनकी आलोचना में भी मिलता है, पर साधारण रूप में, क्योंकि यह उनकी प्रकृत शैली नहीं है । यथा—"साहित्य का उद्देश्य गम्भीर है, तुकबन्दी, शब्दों की तोड़ मरोड़ से बने लेखों, भरों के कट्ट-फर्र-ठट्ट आदि को या दरबारी लोगों की 'झुनझुन, टुनटुन' 'रंजन-मंजन-भंजन' को ही जो साहित्य समझ बैठे हों उनकी बात निराली है ।"[५]

उनमें संस्कृत एवं शिष्ट व्यंग्यात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं जो साधारण पाठक की समझ से दूर की वस्तु है । उदाहरणार्थ एक स्थल ऐसा प्रस्तुत किया जा रहा है जो उनके व्यक्तित्व एवं शैली दोनों के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक है । यह स्थल योगीन्द्र के महाकाव्य 'निसर्गजा' की सम्मति के लिए उनके द्वारा लिखा गया । मिश्र जी की दृष्टि में यह पुस्तक सम्मति देने योग्य नहीं थी, पर इसके लिए उनको बाध्य किया गया । उन्होंने इस पर अपनी सम्मति दी, पर हृदय में आविर्भूत भावनाओं को दबा नहीं सके । मैं यह कह नहीं सकता कि यह सम्मति इस पुस्तक में प्रकाशित हुई कि नहीं, पर यह मिश्र जी के यहाँ मुझे उनके ही हस्तलेख के रूप में (सन् १९७६)

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—आचार्य मिश्र, पृ० १४६ ।
२-४. वही (द्वितीय भाग), पृ० ५९७,६०३,५९७ ।
५. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० २० ।

में प्राप्त हुई थीं। वह है—"शकुन्तला के जीवनवृत्त ने भारत को असभ्य समझने वाले अंग्रेजों जैसे सभ्यताभिमानियों को भी उसके प्रति सबसे पहले आवर्जित किया, आदर दिलाया। इसका एक हेतु यह था कि उनके साहित्य में जीवन की यथार्थ भूमि के प्रति विशेष आकर्षण था और इसकी प्रवृत्तियाँ निसर्गंज थीं। इसी से इसके लिए निसर्गंज नाम भी चल पड़ा। भारतीय परवर्ती भाषाओं में कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अनुवाद तो पुष्कल हुए, पर आधुनिक युग में जब लेखकों एवं कवियों में प्राचीन कथा-वृत्तों को युग के प्रकृतिवादी प्रवाह के अनुरूप अनेक पुरावृत्तों को ग्रहण करने की उमंग हुई तब भी शकुन्तला के सहज जीवन के प्रति झुकाव एकाध को ही हुआ। इसका वास्तविक कारण यह प्रतीत होता है कि इसकी आभ्यंतरिक प्रवृत्तियाँ अपने सहज रूप को प्रकृति के आँगन में ही अठखेलियाँ करने को कहती हैं। इधर मानववाद की वृद्धि के साथ ही साहित्य प्रकृति के दृश्य प्रसार से आँखें समेटते चला जा रहा है। यही रहस्य है कि योगीन्द्र जी इस निसर्गंजा की ओर आकृष्ट हो सके। उसमें निसर्ग के प्रति सहज आकर्षण जो था। राष्ट्रीय हितचिन्तन से मुड़कर भारती की सेवा में वही हंस मानसावगाहन कर सकता है जिसमें भारत के प्राकृतिक जीवन और वैभव के प्रति स्वभावतः लोभ-लालसा हो। इसमें श्री योगीन्द्र जी के मानस की स्वतःस्फूर्त-उच्छलित मुक्ताओं का संकलन है। निसर्गजा का वृत्त तो रमणीय आधारशिला भर है। शास्त्रीय व्यवस्था की तुला इसका मानदण्ड नहीं है। सहज आत्माभिव्यक्ति की सरलिमा ही इसकी विशेषता है जिसे सर्वतीमुखी सहजता के दर्शन करने हों वह इसे निरख-निहार कर अवश्य आह्लादित होगा।"

मिश्रजी का साहित्यिक व्याख्यान सुनने का मुझे अनेक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसमें अधिकांश का प्रसंग 'रामचरितमानस' ही रहा। जिस प्रकार 'रामचरितमानस' 'सुरसरि सम सब कहँ हित' करने वाला है, उसी प्रकार उनका अभिभाषण, जो सहज विचारों की अभिव्यक्ति होता है, सभी श्रोताओं की श्रुति को शंकाविहीन करने वाला होता है। उनका अधिकांश अभिभाषण मैंने अध्यक्षीय पद से ही सुना है। अध्यक्ष का भाषण समापन भाषण होता है। सभा में श्रोतागण शिशिर में कान बन्द किये, वसंत में भ्रमर की मधुर गुंजार की तलाश में टकटकी लगाये बैठे रहते हैं। सभा में स्रोताओं का आदि से अन्त तक उपस्थित रहने का एक हेतु उनका अध्यक्षीय व्याख्यान होना भी होता है। उनका सहज धाराप्रवाह गम्भीर-व्याख्यान श्रोताओं पर अमिट छाप अंकित कर देता है। उनके व्याख्यान की भाषा और अभिव्यक्ति शैली का प्रवाह ऐसा होता है कि उसे प्रकाशित किया जाय तो प्रभावोत्पादक आलोचनात्मक पुस्तक ही बन जाये। सन् १९५६ ई० में भारतीय हिन्दी-साहित्य-परिषद् का अधिवेशन काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में हुआ। इसके विषय का प्रवर्तन उन्होंने ही किया था। इस संस्था के संस्था-

पक डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इस अवसर पर वोलते हुए कहा था कि मिश्र जी ने जैसा ध्वनिगद्य प्रस्तुत किया है, वैसा अव तक मैंने कहीं नहीं सुना था।[१] उनका व्याख्यान अत्यन्त सुसंकृत अभिव्यक्ति शैली एवं भाषा में प्रवाहित होता है। उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है —

"स्नानको,

आप अव स्नातक हो गए, स्नान कर लिया। नदीष्ण और पारंगत होना है अव आप सवको। आपको जिस तीर्थ में स्नान किया वह साधारण तीर्थ नहीं है, तीर्थराज है। यह वह तीर्थ है जिसमें त्रिवेणी का संगम है। यह त्रिवेणी उपासना, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी है—हिंदी की उपासना, साहित्य का ज्ञान और सम्मेलन का कर्म। त्रिवेणी का यह संगम असामान्य है, अलौकिक है। उपासना की श्वेतिमा, ज्ञान की अरुणिमा और कर्म की नीलिमा से यह त्रिवेणी त्रिगुणात्मिका है। पवित्रता, गुरुता और एकनिष्ठता की इसमें विशेषता है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के हिन्दी विश्वविद्यालय के स्नातक हैं आप सव। यहाँ के स्नातक को सबसे प्रथम हिंदी का व्रत लेना है। ... सर्वत्र एक सी विशेषता, क्रमशः उसका विकास हो गया है। 'अमर-भारती' के 'भारती' तत्त्व का ही संवर्धन होता आया है। 'अमर' का स्थान लिया 'नर' ने 'जन' ने। हिन्दी सुरभारती से नरभारती हो गई, जनभारती हो गई, भारत-भारती हो गई।[२]"

उन्होंने साहित्यिक जीवन के आरम्भिक क्षणों में कविताओं की रचना की, पर इनका वह रूप साहित्य-जगत् में प्रवाहित नहीं हो सका। इनकी इस रचना की शैली सवैये और कवित्त की ही अधिक रही है। इस प्रकार इनकी शैली विषयानुरूप विषय-प्रधान शैली है।

भाषा-शैली

उनके समीक्षात्मक-निबंध अधिकतर तद्भव-तत्समात्मक भाषा की मिश्र-शैली में रचित हैं। तद्भव-तत्समात्मक भाषा की मिश्र-वाक्यशैली दो या दो से अधिक ऐसे वाक्यों से मिलकर वाक्य बनाते हैं, जिनमें संस्कृत के तद्भव और तत्सम तथा देशी सभी शब्द रूपों का प्रयोग होता है। उनके निवंधों में तद्भव एवम् तत्सम शब्दरूपों की ही अधिकता है—यथा "साहित्य का जीवन से अटूट संबंध है। जो साहित्य जीवन से विच्छिन्न होकर चलता है वह वहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता। ज्यों-ज्यों जीवन

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र—अभिनंदन ग्रन्थ, (संस्मरण-संदर्भ) पृ० २५।
२. हिंदी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ३८८।

की धारा बल खाती, फैलती, सिकुड़ती, तीव्र होती, मंद पड़ती, स्वच्छ होती या गँदली होती हुई आगे बढ़ती है त्यों-त्यों साहित्य-धारा भी अपने रूप बदलती चलती है, कभी जीवन-धारा आगे बढ़ जाती है और कभी साहित्यधारा पिछड़ जाती है, पर ऐसा नहीं हो सकता कि जीवनधारा एकदम पृथक् रूप में बहती हो और साहित्यधारा बहुत दिनों तक उससे पृथक् रूप में बनी रहे। यदि कभी ऐसे अवसर आ उपस्थित होते हैं तो दोनों धाराओं को जोड़ने वाले भी उत्पन्न हो जाते हैं। अनिश्चितकाल तक दोनों की विच्छिन्नता रह ही नहीं सकती।"[1]

उनके आलोचनात्मक निबंधों में तत्समाश्रित संस्कृत भाषा-शैली भी दिखायी पड़ती है। इस शैली में गम्भीर लेख अत्यंत सुन्दर, उचित, प्रौढ़ तथा प्रभावशाली बन पड़े हैं। उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है—

"गंगावतरण में गंगा के अवतरण की कथा है। ब्रह्म के तीन प्रकार के रूप कल्पित किए गए हैं—निराकार, नीराकार और नराकार। निराकार ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म होता है, पर शेष दोनों रूप सगुण ब्रह्म के हैं। जगत् में जो चित् और अचित् या जड़ और चेतन हैं उनमें से जल (जड़) रूप और नर (चेतन) रूप में ब्रह्म की कल्पना की गई है। चेतन रूप में मत्स्य से लेकर राम तक के अवतारों में विकास है—एक ही चेतन तत्त्व के रूप का। राम के रूप में उस चेतन सत्ता का चरम विकास है। ब्रह्म ही जब द्रव होकर नीराकार हो गया तब वह गंगा के रूप में ब्रह्मद्रव कहलाया। गंगा का ब्रह्मद्रव नाम नीराकार ब्रह्मस्वरूप का प्रमाण है।"[2]

इस शैली में उनके अधिकांश सैद्धांतिक निबंध आते हैं। उनकी भाषा-शैली वर्ण्यविषयानुकूल है। उन्होंने अपने सैद्धांतिक आलोचनात्मक प्रसंगों में तत्समाश्रित संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली का प्रयोग किया है। 'वाङ्मय-विमर्श' एवं 'चिंतामणि-मंजूषा' इसी पद्धति में लिखित पुस्तकें हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

"साधारणीकरण का जो भी विचार किया गया है वह स्थायी भाव के परिपाक को लेकर अर्थात् आश्रय पात्र जिस भाव की प्रतीति कर रहा है वह प्रतीति साधारणीकरण का प्रमुख लक्ष्य है। यों साधारणीकरण संचारी भाव का भी होता है। पर संचारीभाव तो स्थायी भाव के सहायक मात्र हैं। इसलिए विचारणीय विषय यह है कि जहाँ रसात्मक प्रतीति होती है वहाँ साधारणीकरण का प्रश्न खड़ा होता है या नहीं। अर्थात् केवल भाव की व्यंजना में क्या होता है। वहाँ किसी से तादात्म्य होता है कि नहीं। भावमात्र की व्यंजना में 'विगलितवेद्यांतरशून्य' स्थिति नहीं होती। ग्राहक अपनी सत्ता

१,२. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० १, १०१।

के बोधपूर्वक वहाँ प्रवृत्त रहता है। रसात्मक प्रतीति का आयाम आचार्यों ने विस्तृत कर रखा है। सौंदर्यानुभूति भी रसात्मक प्रतीति कह दी गई है।"[१]

उनकी सुसंस्कृत भाषा-शैली में अहं का त्याग तो दिखाई देता ही है, साथ ही अभिव्यक्ति-शैली और भाषा का चमत्कार भी दिखाई देता है—

"यदि स्पष्टता दिखे तो श्रेय 'चिन्तामणि' को, प्रकाश मिले तो चन्द्र का ही समझिए। चकोर को तो अंगारों में भी किरणों का धोखा हो जाया करता है। 'मंजूषा' महार्घमणि के प्रकाश में घूमिल लगे इसकी चिन्ता नहीं है। धूमिलता से उसकी दीप्ति विशेष जान पड़े तो भी यह धन्य हो जाएगी। 'मंजूषा' वैयाकरणों के प्रवाह में प्रचलित रही है। इसलिए यदि इसमें बुध वैयाकरणों की सरणि कुछ अधिक झलके तो क्षमार्थी हूँ।"[२]

उन्होंने अपने वर्ण्य-विषय की पुष्टि हेतु बीच-बीच में संस्कृत के उद्धरण अधिकांश दिये हैं। अपने शब्दों का प्रयोग अत्यन्त संयमति रूप से किया है। उनका प्रत्येक वाक्य नपा-तुला एवं प्रत्येक शब्द लोक-प्रचलित एवं सधा हुआ होता है। उनकी भाषा में बाह्याडंबर का रूप न होकर अनुभूति का प्रवाह है। उनकी भाषा में विचारों की गम्भीरता एवं घनत्व है। उनके संस्मरणात्मक निबन्धों की भाषा मूर्तिविधायिनी शक्ति से ओत-प्रोत है। 'उन्होंने नमस्कार से छूटते ही कहा',[३] 'केडिया जी उछल पड़े,'[४] 'मैं लपककर खिड़की से घुसा तो मेरी धोती दबकर चीं बोल गई',[५] 'उनकी पगड़ी, दाढ़ी और मूछों पर धूल लोट रही थी;'[६] जैसे वाक्यों में मूर्तिविधायिनी शक्ति है। संस्मरणात्मक निबन्धों की भाषा भी उसी प्रकार स्वाभाविक बन पड़ी है, जिस प्रकार का प्रसंग प्रस्तुत करना है। यथा—"केडिया जी के 'थरमस' की टोपी न जाने कहाँ रास्ते में उतर गई। जिस थरमस ने गरम पूरियों और तरकारी से लोगों को उस सफर में बासी होने पर भी ताजी का स्वाद दिया था, उसका शिरस्त्राण ही गायब। खैर, दरवाजे पर हम लोग चारपाइयों पर जा बैठे।"[७]

उनकी भाषा-शैली में शब्दों की तुकबन्दी भी दिखाई पड़ती है जो अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। जैसे—'कसे भावों, अर्थों, विचारों को तून कर फैलाना पड़ता था, उन्हें वे धून कर फैला सके।'[८] 'वह चित्र में चकपकाहट चाहे जितना उपजा दे'[९] 'ज्ञान की

१,२. चिन्तामणि-मंजूषा—आचार्य मिश्र, पृ० ६७, ८३।
३,४. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ६२, ६१।
५-७. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ६२, ६३, ६४।
८. बिहारी—आचार्य मिश्र, पृ० ५८।
९. चिन्तामणि-मंजूषा—आचार्य मिश्र, पृ० ७९।

कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली'[६] आदि वाक्यों का प्रयोग किया है। उन्होंने कठिन शब्दों के अर्थों के स्पष्टीकरण हेतु उसके अंग्रेजी रूप भी कोष्ठ (ब्रैकेट) में देवनागरी लिपि में दे दिये हैं, जैसे—काव्यशास्त्र (पोयटिक्स), भाषणशास्त्र (रहेटरिक), समवेतगायन (कोरस), पाठशोधात्मक आलोचना (टेक्स्चुअल क्रिटिसिज्म), कला (आर्ट), ललित (फाइन), प्रेषणीयता (कम्युनिकेबिलिटी), प्रातिभज्ञान (इन्ट्यूशन), सौन्दर्य-मीमांसा (एस्थेटिक्स), प्रमा (कन्सेप्ट), उपादान (मैटर), आकृति (फार्म), प्रकृति (रियलिस्टिक), अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन), प्रतीकबद्ध (सिम्बालिकल), वाह्यार्थनिरूपक (आब्जेक्टिव) इत्यादि।

उन्होंने उन्हीं विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है जो हमारी खड़ी बोली में अपनाए गये हैं तथा वे हमारे व्यवहार में घिस-पिट गये हैं। जैसे—बिल्कुल, दावा, डफली, मुहावरे, बन्दिश, असली, मुसाफिर, तकलीफ, नाजुकमिजाजी, सलीका आदि अरबी के; हिमायती, रुख आदि फ़ारसी के; गड़बड़ी आदि बोली के; नोटवुक, प्रोग्राम, टाइम-टेबुल, रोड, कैमरा, हेडमास्टर, फैशन आदि अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने द्विभाषा-शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे—'छापाखाना'—इसमें छापा हिंदी का शब्द है और खाना फारसी का, 'ग्राफपद्धति'—इसमें ग्राफ अंग्रेजी का शब्द है और पद्धति हिन्दी का। उन्होंने 'दूध का दाँत गिरना', 'डूबते को तिनके का सहारा', 'अपना उल्लू सीधा करना', 'पाँव भारी होना', 'गुड़ गोबर कर देना', 'सिर पर उल्टी पगड़ी रख के बैठना', 'नाक काटना', 'पीठ ठोंकना', 'भैंस के आगे बीन', 'आँख लगाना', 'मुँह लटकाए चलना', 'अपनी डफली अपना राग', 'आँख खुलना', 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी कीजै', 'निन्यानबे के फेर में पड़ना', 'अपनी खिचड़ी अलग पकाना', 'मुँह की खाना' आदि मुहावरों का भी प्रयोग किया है। उन्होंने इन शब्दों, मुहावरों, पदों आदि का प्रयोग अभिव्यक्ति-शैली एवं भाषा के स्वाभाविक प्रवाह में किया है न कि आग्रहपूर्वक। उनकी आरम्भिक पुस्तकों में जहाँ अनुस्वार (ं) से भी काम चल सकता है वहाँ भी चन्द्र बिन्दु (ँ) का प्रयोग मिलता है, जैसे—हैँ, मैँ, मेँ, ओँ, योँ, ईँ आदि। वर्तमान हिन्दी भाषा की सरलीकरण की प्रवृत्ति ने इन सभी स्थलों पर अनु-स्वार के प्रयोग के लिए उनको भी बाध्य कर दिया। उनकी कविताएँ ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली में हैं।

इस प्रकार उन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा आविर्भूत एवं प्रवाहित विषय-प्रधान-विचारा-त्मक शैली को अपनाया। उनकी व्याख्यात्मक आलोचनाएँ विषयप्रधान ही हैं। शुक्ल जी ने हिन्दी-गद्य को प्रौढ़, गम्भीर, संयत, सामासिक एवं शक्तिशाली बनाया। मिश्र

---

६. भ्रमरगीतसार—सह-संपा० आचार्य मिश्र, आमुख १ पृ० १।

जी ने इस प्रवाह को बनाये रखने का प्रयास किया और सक्षम भी रहे। भाव और भाषा की सामञ्जस्यपूर्ण उनकी गद्यशैली वस्तुतः संस्कृतगर्भ है। गंभीर विषयों का प्रतिपादन गंभीर एवं संस्कृतनिष्ठ शैली में ही किया है उनकी भाषा शैली प्रौढ़, स्पष्ट, परिष्कृत एवं विशुद्ध है। इसमें गम्भीर विवेचन, अनुसन्धानात्मक चिन्तन, निर्भ्रांत अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सदैव विद्यमान रहती है। उनमें वाणी की गरिमा, कथन की शालीनता, स्वभाव की हास्यप्रियता, विद्वत्ता की वक्रोक्ति एवं गम्भीरता सब कुछ दर्शनीय हैं।

उपसंहार

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का जीवन बहुविध साहित्य-सर्जना से सम्पन्न है। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं को साज-सँवार कर अपनी साहित्यिक प्रतिभा का उन्मीलन किया है। वे युगपत् समीक्षक, सम्पादक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, टीकाकार, कवि, कहानीकार एवम् अनुवादक हैं। इन समस्त विधाओं में उनका समीक्षक रूप अधिक प्रबल रहा है। इसी समीक्षक व्यक्तित्व की परिणति उनके सम्पादक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार एवं टीकाकार रूप में हुई है। उनके अधिकांश निबन्ध समीक्षात्मक ही हैं जिनमें उनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विचार मुखरित हुए हैं। उन्होंने उन्हीं पुस्तकों की टीका-टिप्पणी भी की है जिनका सम्पादन स्वयं किया है। वस्तुतः टीका-टिप्पणी सम्पादन-शैली का ही एक अंग है। पाठ-सम्पादन एवं साहित्येतिहासलेखन भी समीक्षा की विशेष पद्धतियाँ ही हैं।

जीवन, साहित्य और समालोचना के मूलभूत तत्त्वों को ग्रहण कर आधुनिक युग-चेतना के परिवेश में भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा की चिन्तन-पद्धति को प्रतिष्ठित करने में मिश्र जी सक्षम रहे हैं। उनकी सैद्धान्तिक दृष्टि के अवलोकनानंतर उनको शास्त्रीयतावादी समीक्षक कहा गया है, पर 'शास्त्रीयतावादी' शब्द का अर्थ संकुचित दृष्टि से करना वांछित नहीं, जैसा कि आज-कल के आलोचक किया करते हैं। 'शास्त्रीयतावादी' से तात्पर्य प्राचीन रूढ़ि का पालन करने वाला नहीं, साहित्यशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अवलोकन करने वाला है। मिश्र जी उसके द्वारा संकेतित मार्ग पर दृष्टि खोलकर चलने वाले हैं, न कि उसके आग्रह को स्वीकार करने वाले। शास्त्र उनकी दृष्टि में हितशासक है। उन्होंने शास्त्रीय तत्त्वों को अपनी प्रतिभा का अंग बनाकर उनका स्वाभाविक रूप से उपयोग एवं विनियोग किया है, न कि अन्धानुकरण। इस प्रकार उनको कोरा शास्त्रवादी नहीं कहा जा सकता। इस विषय में उनका कहना भी कि "साहित्यशास्त्र का इतना महत्त्व होते हुए भी किसी निर्माता का शास्त्रस्थिति के संपादन में प्रवृत्त होना वांछनीय नहीं है। ऐसे ही शास्त्र के चिंतन-मनन का अभ्यास करने पर भी ग्रहीता को काव्य में शास्त्रस्थिति सम्पादन का अनुसन्धान नहीं करना चाहिए। शास्त्र मार्ग-निर्देश के लिए है। उसके विशेष आग्रह से काव्य बिगड़ता है और उसके विशेष हठ से कवि की स्वच्छन्दता का अपहनन होता है।"[1] उन्होंने शास्त्र को

---

१. वाङ्मय-विमर्श—आचार्य मिश्र, पृ० १३९।

लचीला माना है जिससे सहज रूप में उसका विकास भी सम्भव है। शास्त्रीय समीक्षक केवल शास्त्र के सूत्रों के आलोक में ही सामयिकता की उपेक्षा करके चलने वाला नहीं होता।

उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र की परम्परा को ग्रहण कर चलना उपयोगी माना है। रस, अलंकार के सिद्धान्त अपने समय के अनुरूप बनने पर भी साहित्य के शाश्वत रूप को लेकर चलने वाले हैं। उनकी दृष्टि में यदि आज भी उसके आधार पर काम किया जाय तो इस देश के नये साहित्य का गम्भीर अध्ययन हो सकता है। वे पुराने के सहारे आगे बढ़ने के पक्ष में इसलिए हैं कि साहित्यधारा विच्छिन्न न होकर अविच्छिन्न रहे और उसमें आद्यन्त व्यवस्था बनी रह सके। भारत में साहित्य को जीवन की दृष्टि से ही देखने का प्रयत्न रहा है। साहित्य की दृष्टि सौंदर्य पर रही अवश्य, पर सौंदर्य से आकृष्ट होकर जीवन की महत्ता छोड़ देना ठीक नहीं। मिश्र जी की दृष्टि में प्रत्येक नये प्रयास की नींव प्राचीनता पर खड़ी हो तो अच्छा है।

उनको कुछ आलोचक भारतीय साहित्यशास्त्रीय परम्परा एवं आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का अनुकर्ता एवं प्रबल समर्थक मानते हैं। वास्तविकता यह है कि उनको भारतीय परम्परा एवं शुक्ल जी की मान्यताओं से प्रभावित अवश्य माना जा सकता है, पर अनुकर्ता नहीं। आचार्य शुक्ल की मान्यताओं से प्रभावित होते हुए भी वे श्रृंगारकाल के मूल्यांकन में उनसे सहमत नहीं हो सके। इसका कारण यह है कि काव्य सब जगह आदर्श को लेकर नहीं चलता। उसमें जीवन का कुछ यथार्थ भी आता है। उनका मत है कि रीतिकाल वस्तुतः जीवन के यथार्थ पक्ष को विशेष रूप में ग्रहण करने वाला था। आदर्श की दृष्टि से उसे कुत्सित कह देने से हानि होगी। प्रत्येक प्रकार के साहित्य की अपनी विशेषताएँ होती हैं। उनका अवलोकन आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ऐसा नहीं कर सके। जहाँ शुक्ल जी भारतीय शास्त्र-परम्परा को आत्मसात् करके चलते हैं वहाँ तक तो मिश्र जी उनके साथ हैं। जहाँ वे परम्परा को छोड़कर अपना वैयक्तिक आदर्श अपनाते हैं वहाँ वे अपने ढंग से सोचते हैं। शुक्ल जी ने साहित्य में स्वकीय सामाजिक आदर्श को अधिक महत्त्व दिया, पर इनको साहित्यिक आदर्श ही मान्य रहा।

'वाङ्मय-विमर्श' को आचार्य मिश्र की सैद्धान्तिक मान्यताओं की 'कुंजी' कहा जाय तो अयुक्तिसंगत नहीं होगा। उनके 'वाङ्मय-विमर्श' में शास्त्र का आलोड़न, काव्य का अनुशीलन, इतिहास का अवलोकन, भाषा का विवेचन, लिपि का संवर्धन एवं भारतीय और अभारतीय प्रवृत्तियों की रूपरेखा का आकलन है। उन्होंने साहित्य को अलौकिक नहीं माना। साहित्य की सत्ता को प्रातिबिम्बिक सत्ता कहा है, प्रातिभासिक (भ्रमात्मक) नहीं। उसे सत्य का प्रतिबिम्ब बताया, असत् का भ्रम नहीं। उन्होंने साहित्यानुभूति

अथवा रसानुभूति को वैयक्तिक सुख-दुःख से ऊपर माना जिसे अलौकिक कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से उन्होंने साहित्य का लक्ष्य भी रसानुभूति को ही माना, मनोरंजन को नहीं। रस का सम्बन्ध अनुभूति से है। अनुभूति के उन्होंने दो प्रकार बताये—प्रत्यक्षानुभूति एवम् काव्यानुभूति। प्रत्यक्षानुभूति को भावानुभूति और काव्यानुभूति को रसानुभूति कहा है। प्रत्यक्षानुभूति से काव्यानुभूति को कुछ परिष्कृत बताया। प्रत्यक्षानुभूति में मन की दोनों स्थितियों—सुखात्मक एवम् दुःखात्मक को स्वीकार किया। पर काव्यानुभूति में इन दोनों का एकीकरण हो जाता है जो पहली से परिष्कृत होती है। इसी परिष्कृत अनुभूति को 'रस' कहा है।

उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्र को प्रवाह की दृष्टि से दो भागों विभक्त किया है—चारुत्वप्रवाह और अनुभूतिप्रवाह। इनमें पहले का सम्बन्ध श्रव्यकाव्य और दूसरे का दृश्यकाव्य से स्थापित किया है। साहित्य निर्माण की त्रिकोणात्मक स्थिति स्वीकार करते हुए कर्ता और वर्ण्य को चारुत्वप्रवाह से सम्बद्ध माना तथा ग्रहीता और अनुकार्य को अनुभूतिप्रवाह से। चारुत्वप्रवाह में मुख्य अलंकार और रीति की पद्धति बतायी तथा अनुभूतिप्रवाह में रस, ध्वनि और अनुमिति की। वृत्त-चित्र द्वारा उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि रस, ध्वनि और अनुमिति का अनुभूतिप्रवाह चारुत्वप्रवाह (अलंकार, रीति, गुण) को गर्भांकित कर लेता है और वे सब औचित्य द्वारा परिचालित होते हैं। उन्होंने चारुत्वप्रवाह में 'वर्णना' की और अनुभूतिप्रवाह में 'चर्वणा' की प्रमुखता बतायी। इस प्रकार साहित्य को अनुभूतिप्रवाह और चारुत्वप्रवाह की दृष्टि से देखना उनकी अपनी विशेषता है।

साहित्य के विभिन्न रूपों पर उन्होंने भारतीय साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से विचार किया है, जिसकी व्याख्या में उनकी अपनी दृष्टि भी समन्वित रही है। लेकिन शैली, अर्थ और बंध की दृष्टि से उन्होंने काव्य के तीन भेद किये हैं—

(१) शैली की दृष्टि से—गद्य, पद्य, मिश्र।

(२) अर्थ की दृष्टि से—उत्तम, मध्यम, अधम।

(३) बन्ध की दृष्टि से—प्रबन्ध और निबंध।

प्रबन्ध में महाकाव्य और खण्डकाव्य दो भेद किये गये, पर मिश्र जी ने इन दोनों के मध्य की स्थिति का उल्लेख करते हुए साहित्यदर्पण के आधार पर हिन्दी में भी 'एकार्थकाव्य' की कल्पना की, जो आज हिन्दी साहित्य के अधिकांश विद्वानों को स्वीकार्य है। गंगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि को इसी कोटि का काव्य बताया गया है। संस्कृत की गद्य-पद्य रचनाओं में उन्होंने केवल शैलीगत भेद माना

है, पर हिन्दी में वर्ण्य-विषय का भी भेद स्वीकार किया है। उन्होंने हिन्दी में लिखी जाने वाली कथात्मक लम्बी कविताओं को 'काव्य-निबन्ध' कहा है। इसमें बन्ध तो स्वीकार किया, पर प्रबन्ध नहीं। 'द्वापर' और लाला भगवानदीन द्वारा प्रणीत 'वीर-पंचरत्न' को ऐसे ही काव्य-निबन्धों का संग्रह बताया।

हिन्दी में तुक का प्रचलन उन्होंने अपभ्रंश की रचनाओं से माना है। तुकान्त को उन्होंने हिन्दी की बहुत बड़ी विशेषता बताया है, जो अँग्रेजी साहित्य के प्रभाव से छूटती जा रही है। तुकान्त पर भी उन्होंने दो दृष्टियों से विचार किया है—एक तो चरण के अन्त में पड़ने वाले स्वरों एवम् अक्षरों के आधार पर और दूसरे प्रत्येक चरण के अन्य चरणों के समन्वय से प्राप्त स्वरूप के आधार पर। इनमें पहले को अन्तर्वर्ती और दूसरे को बहिर्वर्ती तुक कहा है। 'गंग कवित्त' की भूमिका में उन्होंने 'पिंगल' पर विचार करते हुए 'सवैया छन्द' का सम्बन्ध लोकगीतों में प्रचलित जनमानस के भावों के एक व्यक्तीकरण में प्रयुक्त प्रकार के 'लोक-छन्द' को बताया, तथा उसके वर्तमान स्वरूप एवम् विस्तार पर नवीन विमर्श किया।

मिश्र जी शुक्ल-समीक्षा-पद्धति की ही अगली कड़ी हैं। उनका यह आग्रह है कि रस-सिद्धान्त का समुचित विकास कर उसके आधार पर अपना नया समीक्षाशास्त्र हिन्दी के आलोचक गढ़ें। उन्होंने खेद के साथ लिखा है कि 'पश्चिमी आलोचना का पदानुसरण करने का फल यह है कि यहाँ नया आलोचनाशास्त्र नहीं बन पा रहा है।'[1] उन्होंने परम्परा की रूढ़ि को नहीं, उसके सहज विकास को स्वीकार किया है। वे मूलतः रसवादी हैं और रस-मीमांसा को अधिक विकसित करने के पक्षपाती हैं। रसभूमि को लौकिक सामाजिक भूमि सिद्ध करना तथा देश-प्रेमपरक रचनाओं को दास्य रस के अन्तर्गत एवं समाज-सुधार, समाज-सेवा....यहाँ तक कि समाजवादी रचनाओं को पुराने मायारस के नवीन संस्करण 'समाज रस'[2] में अन्तर्भुक्त करने का उनका प्रयास उनकी स्वच्छन्द साहित्यशास्त्रीय दृष्टि का परिचायक है। स्वतन्त्र साहित्यशास्त्र के निर्माण के लिए उनका यह दिशा-निर्देश विचारणीय है। उनकी दृष्टि से आधुनिक युग में समन्वित विवेचन होने के पूर्व भारतीय रस-मीमांसा और पश्चिमी कला-मीमांसा का पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक विवेचन तटस्थ और विदग्ध बुद्धि से हिन्दी में होना चाहिए। फिर भी दोनों की परस्पर तुलना और युगानुरूप ग्राह्यता का विचार होना चाहिए।[3]

---

१. वाङ्मय विमर्श—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १४३।
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य—आचार्य मिश्र, पृ० ८।
३. हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० २)—आचार्य मिश्र, पृ० ३३४-३३५।

हिन्दी साहित्य की कृतियों एवं कृतिकारों का अध्ययन और मूल्यांकन या तो जीवन और समाज से ग्रहण की गई साहित्येतर जीवन दृष्टियों के आधार पर हुआ या जीवन और समाज से विच्छिन्न साहित्य को केवल कला मानने वाली कलावादी दृष्टियों से। इन दोनों दृष्टियों ने साहित्य की विशिष्ट प्रकृति को पहचाने बिना दो अतिवादों को जन्म दिया। अतः इन दोनों दृष्टियों में से किसी के द्वारा न तो साहित्यिक कृति का समुचित विवेचन-विश्लेषण ही हो सका, न मूल्यांकन ही। आचार्य मिश्र की दृष्टि वस्तुतः समन्वयवादी है। उन्होंने साहित्य को जीवन से अविच्छिन्न मानते हुए भी जीवन का पर्याय नहीं माना। साहित्य और जीवन की सीमाएँ पृथक्-पृथक् स्वीकार की गयी हैं। साहित्य की निजी प्रकृति के अनुरूप ही साहित्यिक अथवा साहित्यशास्त्रीय दृष्टि का निर्माण हुआ है। इस दृष्टि का जन्म जीवन और समाज की वस्तुवादी मान्यताओं से नहीं हुआ है। साहित्य की सत्ता को जीवन और समाज से सर्वथा पृथक् भी नहीं माना गया। उन्होंने कृति का विश्लेषण एवं मूल्यांकन उसकी समग्रता की दृष्टि से करना उचित माना है। इसके लिए उन्होंने कहीं शास्त्र का आधार लेना ठीक माना है तो कहीं इतिहास का। इस प्रकार उनकी समीक्षा-पद्धति के तीन अनिवार्य अंग हैं—शास्त्रीयता, ऐतिहासिकता और समग्रता। उनकी इसी दृष्टि ने घनआनन्द, केशवदास और तुलसीदास सदृश परस्पर विरोधी विधियों से काव्य साधना करनेवाले कवियों की कृति का मूल्य समान सामर्थ्य से आँका है। कहना नहीं होगा कि हिन्दी में समीक्षा की इतनी साहित्यिक दृष्टि जो साहित्य को साहित्यिक मानदण्डों पर जीवन से बिना अविच्छिन्न किए ही आँक सके, हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में पहली बार देखने को मिली है। इसे हिन्दी समीक्षा का युगान्तर भी कह सकते हैं।[1]

व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका अधिकांश कार्य मध्ययुगीन काव्यों का मूल्यांकन रहा है। उन्होंने हिन्दी साहित्यकारों में आदिकाल के विद्यापति, भक्तिकाल के तुलसीदास और सूरदास, रीतिकाल के घनआनन्द और बिहारी, आधुनिककाल के भारतेन्दु, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद और प्रेमचन्द्र को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी व्यावहारिक दृष्टि की तटस्थता ने ही हिन्दी साहित्य के रीतिकाल को समृद्ध एवं पुष्ट बनाया है। वे मैथिल कोकिल विद्यापति को हिन्दी साहित्य का आदि कवि मानते हैं। पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वे घनआनन्द से हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी धारा का आरम्भ मानते हैं।

---

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व—बी॰ रामकृष्ण रेड्डी, पृ॰ ३५८।

आधुनिक व्यक्तिवादी आलोचक 'रीतिकाल' के साहित्य एवं साहित्यकारों को संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकर्ता मानते हुए उनको हीन दृष्टि से देखते हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए मिश्र जी ने कहा है कि भारतीय साहित्य का अवलोकन भारतीय दृष्टि से करना ही उचित होगा। रीतिकाल को हेय दृष्टि से देखने वालों के पास वस्तुतः अपनी भारतीय दृष्टि न होकर पाश्चात्य दृष्टि रही है। रीतिकालीन काव्यों का मूल्यांकन उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास और सम्पादित पुस्तकों की आलोचनात्मक भूमिकाओं में किया है। आधुनिक साहित्य-सम्बन्धी इनके विचार फुटकल आलोचनात्मक निबन्धों में व्यक्त हुए हैं, जिनके कतिपय निबन्धों का संग्रह 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' है। 'छाया रहस्य', 'प्रगतिवाद' आदि के विवेचन में भी उनकी स्वतन्त्र दृष्टि एवं निष्पक्ष साहित्य चिन्तन का स्वरूप स्पष्ट है। किसी पक्ष विशेष के समर्थक उनकी समग्र दृष्टि को परखने में कठिनाई का अनुभव करते हैं और साहित्यालोचकों में उनके स्थान एवं स्थापनाओं को उचित स्थान नहीं दे पाते।

उनकी आलोचना पद्धति व्याख्यात्मक है जो अनुसन्धानपरक एवं इतिहासोन्मुखी है जिसकी पूर्ण प्रतिष्ठा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन से होती है। आधुनिक युग के समीक्षकों की समीक्षा-पद्धतियाँ आचार्य शुक्ल की वृक्षरूपी समीक्षा पद्धति के एक-एक स्कंध के रूप में विकसित हुई हैं। पर मिश्र जी की समीक्षा-पद्धति उसका तना या धड़ है। तात्पर्य यह की शुक्ल जी की दृष्टि का समग्ररूप में विकास इनकी समीक्षा-पद्धति में हुआ है, अन्य समीक्षक तो उनकी एक-एक दृष्टि में ही उलझे रहे।

आचार्य मिश्र का साहित्येतिहास लेखन-पद्धति में कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति विशेष आग्रह रहा है। उनके सिद्धान्त प्रायः वे ही रहे हैं जो काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दो साहित्य के बृहत् इतिहास[1] के समस्त भागों में सम्पादन-समिति द्वारा सामान्य रूप से अपनाये गये।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के अनुसन्धान के आधार पर हिन्दी साहित्य का शुद्ध इतिहास प्रस्तुत करने का आरम्भिक कार्य मिश्रबन्धुओं ने किया। शुक्ल जी ने इस इतिहास की विवेचना की है। पश्चिमी देशों में इतिहासलेखन के अन्तर्गत प्रवृत्तियों का ही अधिक विचार होता रहा है। शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में मुख्यतः प्रवृत्तियों पर ही अधिक विचार किया है। हिन्दी के साहित्येतिहासलेखन में शुक्ल जी का मौलिक योगदान रहा है। इस इतिहास की आधारशिला मिश्रबन्धुओं का इतिहास है। शुक्ल जी के पश्चात् उनके इस कार्य को आगे बढ़ाने में आचार्य मिश्र ने पर्याप्त

---

१. द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग ६, पृ० २-४।

योगदान दिया है। इनके इतिहास में प्रवृत्तियों का विचार और विवादास्पद विषयों का समाधान मिलता है। उन्होंने इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल द्वारा अपूर्ण एवं भावित कार्यों को पूरा किया। उन्होंने किसी विषय को विवादास्पद बनाने का प्रयत्न न कर उसे सुलझाने का प्रयत्न किया है।

उन्होंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल और मध्यकाल को ही साहित्य के इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें उनके शुद्ध साहित्य के प्रति आग्रह और साहित्य की आन्तरिक प्रवृत्ति को प्रमुखता देने की दृष्टि भी स्पष्ट हो जाती है। सिद्धों-नाथों की बनियों को शुद्ध साहित्य न होने से ही उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया। उनका कहना है कि "हिन्दी साहित्य के भीतर खींची जाने वाली समस्त रचना साहित्यिक रचना नहीं है। सिद्धों-नाथों की बनियाँ हिन्दी भाषा में कही गई हैं, उसकी मानी भी जा सकती हैं, पर हिन्दी-काव्य-धारा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। उससे सम्बद्ध होने के निमित्त उनका काव्य होना सबसे प्रथम आवश्यक है। काव्यात्मक भंगिमा और सर्वसामान्य भावसत्तात्मक संवेदना के बिना शुद्ध सर्जनात्मक साहित्य के परिसर में कोई रचना नहीं आ सकती।"[1] उनकी इसी दृष्टि ने हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त 'कबीर' की रचना को साहित्य में परिगणित नहीं होने दिया।

साहित्येतिहासलेखन के सन्दर्भ में ही उन्होंने साहित्यपयोगी दार्शनिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों का शास्त्रीय विवेचन किया है इसमें उन्होंने भक्ति के स्वरूप के विषय में उसके विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों के विकास और प्रसार का शास्त्रीय विवेचन किया है। उनकी भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि अनेक पुस्तकों की प्रामाणिकता स्पष्ट करने में सहायक रही है। अनेक मतवादों की व्याख्या के पश्चात् उन्होंने निष्कर्ष रूप में चन्द को पृथ्वीराज का परवर्ती प्रमाणित कर 'पृथ्वीराजरासो' के वर्तमान स्वरूप की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त किया है। नरपति नाल्हकृत 'बीसलदेवरासो' की प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता पर भी सन्देह प्रकट किया है। उसमें आए 'मूँगफली, गज' आदि शब्दों की भाषावैज्ञानिक व्याख्या कर उसके रचना-काल को बाद का बताया। उन्होंने जैनों के अपभ्रंश को भाषा की दृष्टि के कृत्रिम माना है और साहित्य की स्वाभाविक सरणि सर्वसामान्य भाव सत्ता से पूर्ण सम्बद्ध नहीं कहा।

हिन्दी-साहित्येतिहास-लेखकों ने विद्यापति को आदिकाल के फुटकल खाते में डाल दिया था। भाषावैज्ञानिकों ने भाषा की दृष्टि से इनका अध्ययन हिन्दी साहित्य के

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, (भा० १)—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पुरोवचन पृ० ४।

अन्तर्गत स्वीकार ही नहीं किया। मिश्र जी अनेक भाषावैज्ञानिक तर्कों एवं भारतीय आर्यभाषा के विकास का रूप प्रस्तुत कर स्पष्ट किया कि उनकी भाषा का रूप हिन्दी के प्राचीन रूप के बहुत निकट है। विद्यापति के सम्पूर्ण रचनात्मक व्यक्तित्व को भाषा की प्रकृति, साहित्य की परम्परा एवं सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से विचार कर उनको हिन्दी साहित्य का प्रथम (आदि) कवि बताया।

साहित्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से ही उन्होंने कालों का विभाजन एवं नामकरण किया है। वीरगाथाकाल और रीतिकाल आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये ये नामकरण जहाँ बाह्यार्थ बोधक हैं वही मिश्र द्वारा किये गये नामकरण वीररसकाल, शृंगारकाल और प्रेमकाल आभ्यन्तरार्थ-बोधक। हिंदी के रीतिकाल के विवेचन में उनकी देन अभूतपूर्व है। इस काल का परिवर्धन एवं भ्रांतियों का परिष्कार उन्होंने इतिहास लेखन, अनुसंधान, पुस्तकों के सम्पादन, टीका-टिप्पणी तथा विस्तृत आलोचना द्वारा किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत 'हिन्दी साहित्य का अतीत' नामक इतिहास आधे से अधिक में उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल का विवेचन करता है। अपने इस विस्तृत विवेचन में इस काल के आभोग में आने वाले समस्त कवियों एवं उनके काव्यों की शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि से व्याख्या की है। साथ ही टीका-परम्परा में आने वाले टीकाकारों का भी उल्लेख किया है।

शृंगारकाल (रीतिकाल) के इस विस्तृत आभोग को उन्होंने तीन उपविभागों में विभाजित किया—(१) रीतिबद्ध काव्यधारा, (२) रीतिसिद्ध काव्यधारा, और (३) रीतिमुक्त काव्यधारा। जिन विद्वानों ने इस काल का नाम 'शृंगारकाल' नहीं सकारा, उन्होंने भी इस उपविभाग का किसी न किसी रूप में समर्थन किया है। आचार्य शुक्ल के समय अनुसन्धान की प्रौढ़ सामग्री पुष्कल मात्रा में नहीं थी, जिससे चाह कर भी वे इस काल का उपविभाग नहीं कर सके। इस विषय में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "रीतिबद्ध ग्रन्थों की बहुत अधिक छानबीन और सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर आगे चल कर शायद कोई विभाग मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला।"[१] इस सूक्ष्म दृष्टि के अवलोकन में मिश्र जी समर्थ रहे हैं। उन्होंने 'शृंगार' शब्द को व्यापक रूप में ग्रहण कर रीतिकाल, अलंकृतकाल, कलाकाल आदि के औचित्य को भी सार्थक कर दिया है। 'शृंगार' का बाह्यार्थ सजाना, सँवारना और आभ्यंतरार्थ 'रस' बोधक बताया। बाह्यार्थ में ही रीति, अलंकृति या कला की प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं।

इस काल से सम्बद्ध अनेक भ्रमों का उन्होंने निराकरण किया है। "भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त" उक्ति के आधार पर विद्वानों ने केशवदास को हृदयहीन,

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (वक्तव्य)—आचार्य शुक्ल, पृ० ५।

शुद्ध अलंकारवादी कवि घोषित किया। "यदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त" में आए 'सरस' शब्द के आधार पर उन्होंने उनमें रस दृष्टि का भी उल्लेख किया है। केशवदास ने 'रसिकप्रिया' की रचना भी की है। अधिकांश विद्वानों ने घनआनन्द, आनन्दघन और आनन्द तीनों नाम एक ही कवि के स्वीकार किये हैं पर उन्होंने इन तीनों को तीन कवियों के नाम बताकर उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति स्पष्ट की। देव द्वारा प्रयुक्त 'अभिधा उत्तम काव्य है' उक्ति का अर्थ मिश्र जी ने अन्य विद्वानों जैसा भ्रम में पड़कर 'अभिधा' की परम्परा के रूप में न ग्रहण कर नायिकाओं के पक्ष में लिया है।

उन्होंने अधिकांश कवियों की साहित्यिक विशेषता के साथ उनकी पारिवारिक परंपरा का भी उल्लेख किया है। उनकी समकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियाँ भी स्पष्ट की हैं जिससे कवियों की अनुभूतियों को सरलता से समझा जा सकता है। इस काल की रीतिमुक्त धारा के कवियों को उन्होंने अधिक महत्त्व दिया है, जिसके प्रतिनिधि कवि घनआनन्द हैं। वे किसी के सिद्धान्त का मूल्यांकन तटस्थ भाव से करने के पक्ष में हैं। उनका मत है कि 'किसी के मत का खंडन करके अपने मत का मण्डन करना, किसी स्वचिंतित सिद्धांत की स्थापना करना अहम् को प्रत्यक्ष लाना है।'[1] इस काल के संबन्ध में निर्णयस्वरूप उन्होंने कहा है कि 'हिन्दी साहित्य का शृंगारकाल मध्ययुग में उसका पूर्ण यौवन था। उसमें शृंगार की रसिकता ही नहीं थी रसिकता का शृंगार भी था।'[2] उनका हृदयपक्ष के साथ ही ज्ञानयक्ष भी सबल है उन्होंने काव्य में बुद्धिपक्ष की अपेक्षा हृदयपक्ष को अधिक महत्त्व दिया है। इसी कारण उत्तरमध्यकालीन रीतिकाव्य-धारा से रीतिमुक्त काव्यधारा को अधिक महत्त्व दिया है। रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर। पर स्वच्छंद काव्य की रानी है अनुभूति और उसकी दासी है बुद्धि।[3] अनुभूतिपूर्ण रचना बाह्य-सौंदर्यशून्य होने पर भी हृदय को आकृष्ट करती है, क्योंकि अनुभूति हृदय का ही उद्गार है।

आभ्यंतर प्रवृत्तियों के आधार पर उन्होंने आधुनिक काल को 'प्रेमकाल' की संज्ञा दी। साहित्य-जगत् ने इस नाम को स्वीकार तो नहीं किया, पर जिस व्यापक दृष्टि से इसका नामकरण किया गया है उसका खण्डन भी किसी ने नहीं किया। वर्तमान साहित्य की विविध प्रवृत्तियों एवं युग-चेतना के आधार पर प्रस्तुत किया गया यह नामकरण सर्वथा मौलिक एवं शोधपूर्ण है। हिन्दी साहित्य के अतीत जैसा क्रमबद्ध रूप में आधुनिककाल का इतिहास तो उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया, पर 'वाङ्मय-विमर्श', 'हिंदी का सामयिक

१-३. हिंदी साहित्य का अतीत (भाग २)—आचार्य मिश्र, पृ० ५६४-५६५,५९७,५६२।

साहित्य', 'हिंदी में नाट्य साहित्य का विकास' एवं प्रकीर्ण आलोचनात्मक निबंधों द्वारा यह कमी भी पूरी हो जाती है।

उनके हिंदी साहित्य के इतिहास में उनकी सैद्धान्तिक दृष्टि हिंदी साहित्य के प्रस्तुत अन्य इतिहासों से इसे पृथक् कर देती है। उन्होंने इसमें 'साहित्य' के स्वरूप', 'साहित्य की साधना', 'भारतीय आलोचना', 'काव्य-मीमांसा', 'मायारस', नायिकाभेद, अलंकार-मीमांसा, हिंदी के मध्यकालीन अलंकार-ग्रंथ आदि पर विचार किया है, जो उनकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि के परिचायक हैं।

हिंदी साहित्य-क्षेत्र में पाठ-संपादन का कार्य जितना मिश्र जी ने किया है उतना एक संस्था द्वारा भी किया जाना कठिन है। किसी व्यक्तिविशेष की बात ही क्या! पाठसंपादन का कार्य प्राचीन समय में भी किसी न किसी रूप में चलता आ रहा था। वर्तमान युग में पाठसंपादन की दो पद्धतियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं—'साहित्यिक पद्धति' और वैज्ञानिक पद्धति'। साहित्यिक पद्धति अर्थोन्मुखी होती है और वैज्ञानिक पद्धति शब्दोन्मुखी। साहित्यिक पद्धति के प्रतिनिधि संपादक लाला भगवानदीन 'दीन', आचार्य शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दरदास आदि रहे हैं एवम् वैज्ञानिक पद्धति के प्रतिनिधि संपादक डॉ० माताप्रसाद गुप्त। पाठ-संपादन का मुख्य कार्य कृति के मूल पाठ को ढूँढ़ निकालना अथवा उसके अधिक से अधिक निकट पहुँचना है जिससे निर्धारित पाठ का अर्थ भी ठीक-ठीक लग सके। साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों का सहयोग होता है। अतः आवश्यकता दोनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की है। तभी पाठ की ठीक-ठीक पकड़ एवं पहचान संभव है।

मिश्र जी की पाठ-संपादन संबन्धी आरंभिक दृष्टि उनके गुरुओं द्वारा स्थापित 'साहित्यिक पद्धति' की थी। उनके पाठ-संपादक जीवन का आरंभ लालाजी के साथ हुआ। उत्तरोत्तर उनकी दृष्टि वैज्ञानिक पद्धति से संपादन की ओर बढ़ती रही। पाठसंपादन की समन्वयात्मक पद्धति की पूर्ण प्रतिष्ठा उनके द्वारा संपादित 'रामचरित-मानस' में हुई है। अपनी पाठसंपादन शैली का उल्लेख उन्होंने भिखारीदास-ग्रन्थावली (भाग-२), केशव-ग्रन्थावली (भाग-३) और मानस की भूमिका में विस्तृत रूप से किया है।

हिंदी के पाठसंपादन में 'ग्राफपद्धति' का उपयोग बहुत कठिनाई से हो पाता है। संस्कृत के वर्ण वृत्तों का ग्राफपद्धति से पाठभेद सरल है। महाभारत के संपादन में सुकठणकर ने ग्राफपद्धति का सफल उपयोग किया। हिंदी में पाठभेद होने पर प्रायः पूरा परिवर्तन (विकार) हो जाता है। अतः 'ग्राफपद्धति' हिंदी में कठिनाई से ठीक उतरती है। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों के संपादन में संस्कृत ग्रंथों के संपादन के अनुभव सर्वत्र सहायक नहीं हो सकते। हिंदी की कुछ समस्याएँ संस्कृत से भिन्न हैं। फिर भी

उन्होंने 'ग्राफपद्धति के उपयोग का प्रयत्न किया है। उन्होंने पचास से अधिक ग्रंथों का संपादन किया है और इनमें लगभग आधे 'रीतिकाल' के ग्रंथ हैं। इनके द्वारा संपादित सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ 'रामचरितमानस' (काशिराज संस्करण) है। इस प्रकार मिश्र जी ने हिंदी पाठसंपादन को एक ऐसी पद्धति अर्पित की है जो भविष्य के लिए अनुकरणीय है।

उन्होंने पाठसंपादन के क्षेत्र में नयी एवं उपयुक्त संपादन पद्धति ही नहीं दी है, अपितु हिंदी-साहित्य के रीतिकालीन उस समस्त साहित्य का उद्धार भी किया है जो इनके जैसे व्यक्ति द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। रीतिकालीन साहित्य का जो अर्थ ही नहीं समझ सकता उससे इस प्रकार के कार्य के पूर्ण होने की आशा ही कैसे की जा सकती है ? लाला भगवानदीन जी ने इस काल की साहित्यिक गंभीरता एवं प्रौढ़ता को दृष्टिगत करके ही कहा था कि जिसे इस युग के 'रीतिकाव्य' का ज्ञान नहीं, वह हिंदी का साहित्यज्ञ नहीं।

पाठसम्पादन के साथ-साथ ही मिश्र जी ने रीतिकाल की कृतियों को बोधगम्य बनाने और इनके मूल्य-महत्त्व को समुचित रूप से उद्घाटित करने के लिए विस्तृत अनुसंधानपरक आलोचनात्मक भूमिकाएँ, चूर्णिकाएँ एवं पाठसम्पादन-सम्बन्धी अपेक्षित सामग्री भी प्रस्तुत की है। चूर्णिकाओं के अन्तर्गत कठिन शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। पाठसम्पादन-सम्बन्धी सामग्री के अन्तर्गत पाठान्तर-बढ़ोत्तरी आदि का उल्लेख किया गया है। टीकालेखन के सम्बन्ध में उनका कहना है कि प्राचीन कविता सरल और ग्राह्य हो सके—इसी दृष्टि से मैंने टीका-लेखन किया। टीका-लिखने की प्रेरणा उनको लाला भगवानदीन से मिली। जिस प्रकार उन्होंने 'मानस' का सम्पादन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण एक अन्य कार्य करने में वे इस समय संलग्न हैं, वह है 'रामचरितमानस' का 'मानसलहरी' के नाम से और सूरदास के पदों का 'सूरसागरमंथन' नाम से की जाने वाली साहित्यिक टीकाएं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पाठसम्पादन के क्षेत्र में ही नहीं, रीतिकाल के साहित्य और साहित्य के मूल्यांकन के क्षेत्र में भी उनकी अभूतपूर्व एवं अविस्मरणीय देन है।

निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में भी उनका कार्य महत्त्वपूर्ण है। उनके निबन्ध उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों के पूरक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उनके निबन्ध भी शुद्ध आलोचनात्मक हैं जिनमें उनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियाँ प्रत्यक्ष हुई हैं।

उनकी अभिव्यक्ति-शैली को सूत्रात्मक शैली कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल की भाँति ही सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर उनको व्याख्या अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा करना उनकी भी विशेषता है। प्रसंग के प्रवाह में वह भी व्यंग्य करने में नहीं चूकते। कम से कम शब्दों के द्वारा अधिक-से-अधिक भावों को व्यक्त करना उनकी प्रमुख विशेषता है।

उनकी भाषा सुसंगठित एवं संस्कृत-गर्भ होती है जो यथास्थान हिन्दी में ग्राह्य विदेशी शब्दों को भी अन्तर्भूत करती चलती है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति-शैली एवं भाषा-शैली विषयानुसार होती है। गूढ़ार्थ विषयों के प्रतिपादन में उसका स्वरूप भी गम्भीरता लिए हुए रहता है।

निष्कर्षतः यही कह सकते हैं कि मिश्र जी की साहित्यशास्त्रीय दृष्टि समस्या को प्रस्तुत करने, उसका समाधान कर उसमें व्यवस्था लाने, भ्रामक स्थलों से भ्रम का निराकरण करने एवं सैद्धान्तिक मान्यताओं को स्पष्ट करने में सफल रही है। आलोचनात्मक उपलब्धियों के आधार पर वे हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में विशेष शाखा के प्रतिनिधि पद के अधिकारी हैं जिसके मूल में उनकी तटस्थ वृत्ति एवं आस्था है।



परिशिष्ट

[क] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की कृतियाँ

रचना	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष	कर्तृत्व का प्रकार
१. शीतलाष्टक		१९१८ ई०	कर्ता
२. सत्य हरिश्चन्द्र नाटक	साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी	१९-६ ई०	सम्पादक
३. सुदामाचरित	,, ,, ,,	१९२६ ई०	सम्पादक
४. विनय पत्रिका	,, ,, ,,	१९२८ ई०	सम्पादक
५. हिन्दी में नाटच साहित्य	,, ,, ,,	१९२८ ई०	लेखक
६. छत्रसालदशक	,, ,, ,,	१९२९ ई०	टीकाकार
७. शिवाबावनी	,, ,, ,,	१९२९ ई०	टीकाकार
८. तुलसीकोसं	नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस	१९३० ई०	संकलनकर्ता
९. काव्यांग कौमुदी (प्र० क०)	साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी	१९३० ई०	कर्ता
१०. काव्यांग कौमुदी (द्वि० कला)	नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी	१९३१ ई०	कर्ता
११. कवित्तावली	साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी	१९२१ ई०	सम्पादक
१२. सत्य हरिश्चन्द्र नाटक (ल० सं०)	नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी	१९३१ ई०	सम्पादक
१३. भूषण-ग्रन्थावली	साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी	१९३१ ई०	सम्पा०-आलो०
१४. गीतावली गुंजन	विद्याभास्कर बुक डिपो, वाराणसी	१९३३ ई०	संकलकर्ता
१५. भाषाभूषण (टीका)	,, ,, ,,	१९३३ ई०	टीकाकार
१६. अलंकार-मंजूषा	रामनारायणलाल, प्रयाग	१९३३ ई०	सम्पादक

रचना	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष	कर्तृत्व का प्रकार
१७. हमीर हठ	भारत जीवन प्रेस, वाराणसी	१८३३ ई०	सम्पादक
१८. काव्यांग-कौमुदी (तृ० क०)	नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी	१९३४ ई०	कर्ता
१९. गंगालहरी	श्रीरामरत्न पु० भवन, वाराणसी	१९३४ ई०	सम्पादक
२०. सफल जीवन	विद्यामन्दिर, वाराणसी	१९३४ ई०	सम्पादक
२१. बुद्ध मीमांसा	धर्मदत्त त्रिपाठी, बाँस फाटक, वाराणसी	१९३४ ई०	अनुवादक
२२. जगद्विनोद	श्रीरामरत्न पु० भवन, काशी	१९३४ ई०	सम्पादक
२३. पद्माकर पंचामृत	,, ,, ,,	१९३५ ई०	संपा०-आलो०
२४. टानिया	साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस	१९३५ ई०	अनुवादन
२५. बिहारी की वाग्विभूति	हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस	१९३६ ई०	लेखक
२६. गद्यमाधुरी	दि गैंगेज पब्लि० हाउस, इलाहाबाद	१९३६ ई०	संकलनकर्ता
२७. गद्यमंजरी	सरस्वती मंदिर, बनारस	१९३९ ई०	संकलनकर्ता
२८. संघर्ष	,, ,, ,,	१९४१ ई०	सम्पादक
२९. वीर विरुदावली	सा० सेवासदन, बनारस	१९४१ ई०	सम्पादक
३०. भ्रमरगीतसार	,, ,, ,,	१९४२ ई०	सम्पादक
३१. वाङ्मय-विमर्श	हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस	१९४२ ई०	लेखक
३२. सूरदास	सरस्वती मन्दिर, बनारस	१९४३ ई०	सम्पादक
३३. गद्य प्रकाशिका	विद्याभास्कर बुक डि०, बनारस	१९४३ ई०	संकलनकर्ता
३४. घनआनन्द कवित्त	सरस्वती मन्दिर, बनारस	१९४३ ई०	सम्पादक
३५. नागरी प्र० सभा का अर्द्धशती इतिहास	ना० प्र० सभा, काशी	१९४३ ई०	सम्पादक

रचना	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष	कर्तृत्व का प्रकार
३६. काव्यकला-निधि	भगवानदास केडिया, बनारस	१९४४ ई०	सम्पादक
३७. घनआनन्द और आनन्दघन	प्रसाद परिषद्, बनारस	१९४५ ई०	संपा०आलो०
३८. चिन्तामणि (भा० २)	सरस्वती मन्दिर, बनारस	१९४५ ई०	सम्पादक
३९. पाप-पुण्य	भाषा-भवन, वाराणसी	१९४८ ई०	सम्पादक
४०. स्वर्ग और पृथ्वी	,, ,, ,,	१९४९ ई०	सम्पादक
४१. रस-मीमांसा	ना० प्र० सभा०, काशी	१९४९ ई०	सम्पादक
४२. बिहारी	वाणी-वि० प्रका०, काशी	१९५० ई०	लेखक
४३. स्पन्दन	भाषा-भवन, वाराणसी	१९५० ई०	सम्पादक
४४. हिन्दी का सामयिक साहित्य	सरस्वती मन्दिर, बनारस	१९५२ ई०	लेखक
४५. घनआनन्द-ग्रंथावली	वाणी-वितान, वाराणसी	१९५२ ई०	संपा०आलो०
४६. रसखानि	,, ,, ,,	१९५३ ई०	संपा०आलो०
४७. भूषण	,, ,, ,,	१९५३ ई०	संपा०आलो०
४८. केशव-ग्रंथावली (खंड १)	हिन्दुस्तान अकादमी, इलाहाबाद	१९५४ ई०	पाठालोचक
४९. केशव-ग्रंथावली (खंड २)	,, ,,	१९५६ ई०	पाठालोचक
५०. भिखारीदास-ग्रथावली (खण्ड १)	ना० प्र० सभा, काशी	१९५६ ई०	पाठालोचक
५१. भिखारीदास-ग्रंथावली (खण्ड २)	,, ,, ,,	१९५७ ई०	पाठालोचक
५२. भाषा-भूषण (भाष्य)	वाणी-वितान, वाराणसी	१९५७ ई०	सम्पादक
५३. रसिकप्रिया (प्रियाप्रसाद तिलक)	कल्याणदास ब्रदर्स, वाराणसी	१९५८ ई०	टीकाकार
५४. राज-विलास	ना० प्र० सभा, काशी	१९५८ ई०	सम्पादक
५५. हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० १)	वाणी-वितान, वाराणसी	१९५८ ई०	लेखक
५६. हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का विवरण (१९४१–४३ ई०)	ना० प्र० सभा, काशी	१९५८ ई०	सम्पादक

रचना	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष	कर्तृत्व का प्रकार
५७. पद्माभरण	वाणी-वितान, वाराणसी	१९५८ ई०	सम्पादक
५८. पद्माकर-ग्रन्थावली	ना० प्र० सभा, काशी	१९५९ ई०	सम्पादक
५९. केशव-ग्रंथावली (खं० ३)	हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग	१९५९ ई०	पाठालोचक
६०. केशवदास (संक्षिप्त)	प्रसाद-परिषद्, वाराणसी	१९५९ ई०	संकलनकर्ता
६१. गंग-कवित्त	ना० प्र० सभा, काशी	१९६० ई०	सम्पादक
६२. प्रभुदेव वचनामृत	,, ,, ,,	१९६० ई०	सम्पादक
६३. सुदामाचरित (ल० सं०)	वाणी-वितान, वाराणसी	१९६० ई०	सम्पादक
६४. घनआनन्द-कवित्त (भाष्य)	,, ,, ,,	१९६० ई०	सम्पादक
६५. हिन्दी साहित्य का अतीत (भा० २)	वाणी-वितान, वाराणसी	१९६० ई०	लेखक
६६. रामचरितमानस	काशीराज न्यास, वाराणसी	१९६२ ई०	पाठालोचक
६७. रामचन्द्र शुक्ल	वाणी-वितान, वाराणसी	१९६२ ई०	सम्पादक
६८. गोसाइं तुलसीदास	,, ,, ,,	१९६३ ई०	लेखक
६९. नवज्योति (भा० ३)	विद्या मन्दिर, वाराणसी	१९६३ ई०	संकलनकर्ता
७०. नीलाकंठ उजले बोल	वाणो-वितान, वाराणसी	१९६३ ई०	लेखक
७१. आनन्दघन	हनुमान मन्दिर न्यास, काशी	१९७० ई०	सम्पादक
७२. जसवन्तसिंह-ग्रंथावली	ना० प्र० सभा, काशी	१९७२ ई०	सम्पादक
७३. ठाकुर	,, ,, ,,	१९७३ ई०	सम्पादक
७४. नरोत्तम	,, ,, ,,	१९७४ ई०	सम्पादक
७५. बोधा-ग्रंथावली	,, ,, ,,	१९७४ ई०	सम्पादक
७६. बिहारी-प्रकाश	लोकभारती प्रकाशन, प्रयाग	१९७६ ई०	भाष्यकार
७७. चिन्तामणि-मंजूसा	इंडियन प्रे० (प्रा० लि०), प्रयाग	१९७६ ई०	लेखक
७८. तुलसी की साधना	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद	१९७८ ई०	लेखक
७९. विद्यापति	सरस्वती मन्दिर, बनारस		सम्पादक

रचना	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष	कर्तृत्व का प्रकार
८०. प्रेमचक्र	साहि० सेवक कार्या०, बनारस		सम्पादक
८१. बेचारी माँ	,, ,, ,,		सम्पादक
८२. सवेरा	सरस्वती मन्दिर, बनारस		सम्पादक
८३. गर्जन	स० मं०, बनारस		सम्पादक
८४. मानस मीमांसा	अप्रकाशित		लेखक
८५. ग्वाल-ग्रन्थावली	,,		पाठालोचक
८६. देव-ग्रन्थावली	,,		पाठालोचक
८७. आलम	,,		पाठालोचक
८८. वाग्विलास	,,		पाठालोचक
८९. हनुमानबाहुक	,,		टीकाकार
९०. चन्द्रशेखर वाजपेयी ग्रंथा०	,,		पाठालोचक
९१. भीमसिंह	,,		अनुवादक
९२. सूरसागर	,,		टीकाकार
९३. प्रसाद	अ न्पमुद्रित		लेखक



[ख] सहायक ग्रन्थ-सूची

[अ] संस्कृत-ग्रन्थ

१. अग्निपुराण : व्यास—गुरुमण्डल, कलकत्ता, १९५७ ई० ।

२. अमरकोष (रामाश्रयी टीका सहित)—निर्णय सम्राट प्रेस, बम्बई, सन् १९२९ ।

३. औचित्य विचार चर्चा : क्षेमेंद्र—हिन्दी व्याख्याकर ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, सन् १९६४ ।

४. काव्य मीमांसा : राजशेखर—अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सं० २०२२ वि० ।

५. काव्यालंकार : भामह—वैलेस प्रिंटिंग हाउस, तन्जौर ।

६. काव्यालंकार : रुद्रट—हिन्दी टीका, रामदेव शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, सन् १९६३ ।

७. काव्यादर्श : दण्डी—हिन्दी व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा, वाराणसी, सं० २०१५ ।

८. काव्यानुशासन : वाग्भट (द्वितीय)—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९१५ ।

९. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०१ ।

१०. काव्यप्रकाश : मम्मट—हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल, वाराणसी ।

११. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन—हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी अनु-सन्धान परिषद्, वाराणसी, सन् १९५४ ।

१२. चन्द्रालोक : जयदेव—चौखम्बा सिरीज, वाराणसी, सन् १९३८ ।

१३. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन—हिन्दी व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, सन् १९५२ ।

१४. नाट्यशास्त्र : भरत मुनि—हिन्दी व्याख्याकार बटुकनाथ शर्मा, बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा सं० सि०, बनारस, सं० १९८५ ।

१५. प्रतापरुद्रयशोभूषण : विद्यानाथ—बम्बई संस्कृत सिरीज, सन् १९०९ ।

१६. रघुवंश : कालिदास—संपा० सोमनाथ सिग्द्याल, नेपाल अकदमी, संस्कृत विभाग, काठमाडौ, नेपाल, सं० २०१५ ।

१७. रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ—चन्द्रिका टीका (बदरीनाथ झा), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९५५ ।

१८. वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक—हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली, सन् १९५५।

१९. वाचस्पत्यम् : वृहत् संस्कृताभिधानम् (भा० ६, १४)—तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्भा संस्कृत सि० आ०, वाराणसी, सं० २०१८ वि०।

२०. शब्दकल्पद्रुम : हिन्दी संस्करण भाग ३, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

२१. सरस्वती कण्ठाभरण : भोज—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३४।

२२. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ—हिन्दी व्याख्या, डॉ० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा वि० भ०, वाराणसी, सं० २०२० वि०।

२३. संस्कृत : अंग्रेजी शब्दकोश—वी० एस० आप्टे, जैनेन्द्र प्रेस, देहली, सन् १९६३।

[ब] हिन्दी-ग्रन्थ

क--आचार्य मिश्र द्वारा रचित अथवा सम्पादित ग्रन्थ

१ कवित्तावली—रामनारायण लाल, वेनीप्रसाद, इलाहाबाद, सं० २०२० वि०।

२. केशव-ग्रन्थावली (ख० १)—हिन्दुस्तान अकादमी, इलाहाबाद, सन् १९५४।

३. केशव-ग्रन्थावली (खं० ३) हिन्दुस्तान अकादमी, इलाहाबाद, सन् १९५९।

४. गंगालहरी—ज्ञानगंगा प्रकाशन वाराणसी, सं० २०२० वि०।

५. गोसाईं तुलसीदास—वाणी-वितान प्रकाशन, सं० २०२२ वि०।

६. घनआनन्द-ग्रन्थावली—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २००९ वि०।

७. घनआनन्द-कवित्त—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०२९ वि०

८. चिन्तामणि (भा० २)—सरस्वती मन्दिर, काशी, सं० २००२।

९. चिन्तामणि-मंजूषा—इण्डियन प्रेस (प्रा० लि०) इलाहाबाद, सन् १९७६।

१०. छत्रसाल दशक—साहित्य सेवक कार्यालय, काशी, सं० १९८६ वि०।

११. तुलसी की साधना—लोक भारती प्र० इलाहाबाद, सन् १९७८।

१२. नवज्योति (भाग ३)—विद्यामन्दिर, वाराणसी, सन् १९६३।

१३. नीलाकंठ उजले बोल—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०२०।

१४. पद्माकर-ग्रन्थावली—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१६ वि०।

१५. पद्माकर-पंचामृत—श्री रामरत्न पुस्तक भवन, काशी, सं० १९९५ वि०।

१६. बिहारी—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०२२ वि०।

१७. बिहारी की वाग्विभूति—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०१९ वि०।

१८. भाषा-भूषण—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०१४ वि०।

१९. भूषण—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०१७ वि०।

२०. भिखारीदास-ग्रंथावली (भा० २)—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ वि० ।

२१. भ्रमरगीतसार—साहित्य सेवादन, वाराणसी, सन् १९७१ ।

२२. रस-मीमांसा—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००६ वि० ।

२३. रामचरितमानस—सर्वभारती काशीराज न्यास, वाराणसी, सन् १९६२ ।

२४. रसखानि—वाणो-वितान, वाराणसी, सं० २०१० वि० ।

२५. रसिकप्रिया (प्रियाप्रसाद तिलक)—कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, सं० २०१५ वि० ।

२६. विनय पत्रिका—रामनारायणलाल, इलाहाबाद, सं० २००६ वि० ।

२७. वाङ्मय-विमर्श—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०१४ वि० ।

२८. सुदामाचरित—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०१७ वि० ।

२९. सत्य हरिश्चन्द्र नाटक—सरस्वती मंदिर काशी, सन् १९५० ।

३०. हिंदी साहित्य का अतीत (प्र० भा०)—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०१५वि० ।

३१. हिंदी साहित्य का अतीत (द्वि० भा०)—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०२३ वि० ।

३२. हिंदी का सामयिक साहित्य—वाणी-वितान, वाराणसी, सं० २०२१ वि० ।

ख—अन्य सहायक ग्रन्थ

१. अशोक के फूल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली, सन् १९५० ।

२. अंग्रेजी साहित्य का इतिहास : हडसन—जगदीश विहारी मिश्र, हिंदी समिति, सूचना विभाग, यू० पी०, सन् १९६३ ।

३. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत—डॉ० एस० पी० खत्री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

४. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धांत—एस० पी० खत्री एवं शिवदान सिंह चौहान, राजकमल प्रकाशन; दिल्ली, सन् १९६४ ।

५. आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिंदी साहित्य—डॉ० शिवकरण सिंह, किताब महल, इलाहाबाद, सन् १९६७ ।

६. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : अभिनंदन ग्रंथ—प्र० सं० डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, प्रेम पुस्तक भंडार, दिल्ली, सन् १९७६ ।

७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—शिवनाथ, सरस्वती मन्दिर, बनारस सिटी, सं० २००० वि० ।

८. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, सं० २०१८ वि० ।

९. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्ति और साहित्य—दीनानाथ पाण्डेय, युगवाणी प्रकाशन, कानपुर ।

१०. आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धांत—डॉ० रामलाल सिंह, कर्मभूमि प्रकाशन मंदिर, वाराणसी, सं० २०१५ ।

११. आधुनिक हिंदी साहित्य : एक दृष्टि—डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त, आलोक प्रकाशन, बीकानेर, सन् १९५१ ।

१२. आलोचना और साहित्य—डॉ० इन्द्रनाथ मदान, नीलम प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६४ ।

१३. आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ—डॉ० नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सन् १९६४ ।

१४. आलोचना के सिद्धांत—शिवदान सिंह चौहान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६० ।

१५. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र : व्यक्तित्व एवम् कर्तृत्व—वी० रामकृष्ण रेड्डी, श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति (लघुशोध प्रबंध) ।

१६. काव्यशास्त्र की रूपरेखा—श्यामनंदन शास्त्री, भारती भवन, पटना, सन् १९६४ ई० ।

१७. कार्तिलता—संपा० बाबूराम सक्सेना, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९९ वि० ।

१८. काव्य-मनीषा—डॉ० भगीरथ मिश्र, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, सन् १९६९ ।

१९. काव्यशास्त्र—डॉ० भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, सन् १९५७।

२०. काव्यसरोज : श्रीपति—काशीनरेश पुस्तकालय, वाराणसी और स्वर्गीय ब्रजकिशोर मिश्र, लखनऊ के यहाँ से प्राप्त हस्तलिखित प्रति ।

२१. कविकुलकल्पतरु : चिंतामणि—नवलकिशोर यंत्रालय से सन् १८७५ में निकली पाषाण-मुद्रित प्रति ।

२२. काव्य के रूप—गुलाबराय, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सन् १९७० ।

२३. कबीर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९५३ ।

२४. काव्य और कला तथा अन्य निबंध—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, ली० प्र०, इलाहाबाद, सं० १९९६ वि० ।
२५. गद्य-पद्य--सुमित्रानंदन पंत, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५३ ।
२६. गंग-कवित्त--संपा०, बटेकृष्ण, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, सं० २०१७ वि० ।
२७. गोस्वामी तुलसीदास--आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९९ वि० ।
२८. चिन्तामणि (प्र० भा०)--आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस (प्रा० लि०) इलाहाबाद, सन् १९७१ ।
२९. चिन्तामणि, कुलपति और श्रीपति का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० रामकुँवर राय, सावित्री प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९७९ ।
३०. चित्ररेखा—संपा० शिवसहाय पाठक, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सं० १९९५ ।
३१. जायसी-ग्रंथावली—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० १९९२ वि० ।
३२. जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत—लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, सन् १९५० ।
३३. जयशंकर प्रसाद—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, भारती भंडार प्रेस, प्रयाग, सं० २०१५ ।
३४. ठाकुर—संपा० चन्द्रशेखर मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०३० ।
३५. त्रिशंकु—'अज्ञेय', सरस्वती प्रेस, बनारस, सन् १९४५ ।
३६. देव और बिहारी—पं० कृष्णबिहारी मिश्र, लखनऊ गंगा ग्रंथागार ।
३७. प्रबंध-प्रतिमा—निराला, सं० १९९७ वि० ।
३८. परिमल—निराला, सन् १९२३ ।
३९. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्र० (प्रा० लि०) दिल्ली, सन् १९६७ ।
४०. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त—लीलाधर गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५२ ।
४१. पाठ-सम्पादन के सिद्धान्त—कन्हैया सिंह—महामना प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६२ ।
४२. बिहारी और देव—लाला भगवानदीन, सं० १९८३ वि० ।
४३. बिहारी सतसई—पद्मसिंह शर्मा, ज्ञान भण्डार काशी, सं० १९७९ वि० ।
४४. भारतीय पाठालोचन की भूमिका—डॉ० एस० एम० कात्रे, अनु० डॉ० उदय नारायण तिवारी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ एकदमी, भोपाल सन् १९७१ ।

४५. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी, सं० २०२० ।
४६. भवानी विलास—देव, भारत जीवन प्रेस, वाराणसी ।
४७. भारतीय साहित्यशास्त्र (प्र० भा०)—बलदेव उपाध्याय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, सन् १९६३ ।
४८. मिश्रबन्धु-विनोद—मिश्रबन्धु, सं० १९९४ वि० ।
४९ रसज्ञ-रंजन—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—आगरा साहित्यरत्न भण्डार ।
५०. रसरहस्य : कुलपति—इण्डियन प्रेस, सं० १९५४ वि० ।
५१. रस-सिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल प० हा०, दिल्ली, सन् १९६४ ।
५२. रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, सन् १९४९ ।
५३. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५ वि० ।
५४. राजविलास—संपा० मोतीलाल मेनारिया, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५ ।
५५. रामचरित मानस का टीका साहित्य—डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे, सम्भावना प्रकाशन सुल्तानपुर, सन् १९७५ ।
५६. विवेचना—इलाचन्द्र जोशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००५ वि०
५७ वन-श्री—ठाकुर गुरु भक्त सिंह 'भक्त' सरस्वती मन्दिर, काशी, संस्करण १ ।
५८ विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल प० हाउस, दिल्ली, सन् १९५५ ।
५९. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, सं० १९९१ वि० ।
६०. विवेचनात्मक गद्य—महादेवी वर्मा, सं० १९९८ वि० ।
६१. शब्द रसायन : देव—सं० जानकीदास सिंह 'मनोज' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २००४ वि० ।
६२. शैली—पं० करुणापति त्रिपाठी साहित्य-ग्रन्थ-माला कार्यालय, काशी, सं० १९९८ वि० ।
६३. शैली और कौशल—पं० सीताराम चतुर्वेदी—हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, सं० २०१३ वि० ।
६४. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर—सम्पा० रामचन्द्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ वि० ।
६५. साहित्य—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनु० वंशीधर विद्यालंकार, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।
६६. संस्कृति और साहित्य—डॉ० रामविलास शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, सन् १९४९ ।

६७. सूर पंचरत्न—सम्पा० लाला भगवान 'दीन' तथा मोहनवल्लभ पन्त, रामनारायण-लाल प्र०, इलाहाबाद, सं० २०१६ वि० ।
६८. साहित्य : सर्जना—इलाचन्द्र जोशी, सन् १६४० ।
६९. संचारिणी—शान्तिप्रिय द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९३९ ।
७०. साहित्यालोचन—श्यामसुन्दर दास, इण्डियन प्रेस (प्रा० लि०) इलाहाबाद, सं० २०१४ वि० ।
७१. स्कन्दगुप्त—जयशंकर प्रसाद, भारती-भण्डार, लि० प्रे०, इलाहाबाद, सन् १६७२ ।
७२. सामयिकी—शान्तिप्रिय द्विवेदी, ज्ञानमण्डल, काशी ।
७३. हिन्दी साहित्यकोश (प्र० भा०)—सम्पा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, सं० २०१५ वि० ।
७४. हिंन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सन् १६६७ ।
७५. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भा० ६)—सम्पा० डॉ० नगेन्द्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१५ वि० ।
७६. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भा० १३)—सम्पा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२२ वि० ।
७७. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९९, सं० २०१५ वि० ।
७८. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भा० १४)—सम्पा० डॉ० हरवंश लाल शर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०२७ वि० ।
७९. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास—डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, साहित्य सदन, देहरादून, सन् १९५४ ।
८०. हिन्दी आलोचना के आधार स्तम्भ— सम्पा० डॉ० खण्डेलवाल और डॉ० गुप्त, राधाकृष्ण प्र०, दिल्ली, सन् १९६६ ।
८१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १६६१ ।
८२. हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९६२ ।
८३. हिन्दी के आलोचक— सम्पा० शचीरानी गुर्टू, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १६५५ ।
८४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, रामनारायण-लाल प्र०, इलाहाबाद, सन् १९३८ ।

८५. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् ११५५।

८६. हिन्दी की सैद्धांतिक समीक्षा—डॉ० रामाधार शर्मा, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, सन् १९६२।

८७. हिन्दी का गद्य साहित्य—डॉ० रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्र०, गोरखपुर, सन् १९५५।

८८. हिन्दी गद्य-मीमांसा—रमाकान्त त्रिपाठी सिटी बुक हाउस, कानपुर, सन् १९४९।

८९. हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९५०।

[ख] अंग्रेजी ग्रन्थ

१. क्रिटिकल स्टीडज इन महाभारत—वी० एस० सुकठणकर, मेमोरियल एडिशन कमिटी, पूना, १९४४ ई०।

२. दि मेकिंग आव लिटरेचर—आर० ए० स्काट जेम्स, मार्टिन सेलर एण्ड वर्वर्ज लि०, लन्दन, १९३६ ई०।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. आज (दैनिक पत्र)—ज्ञान मण्डल प्रा० लि०, वाराणसी २५-१२-७६।

२. आज ,, — ,, ,, ,, १६-६-७७।

३. आलोचना—वर्ष ३, अंक १, अक्टूबर १९५३, राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

४. आलोचना—वर्ष ७, अंक १, जनवरी, १९५९।

५. काव्य कुन्ज—भाग १९, अंक ३, मार्च १९२४।

६. ज्योति—भाग ३, जनवरी १९२३।

७. प्रज्ञा, लिमिटेड, वाल्यूम ११ (२), मार्च १९६६, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी।

८. वेंकटेश्वर समाचार (साप्ताहिक)—बम्बई, १६ नवम्बर १९५६।

९. राष्ट्रभाषा संदेश—भाग ११, अंक १२-१४, १ फरवरी १९७६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

१०. राष्ट्रभाषा सन्देश—भाग १२, अंक २४, १६ जून १९७७।
—भाग १३, अंक १, १ जुलाई १९७७।

११. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—२५-३१ जनवरी १९७६।

१२. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—७-१३ अगस्त १९७७।

१३. सम्भावना (शोध तन्त्र विशेषांक)—अंक ५-६, वर्ष ३, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, सम्पा० डॉ० समेश्वरलाल खण्डेलवाल।





